(७) 113254

॥ श्री ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

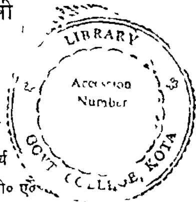
२६०

कालिदास-ग्रन्थावली

(महाकवि कालिदास की रचनाओं का सर्वांगपूर्ण संस्करण)

व्याख्याकार

पण्डित श्रीरामतेज शास्त्री



सम्पादक

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

साहित्य-आयुर्वेद-ज्यौतिष-आचार्य

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० एस-सी० ए०



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी



प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(प्राच्यभारती के प्रकाशक एव वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० न० ११२९

वाराणसी २२१००१

☎ ३३३४३१

प्रथम सस्करण १९९६ ई०

मूल्य ४००-००

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बैंगलो रोड

पो० बा० न० २११३

दिल्ली ११०००७

☎ २३६३९१



प्रमुख वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० न० १०६९

वाराणसी २२१००१

☎ ३२०४०४

कम्प्यूटर टाइप-सेटर्स

सरस्वती टाइप फाउण्ड्री, इलाहाबाद

मुद्रक

ए० के० लिथोग्राफर, दिल्ली

सम्पादकीय

कविकुलकमलदिवाकर, कविताकामिनीकान्त तथा सरस्वती के वरदपुत्र महाकवि कालिदास परमशैव थे। उनकी द्राक्षापाकशालिनी अमर कृतियाँ दिग्-दिगन्तों तक व्याप्त हैं। समय-समय पर इनकी कृतियों के देशी एव विदेशी भाषाओं में अनुवाद भी हुए हैं। जनसमाज दो प्रकार का होता है, एक गुणग्राही और दूसरा दोषदर्शी। इस प्रकार के लोगों की भी इनकी रचनाओं की ओर दृष्टि गयी, फलत इन लोगों ने इनके बारे में अपने-अपने चरित्र के अनुरूप बहुत कुछ लिख डाला, जिस पर आज का विद्वत्समाज विचार कर रहा है, अगला समाज भी विचार करता रहेगा। इस ओर जब आलोचकों की दृष्टि पड़ी तो उन्होंने अपने अज्ञान के कारण महाकवि की रचनाओं के बारे में अनेक प्रकार की छींटाकसी की है। हम यहाँ इस प्रकार के कतिपय स्थलों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं।

दोषदर्शन—यथा–'**त्रियम्बक सयमिन ददर्श**' (कुमार०) को इस पद्याश में 'त्र्यम्बक' पद के स्थान पर अपाणिनीय 'त्रियम्बक' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के अन्य अनेक प्रयोग इनके काव्य-नाटकों मे आये हैं, जिनका स्पष्ट रूप से उल्लेख हमने परिशिष्ट मे दिये गये '**कालिदास एवं अश्वघोष एक ऐतिहासिक गवेषणा**' शीर्षक निबन्ध में किया है। उसे आप ध्यान से पढ़ें। जिस महाकवि ने अनेक प्राचीन व्याकरणों को अपने जीवनकाल में आत्मसात् कर सरस्वती के भण्डार को भरने का सफल प्रयत्न किया हो वह किसी एक व्याकरणशास्त्र के नियमों पर कैसे निर्भर रह सकता है? भला आप ही विचारिए। वास्तव मे महाकवि के इस प्रकार के प्रयोग इनके कालनिर्णय में प्राचीनता के परिपोषक हैं।

आचार्य मम्मट ने कालिदास की कृतियों को आधार मानकर अपने '**काव्यप्रकाश**' मे जिन दोषों की चर्चा की है, उनका प्रतिवाद '**कालिदासीय कृतियों की निर्दोषता**' नामक एक लेख इसी ग्रन्थावली के आलोचनात्मक परिशिष्ट में प्रकाशित है, उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ें और मनन करें। मम्मट ने '**अविमृष्टविधेयाश दोष**' के लिए जिस '**न्यक्कारो**' इत्यादि पद्य को उद्धृत किया है, वह अपने में एक विचारणीय विषय है। क्या उक्त पद्य में सचमुच उक्त दोष है? विवेकशील एव निर्मत्सर विद्वान् इस पर विचार करें।

रचना-सम्बन्धी मतभेद—सुकृती महाकवि कालिदास की कृतियों के सम्बन्ध में विद्वानों में जो मतभेद है, तदनुसार कतिपय आलोचकों की मान्यता है कि 'ऋतुसहार' नामक खण्डकाव्य इनकी कृति नहीं है। इस मान्यता को दूर करने के लिए आप निम्नलिखित स्थलों पर दृष्टिपात करें। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटक के आरम्भ मे महाकवि ने जिस ग्रीष्म ऋतु के सन्ध्याकाल की इस प्रकार चर्चा की है—

'सुभगसलिलावगाहा पाटलससर्गिसुरभिवनवाता ।
प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसा परिणामरमणीया ' ॥ (शाकुन्तल)

उसी ग्रीष्म ऋतु के वर्णन को लेकर महाकवि ने उक्त 'ऋतुसहार' का प्रारम्भ इस प्रकार किया है। दोनों पद्यों के भावसाम्य पर दृष्टिपात करें—

'प्रचण्डसूर्य स्पृहणीयचन्द्रमा सदावगाहक्षतवारिसञ्चय ।
दिनान्तरम्योऽभ्युपशान्तमन्मथो निदाघकालोऽयमुपागत प्रिये' ॥ (ऋतु०)

इसके अनन्तर '**मधुरेण समापयेत्**' इस सरस परम्परा का अनुसरण करते हुए महाकवि ने उक्त खण्डकाव्य की परिसमाप्ति 'वसन्त-वर्णन' द्वारा की है, जो महाकवि की भावनाओं के सर्वथा अनुरूप प्रतीत होता है। इस अन्त साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि 'ऋतुमहार' भी इन्हीं की कृति है, क्योंकि ये निसर्ग कवि कहे जाते हैं।

मेघदूत—कुछ आधुनिक विद्वान् जिन्हें लक्षण-ग्रन्थों का ज्ञान नहीं है, वे कालिदास की कृति को 'गीतिकाव्य' मानते हैं, माना करें, हमें इस विषय में कुछ कहना नहीं है। खण्डकाव्य अथवा दूतकाव्य परम्परा में अनुपम '**मुरारेस्तृतीय पन्था**' का उज्ज्वल उदाहरण तथा '**निरङ्कुशा कवय**' इस सूक्ति का पूर्णरूपेण पोषक यह खण्डकाव्य विप्रलम्भ शृगार का अप्रतिम निदर्शन है। इसके अतिरिक्त भी प्रस्तुत खण्डकाव्य में भाव तथा विषय सम्बन्धी ऐसी अनेक विशेषताएं हैं जो अन्य दूतकाव्यों में सुलभ नहीं हैं। उन सबसे बढ़-चढ़कर महाकवि की यह सूझ-बूझ अत्यन्त प्रशसनीय एव मार्मिक है, जिसका अनुभव प्रत्येक विरही नर-नारी का हृदय करता है—

> 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागै शिलाया-
> मात्मान ते चरणपतित यावदिच्छामि कर्तुम् ।
> अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गम **नौ** कृतान्त ' ॥ (उत्तरमेघ)

उक्त पद्य में महाकवि ने एक-दूसरे से बिछुड़े हुए अतएव विरहविधुर उस यक्षदम्पति का '**नौ**' इस एक अक्षर से वर्णन किया है, जो तन से बिछुड़ जाने पर भी मन से तथा विचारों से सर्वथा अभिन्न थे। इस प्रयोग के लिए महाकवि की जितनी भी प्रशसा की जाय वह कम ही है। '**नौ**' के स्थान पर उसी अर्थ का वाचक '**आवयो**' पद उस अभिन्नता की अभिव्यञ्जना कदापि नहीं कर सकता, सहृदय विद्वान् इस तथ्य की ओर ध्यान दें। यह स्थल कालिदास के सूक्ष्मदर्शन, वर्णनचातुर्य एव विचार-गाम्भीर्य का स्फुट उद्घोषक है।

ग्रन्थावली-परम्परा—किसी महाकवि की सभी रचनाएँ एक स्थान पर पाठकवृन्द को उपलब्ध हो सकें, इसी पवित्र सकल्प से प्रेरित हो विद्वानों ने इस परम्परा का सूत्रपात किया। तदनन्तर यह रुचिकर एव उपयोगी परम्परा देखते-देखते उभर आयी। इसे हम उस-उस कवि के सुयश की जीवातु ही कहेंगे। इसी पवित्र परम्परा का यह अन्यतम सुवासित सुमनस्तबक '**कालिदास-ग्रन्थावली**' भी है।

सुप्रसिद्ध एव यशस्वी महाकवि कालिदास के ग्रन्थरत्नो की आवली (रत्नहार) से अपने कठ तथा वक्ष स्थल की सुषमा-वृद्धि कौन सरसहृदय व्यक्ति करना नहीं चाहेगा ? उक्त रत्नहार को पिरोना विद्वानों के लिए इसलिए अत्यन्त कठिन हो गया था कि कालिदास की कृतियों के सम्बन्ध में सुधीसमाज एकमत नहीं हो पाया था, क्योंकि समय-समय पर हुए अनेक कालिदास नामधारी विद्वान् उस सुप्रसिद्ध कविशेखर के प्राशुलभ्य सुयश को प्राप्त करने की इच्छा से कुछ-न-कुछ लिखते गये। उन सबका साहित्य परस्पर होड़ लगाता हुआ सामने आया। ऐसी विषम स्थिति में काव्यमर्मज्ञ विद्वानों ने अन्त साक्ष्यों के आधार पर जिन काव्य-नाटकों को इनकी अमर एव अनुपम कृति के रूप में सादर स्वीकार किया है, प्रस्तुत ग्रन्थावली मे उन्हीं कृतियों का सादर सग्रह किया गया है।

टीकाकारों के प्रमाद—महाकवि की कृतियों पर अनेक सुकृती विद्वानों ने समय-समय पर टीकाएँ लिखीं, किन्तु '**गच्छत स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादत**' प्रस्तुत उक्ति के अनुसार टीकाकारों से भी अनेक प्रकार के प्रमाद हुए हैं। प्रमाद होना मानव-स्वभावसुलभ धर्म है। बुद्धिगम्य न होने के कारण

मूल पाठों को बदल देना तथा अर्थ का अनर्थ कर देना आदि घोर अपराध हैं। इस प्रकार के प्रमादों को यथार्थ समझकर अन्धानुकरण-सम्प्रदाय के आचार्यों ने **'मक्षिकास्थाने मक्षिका'** की उक्ति को चरितार्थ किया है। इनके इन सहज अपराधों का दण्ड जिज्ञासु एव सुकुमार बुद्धि वाले पाठकों को भुगतना न पड़े इसलिए उदाहरणार्थ कतिपय भ्रामक अर्थयुक्त स्थल यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं, पाठक इस ओर ध्यान दें।

१ **'नूपुर'** शब्द का 'बिछुआ' अर्थ करके उसमे सम्बन्धित **'सिञ्जितानि'** की ओर टीकाकार ने ध्यान ही नहीं दिया, भला बिछुए में **'सिंजन'** गुण कैसे आ सकता है? २ **'घोषवृद्ध'** का अर्थ 'घोसीगाय' करके टीकाकार कृतार्थ हो गये, जब कि इसका अर्थ 'अहीरों के मुहल्ले में रहने वाले बूढ़े मनुष्य' होता है। ३. **'हैयङ्गवीन'** का अर्थ 'तुरत निकाला हुआ मक्खन' किया गया है, जब कि इसका अर्थ होता है 'कल गाय को दुहकर प्राप्त दूध को जमाकर दूसरे दिन उस दही को मथकर निकाला गया मक्खन'। ४ कुछ टीकाकारों ने अपनी टीका में **'अनिर्वाणस्य'** पद का अर्थ ही छोड़ दिया है, कारण क्या था? वे ही जानें। ५ **'विदूरभूमि'** का अर्थ 'विदूरपर्वत' किया है। आप देखें—**'विदूराञ्य'** सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि विदूरभूमि वह है, जहाँ वैदूर्यरत्न पाये जाते हैं। ६ **'वल्मीकाग्र'** शब्द का अर्थ मल्लिनाथ आदि सभी प्रसिद्ध प्राचीन एव अर्वाचीन टीकाकारों ने 'बांबी का अगला भाग' किया है, जो सहृदयजनसवेद्य नहीं है। इसका वास्तविक एव प्रमगोचित अर्थ आप हमारे द्वारा सम्पादित मेघदूत की टीका में यथास्थान देखें। ७ **'पाटल'** का एक अर्थ अमरसिंह ने अपने कोश में वर्ण-विशेष का बोधक लिखा है, किन्तु **'पाटलससर्गिसुरभिवनवाता'** में **'पाटल'** शब्द का अर्थ है—*इस नाम के वृक्ष के फूलों की सुगन्ध से सुगन्धित उद्यानपवन।* इस प्रकार के और भी अनेक स्थल हैं, जिनको ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, किन्तु उन सभी को परिमार्जित रूप प्रस्तुत ग्रन्थावली में देखने को मिलेगा।

इस प्रकार के टीकाकारों में विशेष रूप से मल्लिनाथ कृत व्याख्या के स्खलनों को दृष्टि में रखकर मेघदूत पर सुप्रसिद्ध विद्युल्लता नामक टीका के कर्ता **पूर्णसरस्वती** ने इस प्रकार का प्रचण्ड आक्षेप किया है। देखें—

'सुकविवचसि पाठानन्यथाकृत्य मोहाद्
रमगतिमवधूय प्रौढमर्थं विहाय।
विबुधवरसमाजे व्याक्रियाकामुकाना
गुरुकुलविमुखाना धृष्टतायै नमोऽस्तु॥'

पाठभेद—इस प्रसगोचित आक्षेप को ध्यान में रखकर पाठकों से एक निवेदन यह भी करना है कि आपके सामने कालिदास की कृतियों से सम्बन्धित अनेक प्रकार के पाठभेदों के सग्रह आयेंगे, उनमें से आपको यह विचार करना होगा कि इनमें से कौन-सा पाठ कालिदास का हो सकता है? किन्तु इस कार्य में सक्षम वे ही हो सकते हैं, जो सहृदय हों, काव्यरसमर्मज्ञ हों, वैदर्भीरीति मे सुपरिचित हों तथा जिन्होंने सरससाहित्यस्रोतस्विनी में बहुश अवगाहन किया हो। इनके विपरीत जिनका स्मरण भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में **'यदा किञ्चिज्ज्ञोऽह द्विप इव मदान्ध समभवम्'** इस प्रकार किया है, वे कदापि कथमपि इस विवेचन के अधिकारी नहीं हो सकते।

सम्पादकीय दृष्टिकोण—आचार्य प० रामतेज शास्त्रीजी अपने समय के विद्यानुरागियों में अन्यतम थे। आपके द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित 'कालिदास-ग्रन्थावली' में १ रघुवश, २ कुमारसम्भव, ३. मेघदूत

तथा ४ अभिज्ञानशाकुन्तल, इन्हीं चार ग्रन्थों का ही समावेश था। शेष काव्य-नाटकों का अनुवाद कराकर सुरभारती प्रतिष्ठान ने प्रस्तुत ग्रन्थावली का नये ढग से समुचित साज-सज्जा के साथ इस बार प्रकाशन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थावली की अधिकाधिक उपादेयता हो, इस दृष्टि से इससे सम्बन्धित जो-जो विषय अपेक्षित समझे गये उन-उन का समावेश यथामम्भव इसके परिशिष्ट भाग में कर दिया गया है। साथ ही इसके अन्त में पारिभाषिक शब्दकोष भी दे दिया गया है, जिसमें कालिदास की कृतियों में आये हुए व्यक्तियों, प्राणियों, वस्तुओं, नदियों, पर्वतों तथा भौगोलिक स्थानों के नामो का सन्दर्भ सहित उल्लेख प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है, जिसकी शब्दमख्या प्राय एक हजार है। परिशिष्ट के अन्त में **'कालिदासकालीन भारत का मानचित्र'** भी दे दिया गया है, जिसमें तत्कालीन भारत के स्थानों, देशों, पर्वतों तथा नदियों के सकेत दिये गये हैं। प्रत्येक नाटक के आरम्भ में सम्बन्धित पात्र-परिचय भी दिया गया है। हमारे इस प्रयास से पाठकवृन्द को सन्तोष का अनुभव हो, यही इसकी चरितार्थता है।

आभार—अन्त में उन सभी मनीषियों, टीकाकारों, महाकवि प० वसन्तत्र्यम्बक शेवडेजी तथा सहयोगियों के प्रति मैं सादर नतमस्तक हूँ, जिनके कारण प्रस्तुत ग्रन्थावली का सुचारु रूप से सम्पादन हो सका। इसके सम्पादन मे कालिदासीय कृतियों के विभिन्न मस्करणों के पर्यालोचन की आवश्यकता पड़ी, अत उन-उन सस्करणों के सम्पादकों का भी मैं आभारी हूँ। साथ ही अपनी विदुषी धर्मपत्नी का भी मुझे इस कार्य मे कायेन वाचा मनमा महान् सहयोग मिला, एतदर्थ मैं उनके उत्तम स्वास्थ्य एव दीर्घायुष्य की सदैव कामना करता हूँ। अपने चारों पुत्रों को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ, जिनकी तत्परता मे मुझे इसके सम्पादन में पर्याप्त सहायता मिली है।

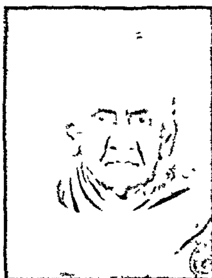
समर्पण—इस ग्रन्थावली का समर्पण भास, कालिदास तथा बिल्हण आदि के प्रतिस्पर्धी **महाकवि पण्डित वसन्तत्र्यम्बक शेवडेजी** को किया गया है, जिनका व्यक्तित्व एव कृतित्व आज के युग में अत्यन्त श्लाघनीय है, जो परममाहेश्वर हैं और जिनकी दृढ़ धारणा है— 'शरण तरुणेन्दुशेखर शरण मे गिरिराजकन्यका'।

धन्यवाद-ज्ञापन—चौखम्बा सुरभारती के अधिकारियों ने इस ग्रन्थावली को सँजोने-सँवारने में तन-मन-धन से जो तत्परता दिखलायी, उसी का सुपरिणाम् है कि ग्रन्थावली का यह अभिनव स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत है। आशा है यह सरस एव सहृदय पाठको के मानस को अनुरञ्जित करने में सफल होगी। भगवान् इनके उत्माहशक्ति की वृद्धि करे, जिससे ये भारतीय सस्कृत-वाङ्मय के अभ्युत्थान में सदैव इसी प्रकार प्रसरत्पद होते रहे।

विनीत

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

समर्पण



प्राच्य-पाश्चात्य उभयविध विद्याम्भोधिमन्थनसमुपलब्ध
प्रज्ञारत्नप्रभाभास्वर, विविध महाकाव्यो के रचयिता
अभिनव कालिदास, न्यायपञ्चानन, अप्रतिम-
वैयाकरण, शेवडेकुलकमलदिवाकर श्रद्धेय
पण्डित-प्रवर **वसन्तत्र्यम्बक** महोदय के
करकमलो मे **कालिदासग्रन्थावली**
रूपी सुवासित सुमन-स्तवक
सादर समर्पित।

समर्पक

डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

विषयानुक्रम

काव्य खण्ड

नाटक खण्ड

समीक्षात्मक निबन्ध

परिशिष्ट

प्रशस्ति-पद्य

पुरा कवीना गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा।
अद्याऽपि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव॥

(सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार)

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

(बाणभट्ट हर्षचरित)

अमृतेनेव ससिक्ताश्चन्दनेनेव चर्चिता।
चन्द्राशुभिरिवोद्घृष्टा कालिदासस्य सूक्तय॥

(जयन्त न्यायमञ्जरी)

अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघै।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी॥

(श्रीकृष्णकवि)

माहिष दधि, सशर्कर पय, कालिदासकविता, नव वय।
शारदेन्दुरबला च कोमला सम्भवन्तु मम जन्म जन्मनि॥

(उद्भट)

अनभ्रवृष्टि श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमि।
वैदर्भरीति कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभू पदानाम्॥

(सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार)

देवानामिदमामनन्ति मुनय कान्त क्रतु चाक्षुष
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्त द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरित नानारस दृश्यते
नाट्य भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येक समाराधनम्॥

(सुभाषितसुधारत्नभाण्डागार)

वासन्त कुसुम फलञ्च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यद्-
यच्चान्यन्मनसो रसायनमत सन्तर्पण मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूर्लोकयो-
रैश्वर्य यदि वाञ्छसि प्रियसखे! शाकुन्तल सेव्यताम्॥

(जर्मनकवि गेटे)



'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'

रघुवंशम्

॥ श्री ॥

रघुवंशम्

प्रथम सर्ग

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ १॥
क सूर्यप्रभवो वश क चाल्पविषया मति । तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ २॥
मन्द कवियश प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामन ॥ ३॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभि । मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गति ॥ ४॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् । आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥ ५॥
यथाविधिहुताग्नीना यथाकामार्चितार्थिनाम्। यथाऽपराधदण्डाना यथाकालप्रबोधिनाम्॥ ६॥
त्यागाय सम्भृतार्थाना सत्याय मितभाषिणाम्। यशसे विजिगीषूणा प्रजायै गृहमेधिनाम्॥ ७॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्। वार्द्धके मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ ८॥

जैसे वाणी और अर्थ अलग होते हुए भी एक ही कहलाते हैं, वैसे ही पार्वतीजी और शिवजी भी कहने को दो रूप हैं, परन्तु वस्तुत हैं वे एक ही। अत वाणी और अर्थ को ठीक मे समझने और उनका उचित उपयोग करने के लिए मैं ममार के माता-पिता पार्वती और शिवजी को प्रणाम करता हूँ, जो शब्द और अर्थ के ममान एकरूप हैं॥ १॥ कहाँ सूर्य से उत्पन्न वह तेजस्वी वश, जिसमें रघु और राम जैसे पराक्रमी राजा उत्पन्न हुए हैं और कहाँ स्वल्प बुद्धिवाला मैं। मुझे यह भलीभाँति ज्ञात है कि मैं रघुवश का पार नहीं पा सकता, फिर भी मूर्खतावश छोटी-सी नाव द्वारा अपार समुद्र को पार करने की इच्छा कर रहा हूँ॥ २॥ यद्यपि मैं निपट मूर्ख हूँ, परन्तु चाह यह है कि मैं बडे-बडे कवियों में गिना जाऊँ। यह सुनकर लोग अवश्य मेरी हँसी उड़ायेंगे, क्योंकि मेरी यह करनी ही ऐसी है, जैसे कोई बौना अपने नन्हें-नन्हे हाथों को उठाकर उन फलो को तोड़ना चाहे, जहाँ केवल लम्बे पुरुषों की ही पहुँच हो सकती है॥ ३॥ तथापि मुझे बहुत बडा भरोसा यह है कि वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों ने मूर्यवश पर सुन्दर काव्य लिखकर वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है। इसलिए उस द्वार से प्रवेश कर उस वश का फिर मे वर्णन करना मेरे लिए वैसा ही हो गया है, जैसे बिधे हुए मणि मे डोरा पिरोना सरल होता है॥ ४॥ जिनके चरित्र आद्योपान्त पवित्र रहे, जो किसी काम को उठाते थे तो उसे पूरा करके ही छोडते थे, जिनका राज्य समुद्र के इस पार से उस पार तक फैला हुआ था और जिनके रथ पृथ्वी से सीधे स्वर्ग तक आया-जाया करते थे॥ ५॥ जो शास्त्रानुसार यज्ञ करते थे, जो याचकों को अभिलषित वस्तु दान देते थे, जो अपराध के अनुमार अपराधियों को दण्ड देते थे और जो अवसर देखकर जगा करते थे॥ ६॥ जो त्याग करने के लिए धन जुटाते थे, सत्य की रक्षा के लिए बहुत कम बोलते थे, अपना यश बढाने के लिए ही दूसरे देशों को जीतते थे और भोग-विलास के लिए नहीं, अपितु मन्तान उत्पन्न करने के लिए विवाह करते थे॥ ७॥ जो बाल्यकाल में पढते थे, तरुणाई मे ससार के भोगों को भोगते थे, बुढापे में मुनियों के ममान जगलों मे रहकर तपस्या करते

रघूणामन्वय वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्। तद्गुणै कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदित ॥९॥
त सन्त श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतव । हेम्न सलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धि श्यामिकाऽपि वा॥
वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्। आसीन्महीक्षितामाद्य प्रणवश्छन्दसामिव॥ ११॥
तदन्वये शुद्धिमति प्रसूत शुद्धिमत्तर । दिलीप इति राजेन्दुरिन्दु क्षीरनिधाविव॥ १२॥
व्यूढोरस्को वृषस्कन्ध शालप्रांशुर्महाभुज । आत्मकर्मक्षम देह क्षात्रो धर्म इवाश्रित ॥ १३॥
सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना। स्थित सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥ १४॥
आकारसदृशप्रज्ञ प्रज्ञया सदृशागम । आगमै सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदय ॥ १५॥
भीमकान्तैर्नृपगुणै स बभूवोपजीविनाम्। अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णव ॥ १६॥
रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मन परम्। न व्यतीयु प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तय ॥ १७॥
प्रजानामेव भूत्यर्थ स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि ॥ १८॥

थे और अन्त मे योग द्वारा शरीर छोडते थे॥ ८॥ स्वल्प शब्दवैभव रखते हुए भी मैं मन्दमति उन प्रतापी रघुवशियों का वश-वर्णन करने को सन्नद्ध हूँ। क्योंकि रघुवशियों के ये गुण जब मेरे कान में पडे, तब इन्होंने ही मुझे यह काव्य लिखने की ढिठाई करने को बढ़ावा दिया॥ ९॥ इस काव्य को सुनने के अधिकारी वे ही सज्जन हैं, जिन्हे भले-बुरे की परख है। क्योंकि सोने का खरा या खोटापन आग मे डालने से ही जाना जा सकता है॥ १०॥ जैसे वेदों में सबसे पहले प्रणव (ॐ) आता है, वैसे ही राजाओ मे सबसे पहले सूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु हुए। उनका आदर बडे-बडे विद्वान् भी करते थे॥ ११॥ उन्हीं वैवस्वत मनु के उज्ज्वल वश में राजाओं मे चन्द्रमा के सदृश सबको सुख देने वाले तथा अत्यन्त शुद्ध चरित्रवान् राजा दिलीप ने वैसे ही जन्म लिया, जैसे क्षीरसागर मे चन्द्रमा जनमे थे॥ १२॥ उनकी चौडी छाती, साँड के सदृश ऊँचा कधा, शाल वृक्ष जैसी लबी भुजाएँ और उनका अपार तेज देखकर ऐसा लगता था कि मानो क्षत्रियों का धर्म (वीरत्व) उनके शरीर मे यह समझकर आ डटा है कि सज्जनो की रक्षा और दुर्जनो का नाश करने का काम इस शरीर से ही पूरा हो सकेगा॥ १३॥ जैसे सुमेरु पर्वत ने अपनी दृढता से ससार के सब दृढ पदार्थों को दबा दिया है, अपनी चमक से सब चमकीली वस्तुओ की चमक घटा दी है, अपनी ऊँचाई से सब ऊँची वस्तुओ को दबोच दिया है और अपने फैलाव से सारी पृथ्वी को ढँक लिया है, वैसे ही राजा दिलीप ने भी अपने बल, तेज और शरीर से सबको नीचा दिखलाकर सारी पृथ्वी को अपनी मुट्ठी मे कर लिया था॥ १४॥ उनका जैसा सुन्दर रूप था, वैसी ही उनकी प्रखर बुद्धि भी थी। जैसी तीखी बुद्धि थी, तदनुसार ही शीघ्रता से उन्होंने सब शास्त्र पढ डाले थे। इसलिए वे शास्त्र के अनुसार ही किसी काम में हाथ डालते थे। अतएव उन्हे वैसी ही बडी सफलता भी मिलती थी॥ १५॥ मगरमच्छों जैसे भयानक जल-जन्तुओ के डर से जिस तरह लोग समुद्र मे पैठने से डरते हैं, वैसे ही राजा दिलीप से भी उनके सेवक डरते थे। क्योंकि वे न्याय मे बडे कठोर होने के कारण किसी के साथ पक्षपात नहीं करते थे। किन्तु समुद्र के सुन्दर एव मनोहर रत्नों को पाने के लिए जैसे लोग समुद्र में पैठ ही जाते हैं, वैसे ही राजा दिलीप इतने दयालु, उदार और गुणी थे कि उनके सेवक उनकी कृपा पाने के लिए सदा उनका सहारा लिया करते थे॥ १६॥ जैसे कुशल सारथी रथ चलाता है तो रथ के पहिए बालभर भी लीक से बाहर नहा जाते, वैसे ही राजा दिलीप ने इतने अच्छे ढग से प्रजा का पालन किया था कि प्रजा का कोई भी व्यक्ति मनु के बतलाये हुए नियमों से हटकर बाहर चलने का साहस नहीं कर सकता था। सभी लोग वर्णों और आश्रमों के नियमों के अनुसार अपने धर्म पर दृढ रहते थे॥ १७॥ जैसे सूर्य अपनी किरणों से धरती का जितना जल सोखता है, उसका हजार गुना बरसा देता है। वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा से जितना कर लेते थे, वह सब प्रजा की भलाई में ही खर्च कर दिया करते थे॥ १८॥ जैसे अन्य राजाओं के पास बडी भारी सेना

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् । शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च । फलानुमेया प्रारम्भा संस्कारा प्राक्तना इव ॥ २० ॥
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुर । अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्त सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥
ज्ञाने मौन क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्यय । गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ २२ ॥
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्याना पारदृश्वन । तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्व जरसा विना ॥ २३ ॥
प्रजाना विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि । स पिता पितरस्तासा केवल जन्महेतव ॥ २४ ॥
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतु प्रसूतये । अप्यर्थकामौ तस्यास्ता धर्म एव मनीषिण ॥ २५ ॥
दुदोह गा स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् । सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ २६ ॥

रहती है, वैसे ही राजा दिलीप के पास भी बडी भारी सेना थी। किन्तु वह केवल शोभा के लिए ही थी, वे उससे कोई काम नहीं लेते थे। शास्त्रों का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था और धनुष चलाने में भी अद्वितीय थे। अतएव वे अपना सब काम अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और धनुष पर चढी हुई डोरी इन दोनों से ही निकाल लेते थे॥ १९ ॥ न तो वे अपने द्वारा विचारी हुई बात को किसी को बतलाते थे और न अपनी भावभगी से किसी को यह जताते थे कि वे क्या करने वाले हैं। जैसे इस जन्म मे किसी को सुखी या दु खी देखकर लोग यह समझ लेते हैं कि उसने पिछले जन्म मे अच्छे या बुरे कर्म किये थे, वैसे ही राजा दिलीप के मन की बात भी लोग तभी जान पाते थे, जब वह काम पूरा हो चुकता था, उससे पहले नहीं॥२०॥ वे निडर होकर आत्मरक्षा करते थे, बड़े धैर्य के साथ अपने धर्म का पालन करते थे, नि स्पृहभाव से धन इकट्ठा करते थे और अनासक्त भाव मे सासारिक सुखो को भोगते थे॥ २१ ॥ जो लोग लिख-पढ़ लेते हैं, वे अपनी विद्या का ढिंढोरा पीटते हैं। जो बलवान् होते हैं, वे दूसरों को सताने में अपनी बड़ाई समझते हैं। जो लोग दान देते हैं या किसी के लिए कुछ त्याग करते हैं तो यह चाहते हैं कि चारों ओर हमारा नाम हो। किन्तु राजा दिलीप मे ये बाते नहीं थी। वे सब कुछ जान करके भी चुप रहते थे, शत्रुओं से बदला लेने की शक्ति रहते हुए भी उन्हे क्षमा कर देते थे और दान देकर भी वे अपनी प्रशसा कराने की कामना नहीं करते थे। उनके इस लोकोत्तर व्यवहार को देखकर ऐसा लगता था कि चुप रहने, क्षमा करने और प्रशसा मे दूर भागने के गुण भी उनमे ज्ञान, शक्ति और त्याग के साथ ही साथ उपजे थे॥ २२ ॥ सासारिक भोगों को वे अपने पास नहीं फटकने देते थे। सारी विद्याओं को उन्होंने हृदयगम कर लिया था और वे अपना जीवन दिन-रात धर्म के कामो में ही लगाये रहते थे। छोटी अवस्था मे ही वे इतने चतुर हो गये थे कि बिना बुढ़ापा आये ही उनकी गिनती बड़े-बूढ़ों में होने लगी थी॥ २३ ॥ पिता जैसे अपने पुत्रो को बुरे कामों से रोकता है, अच्छे काम करने की सीख देता है, सब प्रकार से उनकी रक्षा करता है और उनको पाल-पोसकर बड़ा करता है, वैसे ही राजा दिलीप भी अपनी प्रजा को बुरे मार्ग पर जाने से रोकते थे, अच्छा काम करने को उत्साहित करते थे, विपत्तियों मे उनकी रक्षा करते थे और उनके लिए अन्न, वस्त्र, धन तथा शिक्षा का प्रबन्ध करके उनका पालन-पोषण करते थे। इस प्रकार वे ही अपनी प्रजा के सच्चे पिता थे। उनके वास्तविक पिता तो केवल जन्म देने के कारण थे॥ २४॥ अपराधी को दण्ड देना राजा का धर्म है, क्योंकि अपराधी को दण्ड दिये बिना राज्य ठहर नहीं सकता। अतएव वे अपराधियो को उचित दण्ड देते थे। वश चलाना भी मनुष्य का धर्म है। अतएव सन्तान उत्पन्न करके वश चलाने की इच्छा से ही उन्होने विवाह किया था, भोग-विलास के लिए नहीं। इस प्रकार यद्यपि दण्ड और विवाह वास्तव मे अर्थशास्त्र के विषय हैं, फिर भी उस विद्वान् राजा दिलीप के लिए वे अर्थ-काम धर्म ही थे॥ २५॥ राजा दिलीप प्रजा से जो कर लेते थे, वह इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ मे लगा देते थे। क्योंकि उनका यह विश्वास था कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न और पुष्ट होते हैं। इससे इन्द्र भी प्रसन्न होकर

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः । व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥
द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् । त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥
तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना । तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९ ॥
स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् । अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥
तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा । पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ ३१ ॥
कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि । तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥ ३२ ॥
तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः । विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥
सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता । तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥
अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया । तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमाश्रितौ । प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥
मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ । अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

आकाश को दुहते थे और जल बरसाते थे। जिससे खेत अन्न से भर जाते थे। इस प्रकार राजा दिलीप और इन्द्र एक-दूसरे की सहायता करके प्रजा का पालन करते थे॥ २६॥ राजा दिलीप के सिवाय और कोई भी राजा अपनी प्रजा की रक्षा करने में इतना यश नहीं कमा सका। क्योंकि सबके यहाँ कभी न कभी चोरी-डकैती हो ही जाती थी। परन्तु दिलीप का राज्य में ऐसा प्रभाव था कि चोरी का केवल नाम ही शेष रह गया था। उनके राज्य में कोई किसी का धन नहीं चुरा पाता था॥ २७॥ जैसे रोगी यह समझकर औषधि पी लेता है कि इससे मैं अच्छा हो जाऊँगा। वैसे ही राजा दिलीप उन बैरियों को भी अपना लेते थे, जो भले होते थे। जैसे साँप के काटने पर लोग अपनी उँगली भी काट डालते हैं, वैसे ही राजा दिलीप अपने उन सगे-सम्बन्धियों को भी राज्य से निकाल देते थे, जो दुष्ट होते थे॥ २८॥ ब्रह्माजी ने निश्चय ही महाराज दिलीप को पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँचो तत्त्वों से बनाया था। क्योंकि जैसे ये तत्त्व निरन्तर सारी सृष्टि की गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणों से सेवा करते हैं, वैसे ही राजा दिलीप के सब गुणों से केवल दूसरों का ही उपकार होता था॥ २९॥ जैसे कोई राजा किसी ऐसी नगरी पर शासन करे, जिसके चारों ओर परकोटा और खाई बनी हुई हो, वैसे ही दिलीप पूरी पृथ्वी पर एक नगरी की भाँति अकेले राज्य करते थे, जिसका परकोटा समुद्र का तट था और जिसकी खाई स्वयं समुद्र था॥ ३०॥ जैसे यज्ञ की पत्नी दक्षिणा है, वैसे ही मगधवंश में उत्पन्न सुदक्षिणा उनकी पत्नी थी, जो संसार में अपनी चतुरता के लिए विख्यात थी॥ ३१॥ वैसे तो राजा दिलीप की अनेक रानियाँ थीं, परन्तु वे यदि अपने को स्त्रीवाला समझते थे तो लक्ष्मी के समान मनस्विनी केवल अपनी पत्नी सुदक्षिणा से ही॥ ३२॥ उनकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी प्यारी पत्नी की कोख से मेरे जैसा पुत्र उत्पन्न हो, परन्तु दिन बीतते चले जा रहे थे और मन की साध पूरी नहीं हो रही थी॥ ३३॥ तब उन्होंने सोचा कि सन्तान उत्पन्न करने का कोई उपाय करना ही चाहिए। तदनुसार उन्होने पृथ्वी-पालन का सारा भार अपने कधों से उतार कर मन्त्रियो को दे दिया॥ ३४॥ राज्य की चिन्ता से मुक्त होकर पवित्र मन से राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा ने पुत्र की इच्छा करके पहले ब्रह्माजी की पूजा की, फिर वे दोनो पति-पत्नी वहाँ से अपने कुलगुरु वसिष्ठजी के आश्रम की ओर चल पडे॥ ३५॥ जिस रथ पर वे दोनो बैठे थे, वह मीठी-मीठी घनघनाहट करता चला जा रहा था। उस पर बैठे हुए वे दोनो ऐसे लगते थे, मानो वर्षा के बादल पर ऐरावत और बिजली चढे चले जा रहे हो॥ ३६॥ उस समय उन्होंने अपने साथ अधिक सेवक नहीं लिये थे। क्योंकि उन्हे ध्यान था कि बहुत भीड़-भाड साथ ले जाने से आश्रम के काम मे बाधा पडेगी, परन्तु उनका प्रताप और तेज इतना अधिक था कि जिससे ऐसा लगता था कि मानों उनके साथ बडी सेना चली जा रही हो॥ ३७॥ मार्ग में साल की गोंद की

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैं शालनिर्यासगन्धिभिः । पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥
मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः । षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥
परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु। मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् । सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥४१॥
पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः । रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥४२॥
सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् । आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम्॥
ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम्। अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥४४॥
हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्। नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥४५॥
काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः । हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥४६॥
तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः । अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥४७॥
स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः । सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥४८॥
वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः । पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥४९॥

गन्ध से सुवासित फूलों के रज-पराग को उड़ाता और वन के वृक्षों को धीरे-धीरे कँपाता हुआ पवन उनके शरीर को सुख देता हुआ उनकी सेवा करता था॥३८॥ राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा ने देखा कि रथ की गड़गड़ाहट सुनकर बहुत से मोर अपना मुँह ऊपर उठाकर दुहरे मनोहर षड्ज शब्द सुना रहे थे॥३९॥ कहीं उन्होंने देखा कि हिरणों के जोड़े मार्ग मे कुछ हटकर रथ को एकटक देख रहे हैं। उनकी सरस चितवन देखकर राजा दिलीप ने उन्हें सुदक्षिणा के नेत्रों के समान और सुदक्षिणा ने राजा दिलीप के नेत्रों के समान समझा॥४०॥ जब वे आँख उठाकर ऊपर देखते तो आकाश मे उड़ते हुए मीठे बोलने वाले बगुले भी उन्हें दिखलाई पड जाते थे, जो एक पाँत मे उड़ते हुए ऐसे दीखते थे कि मानो खम्भे के बिना ही आकाश में बन्दनवार टँगी हो॥४१॥ उस समय पवन भी अनुकूल चलकर यह संकेत दे रहा था कि उनके मन की इच्छाएँ अवश्य पूरी होंगी। वह ऐसी दिशा से चल रहा था कि घोड़ों के खुरों से उडी हुई धूल न रानी सुदक्षिणा के बालों को और न राजा दिलीप की पगड़ी को ही छू पाती थी॥४२॥ मार्ग मे जो सरोवर पडते थे, उनमे लहर की झकोरों मे जो कमलों की ठंडी सुगन्ध उड़ती थी, उसकी गन्ध लेते हुए वे चले जा रहे थे। वह सुगन्धित पवन उनकी साँस के समान ही सुवासित था॥४३॥ जो गाँव उन्होंने दान करके ब्राह्मणों को दिये थे और जिनमें स्थान-स्थान पर यज्ञ के खम्भे गड़े हुए थे, वहाँ के ब्राह्मणों ने पहले तो अर्घ्य भेंट करके उनकी पूजा की और फिर ऐसे आशीर्वाद दिये, जो कदापि निष्फल नहीं हो सकते थे॥४४॥ अहीरों के मुहल्ले के निवासी जो बडे-बूढ़े तुरत निकाला हुआ मक्खन लेकर उनको भेंट करने आये थे, उनसे राजा दिलीप और रानी मार्ग मे छाया के लिए लगाये गये वृक्षों का नाम पूछते जाते थे॥४५॥ चैत की पूर्णिमा को जैसे चित्रा नक्षत्र के साथ सुशोभित चन्द्रमा आँखों को अत्यन्त भला लगता है, वैसे ही मार्ग में जाते हुए शुभ्रवस्त्रधारी राजा दिलीप भी रानी सुदक्षिणा के साथ बडे सुन्दर लग रहे थे॥४६॥ चन्द्रमा के पुत्र बुध के सदृश सुरूप राजा दिलीप सुदक्षिणा को मार्ग की विविध वस्तुएँ दिखलाते चलते थे। अतएव उन्हें कुछ पता ही नहीं चला और बडा लम्बा रास्ता तै हो गया॥४७॥ साँझ होते-होते यशस्वी राजा दिलीप सुदक्षिणा के साथ संयमी महर्षि वसिष्ठजी के आश्रम के पास जा पहुँचे। उस समय उनके घोडे भी थक चुके थे॥४८॥ वहाँ पहुँचकर वे देखते क्या हैं कि मध्याकालीन अग्निहोत्र की अदृश्य अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए बहुत से तपस्वी हाथ मे समिधा, कुश और फल लिये हुए जंगलों से आश्रम को लौट रहे थे॥४९॥ बहुतेरे मृग आश्रम मे इधर-उधर पर्णकुटियों के द्वार रोके खडे थे, जो ऋषि-पत्नियों

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभि । अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगै ॥५०॥
सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् । विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥
आतपात्ययसङ्क्षिप्तनीवारासु निषादिभि । मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥५२॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् । पुनान पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभि ॥५३॥
अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति स । तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥५४॥
तस्मै सभ्या सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रिया । अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥५५॥
विधे सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् । अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥५६॥
तयोर्जगृहतु पादान् राजा राज्ञी च मागधी । तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतु ॥५७॥
तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् । पप्रच्छ कुशल राज्ये राज्याश्रममुनि मुनि ॥५८॥
अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुर पुर । अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदता वर ॥५९॥
उपपन्न ननु शिव सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे । दैवीना मानुषीणा च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥६०॥
तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभि । प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिद शरा ॥६१॥
हविरावर्जित होतस्त्वया विधिवदग्निषु । वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥६२॥

के बच्चों की भाँति तिन्नी के दानो को खाया करते थे॥५०॥ वृक्षो की जडो में पानी दे-देकर ऋषि-कन्याएँ वहाँ मे इसलिये हट गयी थीं कि जिससे आश्रम के पक्षी निडर होकर उन वृक्षो के थालो का जल पी सकें॥५१॥ धूप मे सुखाने के लिए जो तिन्नी का अन्न फैलाया हुआ था, वह दिन छिपते ही समेटकर कुटिया के आँगन मे ढेर लगा दिया गया था। उन आँगनों मे ही बहुत-से हरिण सुख मे बैठे हुए जुगाली कर रहे थे॥५२॥ हवन-सामग्री की गध से सुगन्धित अग्निहोत्र का धुआँ पवन के कारण चारों ओर फैल गया था और अब वह धुआँ आश्रम की ओर आते हुए अतिथियो को भी पवित्र कर रहा था॥५३॥ वहाँ पहुँचकर राजा दिलीप ने सारथी को आज्ञा दी कि 'घोड़ों को आराम करने दो'। उसके बाद सहारा देकर पहले उन्होंने पत्नी को रथ से उतारा और फिर स्वय उतरे॥५४॥ यह समाचार जब आश्रमवालों को मिला, तब वहाँ के सभासद एव सयमी मुनियो ने रक्षक, आदरणीय तथा नीतिशास्त्र के अनुसार चलने वाले सपत्नीक राजा दिलीप का ससम्मान स्वागत किया॥५५॥ जब सध्या की सब क्रियाएँ सम्पन्न हो चुकी, तब उन्होंने तपस्वी महामुनि वसिष्ठ को देखा। जिनके पीछे देवी अरुन्धतीजी उसी प्रकार बैठी थीं, जैसे अग्नि के पीछे स्वाहा विराजमान रहती है॥५६॥ राजा दिलीप और मगध की राजकुमारी सुदक्षिणा ने उन दोनों के चरण छूकर प्रणाम किया। तब गुरु वसिष्ठ और उनकी पत्नी अरुन्धती ने बडे प्यार से उन दोनों का आशीर्वाद आदि द्वारा अभिनन्दन किया॥५७॥ वसिष्ठजी ने उनका ऐसा आतिथ्य-सत्कार किया कि रथ की हचक से उन्हे जो थकावट हुई थी, सो सब दूर हो गयी। तब राज्याश्रम के मुनि दिलीप से तपोवन के मुनि ने पूछा कि आपके राज्य मे सब कुशल तो हैं?॥५८॥ राजा दिलीप जिस प्रकार अपनी वीरता से शत्रुओं के नगर जीतकर धनाधीश बने थे, वैसे ही वे बातचीत करने की कला मे भी बडे निपुण थे। इसलिए उन्होंने अथर्ववेद के ज्ञाता वसिष्ठजी के प्रश्न का अर्थभरी वाणी द्वारा उत्तर दिया।५९॥ आपकी कृपा से मेरे राज्य मे राजा, मन्त्री, मित्र, राजकोश, राज्य, दुर्ग और सेना—ये सातों अङ्ग सकुशल हैं। और फिर अग्नि, जल, महामारी, अकालमृत्यु आदि दैवी विपत्तियो तथा चोर, डाकू, शत्रु आदि मानुषी आपत्तियो को दूर करने वाले आप तो हैं ही॥६०॥ क्योंकि आप मन्त्रो के रचयिता हैं। आपके मन्त्र इतने शक्तिशाली है कि मुझे अपने बाण चलाने की आवश्यकता ही नहीं पडती। अपने बाणो से मैं केवल उन्हे ही बेध सकता हूँ, जो मेरे आगे आते हैं। किन्तु आपके मन्त्र तो दूर से ही शत्रुओ को नष्ट कर देते हैं॥६१॥ हे यज्ञकर्ता! शास्त्रीय विधि से आप जब अग्नि

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतय । यन्मदीया प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥
त्वयैव चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना । सानुबन्धा कथ न स्यु सम्पदो मे निरापद ॥ ६४ ॥
किन्तु वध्वा तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् । न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥
नून मत्त पर वश्या पिण्डविच्छेददर्शिन । न प्रकामभुज श्राद्धे स्वधासङ्ग्रहतत्परा ॥ ६६ ॥
मत्पर दुर्लभ मत्वा नूनमावर्जित मया । पय पूर्वं स्वनि श्वासै कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६७ ॥
सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलित । प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचल ॥
लोकान्तरसुख पुण्य तपोदानसमुद्भवम् । सन्तति शुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥
तया हीन विधातर्मा कथ पश्यन्न दूयसे । सिक्त स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥
असह्यपीड भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे । अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिन ॥ ७१ ॥
तस्मान्मुच्ये यथा तात! सविधातु तथाऽर्हसि । इक्ष्वाकूणा दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धय ॥
इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचन । क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रद ॥ ७३ ॥
सोऽपश्यत्प्रणिधानेन सन्तते स्तम्भकारणम् । भावितात्मा भुवो भर्तुरथैन प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

मे घी का हवन करते हैं तो आपकी आहुतियाँ अनावृष्टि मे सूखने हुए धान के खेतों पर जल बरसाने लगती हैं॥ ६२॥ यह आपके ब्रह्मतेज का ही तो बल है कि मेरी प्रजा में सब लोग कष्टरहित सौ बरस जीते हैं और किसी को बाढ़, सूखा, चूहा, टिड्डी, तोता, राज-कलह आदि किसी प्रकार की विपत्ति का डर नहीं रहता॥ ६३॥ जब साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र आप ही कुलगुरु होकर हमारे कल्याण की बात सोचते रहते हैं तो हमारी सम्पति निर्विघ्न क्यों न रहेगी ?॥ ६४॥ किन्तु हे देव! आपकी इतनी कृपा होते हुए भी जब आपकी पतोहू के गर्भ मे बहुत समय बाद भी मेरे समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ तो समस्त रत्नों को पैदा करने वाले और कई द्वीपों में फैली हुई अपने राज्य की यह पृथ्वी मुझे नहीं सोहाती॥ ६५॥ अब तो ऐसा लगता है कि मेरे बाद कोई हमें पिण्ड देने वाला भी नहीं रह जायगा। इसी दुख से हमारे पितर मेरे दिये हुए श्राद्धान्न को भरपेट न खाकर उसका अधिक भाग आगे के लिए संचित करने लग गये हैं॥ ६६॥ तर्पण के समय जब मैं जलदान देने लगता हूँ, तब मेरे पितर यह सोचकर दुख की साँसें लेने लगते हैं कि 'मेरे पीछे उन्हें जल भी नहीं मिलेगा' और वे उन उसाँसों से गुनगुने जल को ही पी लेते हैं॥ ६७॥ जैसे लोकालोक पर्वत एक ओर सूर्य का प्रकाश पड़ने से चमकता है और दूसरी ओर प्रकाश न पड़ने के कारण अँधियारा रहता है, उसी प्रकार सदा यज्ञ करने से मेरा चित्त प्रसन्न रहता है, किन्तु पुत्र न होने से सदा शोकाकुल भी रहा करता है॥ ६८॥ हे देव! तपस्या तथा दान से जो पुण्य मिलता है, वह केवल परलोक में सुख देता है। किन्तु अच्छी सन्तान सेवा-शुश्रूषा करके इस लोक में तो सुख देती ही है, तर्पण और पिण्डदान आदि के द्वारा वह परलोक मे भी सुख देती है॥ ६९॥ हे गुरुदेव! अपने हाथों प्रेम से सींचे हुए आश्रम के वृक्ष मे फल न लगता देखकर जैसे आपको दुख होता है वैसे ही जब मुझ कृपापात्र को सन्तानहीन देखते हैं तो आपको दुख क्यों नहीं होता ?॥ ७०॥ हे भगवन्! मेरे इस अन्तिम (पैतृक) ऋण को उस प्रकार कष्टदायक समझिये, जैसे बिना स्नान किया हुआ और खूँटे पर बँधा हाथी मर्मान्तक कष्ट का अनुभव करता है॥ ७१॥ अतएव हे प्रभो! अब कोई ऐसा उपाय कीजिये जिससे मेरे पुत्र-रत्न उत्पन्न हो और मैं पितृऋण से मुक्त हो जाऊँ। क्योंकि इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की सभी कठिनाइयाँ आपकी कृपा से सदा दूर होती आयी हैं॥ ७२॥ राजा की इस बात को सुनकर वसिष्ठजी ने नेत्र बन्द करके क्षण भर के लिए ध्यान लगाया। उस समय वे उस तडाग के समान निश्चल हो गये, जिसकी सब मछलियाँ सो गयी हो॥ ७३॥ वसिष्ठजी ने अपने योगबल से ध्यान द्वारा देखा कि इस राजा की सन्तानोत्पत्ति मे रुकावट क्यो आ गयी। उसके

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वी प्रति यास्यत । आसीत् कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभि पथि ॥ ७५ ॥
धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमा स्मरन्। प्रदक्षिणक्रियार्हाया तस्या त्व साधु नाचर ॥ ७६ ॥
अवजानासि मा यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वा शशाप सा ॥ ७७ ॥
स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुत । नदत्याकाशगङ्गाया स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥
ईप्सित तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मन । प्रतिबध्नाति हि श्रेय पूज्यपूजाव्यतिक्रम ॥ ७९ ॥
हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतस । भुजङ्गपिहितद्वार पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥
सुता तदीया सुरभे कृत्वा प्रतिनिधि शुचि । आराधय सपत्नीक प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥
इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्। अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥
ललाटोदयमाभुग्न पल्लवस्निग्धपाटला। बिभ्रती श्वेतरोमाङ्क सन्ध्येव शशिन नवम् ॥ ८३ ॥
भुव कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि। प्रस्रवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥
रज कणै खुरोद्धूतै स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात्। तीर्थाभिषेकजा शुद्धिमादधाना महीक्षित ॥ ८५ ॥
ता पुण्यदर्शना दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधि । याज्यमाशसितावन्ध्यप्रार्थन पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

बाद वे राजा को समझाने लगे॥ ७४॥ उन्होने कहा— हे राजन्! बहुत दिन हुए, जब एक बार तुम इन्द्र की सेवा करके स्वर्ग से पृथिवी को लौट रहे थे, तब मार्गवर्ती कल्पवृक्ष की छाया मे सुरभी (कामधेनु) बैठी हुई थी॥ ७५॥ तुम्हारी पत्नी ने उस समय रजस्वला होने के बाद चौथे दिन स्नान किया था, अत तुम सोच रहे थे कि यदि इस समय उसके साथ सम्भोग न करूँगा तो गृहस्थधर्म बिगड जायगा। इस धर्मलोप के भय से तुमने कामधेनु की ओर ध्यान नहीं दिया। यह तुमने ठीक नहीं किया, क्योंकि तुम्हें चाहिए था कि उस समय उसकी पूजा और प्रदक्षिणा करते॥ ७६॥ इसी से रुष्ट होकर कामधेनु ने तुम्हें शाप दे दिया कि 'तुमने जो मेरा तिरस्कार किया है, इसका दड यही है कि जब तक तुम मेरी सन्तान की सेवा नहीं करोगे, तब तक तुम्हे पुत्र नहीं प्राप्त होगा'॥ ७७॥ उस समय बड़े-बडे मतवाले दिग्गज आकाशगङ्गा में जलक्रीडा करते हुए चिग्घाड रहे थे और आकाशगङ्गा के प्रवाह का भी कोलाहल व्याप्त था। इसलिए उस शाप को न तो तुमने सुना और न तुम्हारा सारथी ही सुन सका॥ ७८॥ सो तुम्हारे पुत्र न होने का कारण उस कामधेनु का तिरस्कार ही है। क्योकि जो पुरुष अपने पूज्यों की पूजा नहीं करता, उसके शुभ कार्यों में विघ्न पडता ही है॥ ७९॥ किन्तु इस समय तो कामधेनु मिल नहीं सकती। क्योकि वरुणदेव पाताल मे एक बहुत बडा यज्ञ कर रहे हैं। उस यज्ञ मे आहुति की हवि जुटाने के लिए कामधेनु भी पाताललोक गयी हुई है। उस लोक के द्वारों की बड़े-बडे विषधर सर्प रखवाली कर रहे हैं॥ ८०॥ इसलिए तुम उसकी पुत्री नन्दिनी को ही उसकी प्रतिनिधि समझकर अपनी रानी के साथ शुद्ध मन से उसकी सेवा करो। यदि वह प्रसन्न हो जायगी तो तुम्हारी कामना पूर्ण कर देगी॥ ८१॥ वसिष्ठजी यह कह ही रहे थे कि उसके लिए घृत आदि हवनसामग्री जुटानेवाली सुन्दर नन्दिनी गाय वन से लौटकर आ पहुँची॥ ८२॥ उस नन्दिनी की देह नवपल्लव के समान कोमल और लाल थी। उसके माथे पर सफेद बालों की टेढी रेखा बनी थी। इससे वह ऐसी दीखती थी, जैसी लाल सन्ध्या के माथे पर नया (द्वितीया का) चन्द्रमा विद्यमान हो॥ ८३॥ अपना बछडा देखते ही उसके कुण्ड जैसे बड़े-बड़े थनों से गरम-गरम दूध निकलकर पृथ्वी पर टपकने लगा, जो यज्ञीय स्नान के जल से भी अधिक पुनीत था॥ ८४॥ नन्दिनी के आते समय उसके खुरों से उडी हुई धूल के लगने से राजा दिलीप वैसे ही पवित्र हो गये, जैसे किसी तीर्थ मे स्नान करके लौटे हो। शकुनशास्त्र के वेत्ता तपस्वी वसिष्ठजी ने जब उस गौ को देखा—जिसके दर्शन से ही पुण्य मिलता है, तब वे अपने यजमान राजा दिलीप से बोले, जो उस समय अपनी प्रार्थना सफल कराने के लिए वहाँ आये हुए थे॥ ८५-८६॥

अदूरवर्तिनीं सिद्धि राजन्विगणयात्मन । उपस्थितेय कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥
वन्यवृत्तिरिमा शश्वदात्मानुगमनेन गाम्। विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥
प्रस्थिताया प्रतिष्ठेथा स्थिताया स्थितिमाचरे । निषण्णाया निषीदास्या पीताम्भसि पिबेरप ॥
वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात्। प्रयता प्रातरन्वेतु साय प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥
इत्याप्रसादादस्यास्त्व परिचर्यापरो भव। अविघ्नमस्तु ते स्थेया पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥
तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रह । आदेश देशकालज्ञ शिष्य शासितुरानत ॥ ९२ ॥
अथ प्रदोषे दोषज्ञ सवेशाय विशाम्पतिम्। सूनु सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥
सत्यामपि तप सिद्धौ नियमापेक्षया मुनि । कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य सविधाम् ॥ ९४ ॥

निर्दिष्टा कुलपतिना स पर्णशालामध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीय ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसाना सविष्ट कुशशयने निशा निनाय

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये वसिष्ठा-
श्रमाभिगमनो नाम प्रथम सर्ग ॥ १ ॥

वे बोले— हे राजन्! तुम्हारा मनोरथ बहुत शीघ्र पूरा होगा। क्योंकि यह कल्याणमयी नन्दिनी नाम लेते ही आ पहुँची है ॥ ८७ ॥ विद्यार्थी जैसे अभ्यास से विद्या को प्राप्त करता है, वैसे ही तुम भी कन्द-मूल-फल खाते हुए इस गौ की सेवा करके इसको प्रसन्न करो ॥ ८८ ॥ जब यह चले तब तुम भी इसके पीछे-पीछे चलना, जब खड़ी हो जाय तब तुम भी खड़े हो जाना, जब बैठे तो तुम भी बैठ जाना और जब यह पानी पीने लगे तभी तुम भी पानी पीना ॥ ८९ ॥ तुम्हारी पत्नी सुदक्षिणा भी नित्य प्रात काल बड़ी भक्ति से इसकी पूजा करे और जब यह वन को जाने लगे, तब वह भी तपोवन के बाडे तक इसके पीछे-पीछे जाय और सायकाल को लौटते समय वहीं से अगवानी करके आश्रम लाये ॥ ९० ॥ इस प्रकार तब तक तुम इसकी सेवा करते रहो, जब तक यह गाय प्रसन्न न हो जाय। ईश्वर करे, तुम्हें कोई बाधा न हो और जैसे तुम अपने पिता के योग्य पुत्र हो, वैसे ही तुम्हे भी सुयोग्य पुत्र मिले ॥ ९१ ॥ तब बडी नम्रतापूर्वक उन्होंने वसिष्ठजी से कहा कि 'हम ऐसा ही करेगे'। यह कहकर उन्होंने और उनकी पत्नी ने गुरुजी से इस व्रत के लिए आज्ञा प्राप्त की ॥ ९२ ॥ विद्वान्, मृदुभाषी और ब्रह्मा के पुत्र वसिष्ठजी ने परम तेजस्वी राजा दिलीप को रात के समय सोने की आज्ञा दी ॥ ९३ ॥ यद्यपि वसिष्ठजी चाहते तो अपनी तपस्या के प्रभाव से राजा दिलीप के योग्य राजसी भोजन और शयन का उचित प्रबन्ध कर सकते थे, परन्तु व्रत के नियमों को जानने के कारण उन्होंने राजा के व्रत के योग्य वन्य कन्दमूल का भोजन और चटाई का ही प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥ कुलपति वसिष्ठजी ने जो पर्णकुटी बतलायी थी, उसी मे राजा दिलीप ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रानी सुदक्षिणा के साथ कुशा की चटाई पर सोये। प्रात काल वसिष्ठजी के शिष्यो ने जब वेदपाठ प्रारम्भ किया, तब उसकी ध्वनि सुनते ही वे उठ बैठे ॥ ९५ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में राजा दिलीप का वसिष्ठाश्रमगमन
नामक पहला सर्ग समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय सर्ग

अथ प्रजानामधिप प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सा यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच॥ १॥
तस्या खुरन्यासपवित्रपासुमपासुलाना धुरि कीर्तनीया।
मार्ग मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्॥ २॥
निवर्त्य राजा दयिता दयालुस्ता सौरभेयीं सुरभिर्यशोभि ।
पयोधरीभूतचतु समुद्रा जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्॥ ३॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्ग ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनो प्रसूति ॥ ४॥
आस्वादवद्भि कवलैस्तृणाना कण्डूयनैर्दशनिवारणैश्च।
अव्याहतै स्वैरगतै स तस्या सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्॥ ५॥
स्थित स्थितामुच्चलित प्रयाता निषेदुषीमासनबन्धधीर ।
जलाभिलाषी जलमाददाना छायेव ता भूपतिरन्वगच्छत्॥ ६॥
स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमिता दधान ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्र ॥ ७॥

दूसरे दिन सवेरे रानी सुदक्षिणा ने फूल-माला-चन्दन आदि से नन्दिनी की पूजा की। तदनन्तर जब नन्दिनी के बछडे ने दूध पी लिया, तब यशस्वी राजा दिलीप ने उसे बाँध दिया और ऋषि की गाय को जगल मे चराने को ले जाने के लिए खोला॥ १॥ नन्दिनी चली तो उसके खुरो से उडी हुई धूल मार्ग को पवित्र करने लगी। उस मार्ग पर नन्दिनी के पीछे-पीछे चलती हुई राजा दिलीप की धर्मपत्नी और पतिव्रताओं मे सर्वश्रेष्ठ रानी सुदक्षिणा ठीक वैसी ही लगती थी, जैसे श्रुति के पीछे-पीछे स्मृति चल रही हो॥ २॥ दयालु एव यशस्वी राजा दिलीप ने आश्रम के द्वार मे ही रानी सुदक्षिणा को लौटा दिया और स्वय नन्दिनी की रक्षा करने लगे। जो ऐसी लग रही थी, जैसे साक्षात् पृथ्वी ने ही गौ का रूप धारण कर लिया हो और जिसके चारों थन ही मानो पृथ्वी के चार समुद्र हों॥ ३॥ कुछ दूर जाकर राजा दिलीप ने सब नौकर-चाकरों को भी लौटा दिया। क्योंकि उन्होंने तो गौ की सेवा का व्रत ही ले लिया था। रही अपने शरीर की रक्षा की बात, सो उसके लिए उन्होंने किसी सेवक की आवश्यकता ही नहीं समझी। क्योंकि मनु के वश मे उत्पन्न राजा अपनी रक्षा स्वय कर लेता है॥ ४॥ राजा दिलीप बडी लगन से नन्दिनी की सेवा करने लगे। कभी वे स्वादिष्ट घास के ग्रास बनाकर अपने हाथों से खिलाते, कभी उसकी देह खुजलाते, कभी डाँस उडाते और वह जिधर भी जाना चाहती थी, उधर जाने देते थे॥ ५॥ जब वह खडी होती तो राजा भी खडे हो जाते और ज्यों ही वह चलने को पग बढाती, त्यों ही वे भी चल पडते थे। वह बैठती तो स्वय भी बैठ जाते और जब वह जल पीने की इच्छा करती, तब राजा भी जल पीते थे। इस प्रकार वे छाया के समान उसके पीछे-पीछे चल रहे थे॥ ६॥ जैसे किसी मतवाले हाथी के माथे से मद की धारा न बहती हो तो भी उसको देखते ही उसके तेज का अनुमान हो जाता है, ठीक यही हाल राजा दिलीप का भी था। यद्यपि उन्होंने गोसेवा-व्रत के कारण छत्र-चँवर आदि सब राजसी वेश छोड दिये थे, फिर भी उनके सुगठित शरीर और मुख के तेज को देखकर कोई भी कह सकता था कि ये सम्राट् हैं॥ ७॥ व्रती होने के कारण उनके

लताप्रतानोद्ग्रथितै स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥ ८ ॥
विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमा पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्द वयसा विरावै ॥ ९ ॥
मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभ तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन्बाललता प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्या ॥ १० ॥
धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्त करणैर्विशङ्कै ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णा प्रकामविस्तारफल हरिण्य ॥ ११ ॥
स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रै कूजद्भिरापादितवशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यश स्वमुच्चैरुद्गीयमान वनदेवताभि ॥ १२ ॥
पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूत पवन सिषेवे ॥ १३ ॥
शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धि ।
ऊन न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वन गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥
सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनु ॥ १५ ॥
ता देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपाल ।
बभौ च सा तेन सता मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥

सिर के बालों की लटें जगल की लताओं के समान उलझ गयी थीं। हाथ में धनुष लेकर जब वे जगल में घूमते थे, तब उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि मानो नन्दिनी की रक्षा के बहाने वे जगल के दुष्ट जीवों को शान्त रहने की शिक्षा दे रहे हैं॥८॥ आस-पास के वृक्षों पर अगणित मतवाले पक्षी चहक रहे थे। उनके कलरव को सुनकर ऐसा लगता था कि मानो मार्ग के वृक्ष वरुण जैसे तेजस्वी राजा दिलीप की जय-जयकार कर रहे हों। क्योंकि उनकी जय-जयकार करने वाला कोई भी सेवक उनके साथ नहीं था॥९॥ जिधर-जिधर वे जाते थे, उधर-उधर की लताएँ अग्नि के समान तेजस्वी और पूजनीय राजा दिलीप के ऊपर उसी प्रकार फूलों की वर्षा कर रही थीं, जिस प्रकार राजा के स्वागत मे नगर की कन्याएँ उनके ऊपर धान का लावा बरसाती थीं॥ १०॥ राजा दिलीप के हाथो मे धनुष देखकर के भी वन की हरिणियाँ नहीं डरीं। क्योकि वे उन्हे देखते ही समझ गयीं कि ये बड़े दयालु हैं। राजा दिलीप के सुन्दर शरीर को वे एकटक देखती रहीं। ऐसा करने मे मानो नेत्रों के बडे होने का उन्हें सच्चा फल प्राप्त हो गया॥ ११॥ राजा दिलीप सुन रहे थे और वन-देवियाँ वन की कुँजो में ऊँचे स्वर से उनका यश गा रही थीं। उस गीत के साथ वे बाँस भी बाँसुरी बजा रहे थे, जिनके छेदों मे वायु भर जाने के कारण बडे मधुर स्वर निकल रहे थे॥ १२॥ पहाड़ी झरनों की ठडी फुहारो से लदा और मन्द-मन्द कम्पित वृक्षों के फूलों की गन्ध से सुवासित वायु उन सदाचारी राजा दिलीप की सेवा करता था, जिन्हे छत्र के बिना धूप मे कष्ट हो रहा था॥ १३॥ प्रजापालक राजा दिलीप के जगल में प्रवेश करने पर वर्षा के विना ही वन की आग ठढी हो गयी। वहाँ के पेड फलों और फूलों से लद गये और बड़े जीवों ने छोटे जीवो को सताना त्याग दिया॥ १४॥ साँझ के समय नये पत्तों की ललाई के समान सूर्य की लाली चारों ओर फैलकर तथा सब दिशाओं को पवित्र करके विश्राम करने के लिए घर को लौट रही थीं। उधर लाल रग की नन्दिनी भी अपने खुरो के स्पर्श से मार्ग

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥ १७॥
आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्॥ १८॥
वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्॥ १९॥
पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या॥ २०॥
प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः॥ २१॥
वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत् सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरः फलानि॥ २२॥
गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्॥ २३॥
तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्॥ २४॥

को पवित्र करती हुई तपोवन की ओर लौट पड़ी॥ १५॥ पृथ्वी का पालन करने वाले राजा दिलीप भी वसिष्ठ ऋषि के यज्ञ, श्राद्ध एवं अतिथि-पूजा आदि धर्म के कामों के लिए दूध देनेवाली उस नन्दिनी के पीछे-पीछे चल रहे थे। उस समय वह गाय ऐसी सुन्दर लग रही थी, जैसे ब्रह्मा की पुत्री श्रद्धा के साथ सदाचार शोभित हो रहा हो॥ १६॥ राजा दिलीप यह देखते हुए चल रहे थे कि कहीं छोटे-छोटे तालाबों से सूअरों के झुंड निकल रहे हैं, कहीं मोर अपने बसेरों की ओर उड़े जा रहे हैं, कहीं हरिण थककर हरी घासों पर बैठे हुए हैं और साँझ होने के कारण धीरे-धीरे वन की सब धरती धुँधली होती जा रही है॥ १७॥ उस समय नन्दिनी और दिलीप दोनों धीरे-धीरे चल रहे थे। नन्दिनी अपने थन के बोझ से धीरे-धीरे चलती थी और राजा दिलीप भारी शरीर होने के कारण धीरे-धीरे चलते थे। इस प्रकार अपने मन्द-मन्द गमन से वे दोनों उस मार्ग को अलंकृत कर रहे थे॥ १८॥ राजा दिलीप जब सायंकाल के समय नन्दिनी के पीछे-पीछे लौटे, तब सुदक्षिणा अपलक नेत्रों से उन्हें इस प्रकार देखती रही, मानो उसकी आँखें बहुत दिनों से राजा दिलीप के रूप की प्यासी रही हों॥ १९॥ अब आश्रम के मार्ग में गाय के पीछे राजा दिलीप थे और आगे अगवानी के लिए रानी सुदक्षिणा खड़ी थीं। इन दोनों के बीच में वह लाल रंग की नन्दिनी ऐसी शोभा दे रही थी, जैसे दिन और रात के बीच में साँझ की लाली खड़ी हो॥ २०॥ पहले सुदक्षिणा ने हाथ में अक्षत-चन्दन आदि सामग्री लेकर नन्दिनी की पूजा और प्रदक्षिणा की। फिर प्रणाम करके उसके सींगों के बीच में चन्दन-अक्षत लगाया। मानो वे सींग नहीं, अपितु पुत्रकामना पूरी करने के द्वार थे॥ २१॥ यद्यपि नन्दिनी उस समय अपना बछड़ा देखने को बहुत उतावली थी, फिर भी वह रानी से पूजा पाने के लिए खड़ी हो गयी। नन्दिनी का यह प्रेम देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। क्योंकि नन्दिनी के समान मनोरथ पूर्ण करने वाले देवता यदि भक्त पर प्रसन्न हो जायँ तो काम पूरा हो गया ही समझना चाहिए॥ २२॥ अपने हाथों शत्रुओं के संहारक राजा दिलीप ने गाय की पूजा हो जाने पर पहले वसिष्ठ और अरुन्धतीजी के चरणों की वन्दना की और फिर अपने सायंकालीन नित्य कर्मों को समाप्त किया। जब नन्दिनी का दूध दुह लिया

इत्थ व्रत धारयत प्रजार्थं सम महिष्या महनीयकीर्ते ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥
अन्येद्युरात्मानुचरस्य भाव जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनु ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्प गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥
सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिह किल ता चकर्ष ॥ २७ ॥
तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्ता निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥
स पाटलाया गवि तस्थिवास धनुर्धर केसरिण ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्या लोध्रद्रुम सानुमत प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥
ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शर शरण्य ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारि ॥ ३० ॥
वामेतरस्तस्य कर प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलि सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥
बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भि ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्य ॥ ३२ ॥

गया और वह बैठ गयी, तब राजा दिलीप फिर उसकी सेवा करने लगे ॥ २३ ॥ इस प्रकार प्रजापालक राजा दिलीप पूजादीप सामने रखकर अपनी पत्नी के साथ बहुत देर तक नन्दिनी की सेवा करते रहे। जब वह सो गयी, तब वे दोनों भी सोने चले गये और ज्यों ही वह सोकर उठी, त्यों ही ये दोनों भी उठ गये ॥ २४ ॥ इस प्रकार अपनी पत्नी के साथ सन्तान-प्राप्ति के लिए वह कठोर व्रत पालन करते हुए दीनों के रक्षक तथा असाधारण यशस्वी राजा दिलीप के इक्कीस दिन बीत गये ॥ २५ ॥ राजा दिलीप जब बाईसवे दिन उसे वन में ले गये, तब नन्दिनी अपने सेवक राजा दिलीप की परीक्षा के लिए गौरी के पति हिमालय की उस गुफा मे घुस गयी, जिसमें गगाजी की धारा गिर रही थी और जिसके तट पर घनी हरी-हरी घास उगी हुई थी ॥ २६ ॥ महाराजा दिलीप ने भी उसे उधर जाने से नहीं रोका। क्योंकि उन्हे यह विश्वास था कि कोई भी हिंसक जन्तु नन्दिनी पर आक्रमण करने की बात भी नहीं सोच सकता। इतने मे ही अचानक एक सिंह गाय को दबोच बैठा। उस समय राजा दिलीप पर्वत की शोभा देख रहे थे। इसलिए उन्हें यह दिखलाई नहीं पड़ा कि उस पर सिंह ने कब आक्रमण किया ॥ २७ ॥ उस सिंह के आक्रमण से नन्दिनी चिल्लाने लगी और उसकी ध्वनि गुफा में गूँज उठी। राजा दिलीप की दृष्टि उस समय पर्वत की शोभा निहारने मे उलझी थी, परन्तु इस चीत्कार ने उनकी दृष्टि को उसी प्रकार खींच लिया जैसे किसी ने रस्सी से बाँधकर उन्हे खींचा हो ॥ २८ ॥ धनुषधारी राजा दिलीप ने देखा कि उस लाल गाय पर बैठा हुआ सिंह ऐसा लग रहा है कि जैसे गेरू के पहाडी की ढाल पर बहुतेरे पीले फूलोंवाला लोध का पेड फूला हुआ हो ॥ २९ ॥ उस समय सिंह के समान चलनेवाले, शरणागतरक्षक और बलपूर्वक शत्रुओं का सहार करने वाले राजा दिलीप ने समझा कि यह सिंह गाय को मारकर मेरा अपमान करना चाहता है। बस, तुरन्त उन्होंने उस सिंह को मारने के लिए तूणीर से बाण निकालने को हाथ बढ़ाया ॥ ३० ॥ ज्यो ही राजा दिलीप उस सिंह को मारने जा रहे थे उसी समय उनके दाहिने हाथ की उँगलियाँ नखों से चमकनेवाले बाणों के परों मे चिपक गई। उन्हें देखकर ऐसा लगा कि जैसे उनके बाण निकालने का प्रयत्न करने का किसी ने चित्र ले लिया

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३॥
अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य॥ ३४॥
कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्॥ ३५॥
अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६॥
कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७॥
तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८॥
तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव॥ ३९॥
स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति॥ ४०॥

हो॥ ३१॥ इस तरह हाथ बँध जाने से पास ही खड़े अपराधी पर प्रहार न कर सकने के कारण राजा दिलीप तमतमा उठे और अपने तेज से भीतर ही भीतर वैसे जलने लगे, जैसे मन्त्र और औषधि से बँधा हुआ साँप लाचार हो गया हो॥ ३२॥ सज्जनों के आदरणीय, मनुवंश के पताका स्वरूप और सिंह के समान पराक्रमी राजा दिलीप बड़े विस्मय में पड़े थे और जब वह सिंह मनुष्य की वाणी में बोलने लगा, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही नहीं रह गया॥ ३३॥ सिंह ने कहा— हे राजन्! तुम मुझे मारने का प्रयास मत करो। तुम मुझ पर जो भी अस्त्र चलाओगे, वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि वायु का जो वेग वृक्षों को जड से उखाड़ देने की शक्ति रखता है, वह पर्वत का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता॥ ३४॥ मैं कोई साधारण सिंह नहीं हूँ। मैं अष्टमूर्ति शंकरजी का कृपापात्र और उनका सेवक कुम्भोदर नामक गण और शिवजी के शक्तिशाली गण निकुम्भ का मित्र हूँ। शंकरजी जब कैलास पर्वत के समान अपने उजले नन्दी पर चढ़ते हैं, तब वे पहले अपने चरणों को रखकर मेरी पीठ पवित्र करते हैं॥ ३५॥ यह जो तुम्हारे सामने बड़ा-सा देवदारु का पेड दिख रहा है, इसे शंकरजी अपने पुत्र के समान मानते हैं। क्योंकि स्वयं पार्वतीजी ने अपने सोने के घडे जैसे स्तनों के दूध से सींच-सींचकर इसे पाला है॥ ३६॥ एक बार एक जंगली हाथी इसके तने में रगड़-रगड़ अपनी कनपटी खुजलाने लगा। उससे इसकी तनिक-सी छाल छिल गयी। इतने से ही पार्वतीजी को उतना ही शोक हुआ, जितना दैत्यों के बाणों से घायल कार्तिकेय को देखकर हुआ था॥ ३७॥ तभी से शंकरजी ने जंगली हाथियों को डराने के लिए मुझे यहाँ पहाड की इस कन्दरा में सिंह के रूप में रखवाला बनाकर बैठा दिया है और मेरा पेट भरने के लिए आज्ञा दे दी है कि यहाँ जो जीव आये, उसे तुम मारकर खा लिया करो॥ ३८॥ चन्द्रमा का अमृत जैसे राहु को मिलता है, वैसे ही शिवजी की कृपा से ठीक भोजन के समय पर मुझे अपना रक्त पिलाने के लिए यह गाय आ गयी है, जो मेरे आज के भोजन के लिए पर्याप्त है॥ ३९॥ अतएव अब तुम लाज छोडकर अपने घर लौट जाओ। तुमने अपनी गुरुभक्ति तो दिखला ही दी, किन्तु जब शस्त्र से *किसी वस्तु की रक्षा हो ही न सके तो इसमें शस्त्र धारण करने वाले का क्या दोष?* इससे उस शस्त्रधारी

इति प्रगल्भ पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञा शिथिलीचकार॥४१॥
प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्न ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्र मुमुक्षन्निव वज्रपाणि ॥४२॥
संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र! काम हास्य वचस्तद्यदह विवक्षु ।
अन्तर्गत प्राणभृता हि वेद सर्व भवान्भावमतोऽभिधास्ये॥४३॥
मान्य स मे स्थावरजङ्गमाना सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतु ।
गुरोरपीद धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्॥४४॥
स त्व मदीयेन शरीरवृत्ति देहेन निर्वर्तयितु प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यता धेनुरिय महर्षे ॥४५॥
अथान्धकार गिरिगह्वराणा दंष्ट्रामयूखै शकलानि कुर्वन्।
भूय स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपति बभाषे॥४६॥
एकातपत्र जगत प्रभुत्व नव वय कान्तमिद वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढ प्रतिभासि मे त्वम्॥४७॥
भूतानुकम्पा तव चेदिय गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुन शश्वदुपप्लवेभ्य प्रजा प्रजानाथ पितेव पासि॥४८॥
अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरो कृशानुप्रतिमाद्बिभेषि।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतु गा कोटिश स्पर्शयता घटोघ्नी ॥४९॥

की अकीर्ति नहीं होती॥४०॥ सिंह की ऐसी ढिठाई भरी बातें सुनकर जब राजा दिलीप को यह विश्वास हो गया कि 'शंकरजी के प्रभाव से ही मैं अस्त्र नहीं चला सका' तब उनकी आत्मग्लानि कुछ कम हो गयी॥४१॥ एक समय इन्द्र ने शिवजी पर वज्र तान दिया था। तब शिवजी ने उनकी ओर केवल देख भर दिया। बस, इतने ही से जैसे इन्द्र को काठ मार गया। आज वही दशा दिलीप की भी हुई। बाण चलाने में असमर्थ एवं हाथबँधे राजा दिलीप ने सिंह से कहा—॥४२॥ हे सिंह! हाथ बँध जाने के कारण मैं कुछ नहीं कर सकता। इसलिए जो कुछ भी मैं कहूँगा उसकी खिल्ली ही उडायी जायगी। फिर भी तुम सबके मन की बात जानते हो, इसीलिए मैं तुमसे कहता हूँ॥४३॥ जड-चेतन सभी प्राणियों के जन्मदाता, पालक, पोषक और संहारक शिवजी का मैं सम्मान करता हूँ, तथापि मैं अपने अग्निहोत्री गुरु के इस गौरूपी धन को अपनी आँखों के आगे नष्ट होते नहीं देख सकता॥४४॥ अतएव तुम मुझे ही खाकर अपनी भूख मिटा लो और महर्षि वसिष्ठ की इस गाय को छोड दो। क्योंकि इसका नन्हा-सा बछड़ा साँझ के समय इसकी राह देख रहा होगा॥४५॥ यह सुनकर शिवजी का सेवक सिंह गुफा के अँधेरे में अपने दाँत की चमक से उजाला करता हुआ तनिक हँसकर राजा से बोला—॥४६॥ हे राजन्! ऐसा लगता है कि तुममें यह सोचने की शक्ति भी नहीं रह गयी है कि तुम्हें क्या करना चाहिए। क्योंकि एक साधारण गाय के पीछे तुम इतना बडा एकछत्र राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोडने को उद्यत हो गये हो॥४७॥ प्राणियों पर दया करने के विचार से ही यदि तुम ऐसा कर रहे हो तो भी देह-त्याग उचित नहीं है। क्योंकि यदि तुम मेरे भोजन बन जाते हो तो केवल एक गाय की ही रक्षा होगी, परन्तु यदि जीते रहोगे तो पिता के समान तुम अपनी सारी प्रजा की रक्षा कर सकोगे॥४८॥ यदि एकमात्र इस गाय के स्वामी और अग्नि के समान तेजस्वी अपने गुरुजी से डरते हो तो घड़े जैसे बड़े-बड़े थनोंवाली करोड़ों गायें देकर तुम उन्हें राजी कर सकते हो॥४९॥ अभी तुम्हारे खेलने-खाने

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणा भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्ध हि राज्य पदमैन्द्रमाहु ॥५०॥
एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चै प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव॥५१॥
निशम्य देवानुचरस्य वाच मनुष्यदेव पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाण सुतरा दयालु ॥५२॥
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्र क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ ।
राज्येन कि तद्विपरीतवृत्ते प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥५३॥
कथ न शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूना सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृत त्वयाऽस्याम्॥५४॥
सेय स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितु भवत्त ।
न पारणा स्याद्विहता तवैव भवेदलुप्तश्च मुने क्रियार्थ ॥५५॥
भवानपीद परवानवैति महान्हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातु नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्य स्वयमक्षतेन॥५६॥
किमप्यहिस्यस्तव चेन्मतोऽह यश शरीरे भव मे दयालु ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधाना पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥५७॥
सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्त स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्व सम्बन्धिनो मे प्रणय विहन्तुम्॥५८॥

के दिन हैं। अत तुम अपने इस बलवान् शरीर की रक्षा करो। क्योकि विद्वानों का कथन है कि सुख और समृद्धि से सम्पन्न राज्य पृथ्वी पर ही स्वर्ग बन जाता है। उस स्वर्ग मे इस स्वर्ग मे अन्तर इतना ही है कि यह भूमि का और वह देवलोक का स्वर्ग होता है॥५०॥ राजा दिलीप से इतना कहकर सिंह जब चुप हो गया, तब पर्वत की कन्दरा से भी उसकी प्रतिध्वनि सुनायी पडी। इससे ऐसा लगा कि जैसे उस पर्वत ने भी प्रसन्न होकर सिंह की ही बातों को दुहरा दिया हो॥५१॥ उधर राजा ने सिंह की बाते सुनीं और इधर देखा कि सिंह के नीचे दबी हुई गाय कातर नेत्रों से निहार रही है। इससे अत्यन्त दयालु राजा दिलीप का जी भर आया और वे बोले॥५२॥ हे सिंह! क्षत्रिय शब्द का अर्थ ही यह होता है कि दूसरों को नष्ट होने से बचाया जाय। यदि मैंने यह नहीं किया तो मेरा राज्य करना और अपयश लेकर जीते रहना ही किस काम का होगा॥५३॥ तुम कहते हो कि इसके बदले दूसरी गायें देकर मैं महर्षि वसिष्ठजी को राजी कर लूँ, ऐसा नहीं हो सकता। तुम इस गाय को नहीं पहचानते। यह कामधेनु से किसी प्रकार कम नहीं है। आज शंकरजी के प्रभाव से ही तुमने इस पर आक्रमण किया है, नहीं तो तुम इसकी ओर देख भी नहीं सकते थे॥५४॥ अतएव मुझे अपना शरीर खो करके भी इसे छुड़ाना चाहिए। क्योकि ऐसा करने से तुम्हारी भूख भी मिट जायगी और गाय के न रहने से वसिष्ठजी की जो यज्ञ-क्रियाएँ रुक जातीं, वे भी न रुकेंगीं॥५५॥ देखो, तुम भी दूसरे के सेवक हो और बडी लगन से इस देवदारु की रक्षा कर रहे हो। तुम यह तो जानते ही हो कि जिसकी रक्षा का भार सेवक पर रहता है, यदि वह नष्ट हो जाय और सेवक के शरीर पर आँच भी न आये तो वह अपने स्वामी के आगे कैसे जायगा?॥५६॥ किसी कारण यदि तुम मेरे ऊपर दया करना चाहते हो तो मेरे यश शरीर की रक्षा करो। क्योंकि मेरे जैसे लोग पञ्चतत्त्व से बने नश्वर शरीर पर तनिक भी मोह नहीं करते॥५७॥ देखो, बातचीत से ही मित्रता प्रारम्भ होती है। सो इस जंगल में बातचीत

तथेति गामुक्तवते दिलीप सद्य प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहु ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य॥५९॥
तस्मिन्क्षणे पालयितु प्रजानामुत्पश्यत सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टि पपात विद्याधरहस्तमुक्ता॥६०॥
उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमान वचो निशम्योत्थितमुत्थित सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वा गामग्रत प्रस्रविणीं न सिंहम्॥६१॥
त विस्मित धेनुरुवाच साधो माया मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभु प्रहर्तु किमुतान्यहिंस्रा ॥६२॥
भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र वर वृणीष्व।
न केवलाना पयसा प्रसूतिमवेहि मा कामदुघा प्रसन्नाम्॥६३॥
तत समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्द ।
वशस्य कर्तारमनन्तकीर्ति सुदक्षिणाया तनय ययाचे॥६४॥
सन्तानकामाय तथेति काम राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पय पत्रपुटे मदीय पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश॥६५॥
वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मात ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तु षष्ठाशमुर्व्या इव रक्षिताया ॥६६॥
इत्थ क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षे प्रत्याययावाश्रममश्रमेण॥६७॥

चलाने के नाते अब हम दोनों मित्र हो गये हैं। अतएव हे शिव के सेवक! अपने इस नये मित्र की प्रार्थना न ठुकराना॥५८॥ सिंह ने कहा—अच्छी बात है। उसके ऐसा कहते ही तत्काल दिलीप का हाथ खुल गया और अपने अस्त्र फेंककर उन्होंने मासपिंड के समान अपने शरीर को सिंह के सामने सौंप दिया॥५९॥ नीचा मुँह करके राजा दिलीप जब सिंह के भीषण आक्रमण की प्रतीक्षा कर रहे थे उसी समय प्रजापालक राजा दिलीप के ऊपर आकाश से विद्याधरों के हाथों से फूलों की वर्षा होने लगी॥६०॥ उसी समय उन्हें अमृत के समान ये मीठे वचन सुनायी दिये— 'उठो बेटा! उठो। राजा दिलीप ने सिर उठाया तो देखते क्या हैं कि दूध चुआती हुई माता के समान नन्दिनी आगे खड़ी है और सिंह न जाने कहाँ चला गया है॥६१॥ राजा दिलीप विस्मयभरे नयनों से यह सब देख रहे थे। तभी नन्दिनी मनुष्य की वाणी में बोली—हे साधो! मैंने माया रचकर तुम्हारी परीक्षा ली थी। वसिष्ठ ऋषि के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार नहीं कर सकते, फिर अन्य हिंसक जीवों की तो बात ही क्या है॥६२॥ हे पुत्र! तुमने जो अपने गुरु में भक्ति और मुझ पर दया दिखलायी है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब जो चाहो, सो वर माँग लो। तुम मुझे केवल दूध देने वाली साधारण गाय मत समझना। मै यदि प्रसन्न हो जाऊँ तो मुझसे जो माँगा जाय, वह वर दे सकती हूँ॥६३॥ तब याचकों को मनचाहा दान देनेवाले और अपने पराक्रम से वीर कहलाने वाले राजा दिलीप ने हाथ जोड़कर यह वर माँगा कि 'मेरी प्यारी रानी सुदक्षिणा के गर्भ से ऐसा यशस्वी पुत्र उत्पन्न हो, जिससे सूर्यवंश बराबर बढ़ता जाय'॥६४॥ सन्तान चाहनेवाले राजा दिलीप से नन्दिनी ने प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारी इच्छा पूर्ण करूँगी और आज्ञा दी कि 'पुत्र! तुम एक दोने में मेरा दूध दुहकर पी लो'॥६५॥ राजा ने कहा—माता! मेरी यह इच्छा है कि बछड़े के पी लेने और हवन से बचने पर ऋषि की आज्ञानुसार मैं उसी प्रकार आपका दूध ग्रहण करूँगा, जैसे राज्य की रक्षा करके उसका षष्ठांश ग्रहण किया करता हूँ॥६६॥ राजा

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव॥ ६८॥
स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥ ६९॥
प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥ ७०॥
प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१॥
श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन॥ ७२॥
तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम्।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्॥ ७३॥
पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज॥ ७४॥

की यह बात सुनकर नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई और राजा दिलीप के साथ हिमालय की उस कन्दरा से अनायास वह आश्रम को लौटी॥ ६७॥ निर्मल चन्द्रमा के सदृश सुन्दर मुखवाले महाराजा दिलीप जब वसिष्ठजी के पास पहुँचे तो उनकी प्रसन्नता को देखकर वसिष्ठजी सब बातें पहले से ही समझ गये। *इसीलिए राजा ने जो समाचार सुनाया, वह उन्हें ऐसा लगा मानो बात दुहरा दी गयी हो।* तदनन्तर उन्होंने यह समाचार महारानी सुदक्षिणा को भी सुनाया॥ ६८॥ शाम को जब बछड़ा दूध पी चुका और हवन भी सम्पन्न हो गया, तब सज्जनों के प्रिय और प्रशंसनीय राजा दिलीप ने गुरु वसिष्ठ की आज्ञा से नन्दिनी के दूध को ऐसे पिया, मानो उन्हें बड़ी प्यास लगी हुई हो। उस समय ऐसा लगा कि जैसे उनका उजला यश ही दूध बनकर वहाँ चला आया था॥ ६९॥ दूसरे दिन सबेरे व्रत की पारणा हो जाने पर जितेन्द्रिय वसिष्ठजी ने राजा और रानी दोनों को आशीर्वाद दिया कि 'तुम्हारा मार्ग सुखमाध्य हो' और उन्हें राजधानी (अयोध्या) के लिए विदा कर दिया॥ ७०॥ वहाँ से चलते समय राजा ने अग्निसहित हवन-कुण्ड की, गुरु वसिष्ठ की, माता अरुन्धती की और बछड़े के साथ बैठी नन्दिनी की परिक्रमा की। महर्षि का आशीष पा लेने से उनका तेज और भी अधिक निखर उठा था॥ ७१॥ सहनशील राजा दिलीप अपनी धर्मपत्नी के साथ जिस रथ पर चढ़कर अयोध्या चले, उसकी ध्वनि कानों को बड़ी मीठी लग रही थी। वह रथ ऐसा अच्छा था कि उसमें नाम की भी हचक नहीं लगती थी। इसलिए उस पर सुखपूर्वक चढ़कर जाते हुए वे दोनों ऐसे लगते थे कि मानो अपने सफलमनोरथ पर ही बैठे हुए जा रहे हों॥ ७२॥ राजा को अयोध्या से गये बहुत दिन बीत चुके थे। अतएव प्रजा उनके दर्शन को तरस रही थी। पुत्र की उत्पत्ति के लिए उन्होंने जो व्रत किया था, उससे वे कुछ दुबले हो गये थे। अब बहुत दिनों पर लौटने से उनकी प्रजा उन्हें इस तरह देखने लगी, जैसे उदय होने पर लोग द्वितीया के चन्द्रमा को ध्यान से देखते हैं॥ ७३॥ इन्द्र के सदृश सम्पत्तिशाली राजा दिलीप ने प्रजा का आदर पाकर अयोध्या नगरी में प्रवेश किया। उनके स्वागत के लिए वहाँ स्थान-स्थान पर झंडियाँ फहरा रही थीं। तदनन्तर उन्होंने शेषनाग जैसी अपनी बलवती भुजाओं पर फिर राज-काज सँभाल लिया॥ ७४॥ अत्रि ऋषि के नेत्र से निकली हुई चन्द्रमारूपिणी ज्योति को जैसे आकाश ने धारण किया था और जैसे कार्तिकेय को उत्पन्न करने वाले शंकरजी के उस तेज को गंगाजी ने धारण किया था,

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये नन्दिनी-
वरप्रदानो नाम द्वितीय सर्ग ॥२॥

जिसे अग्नि भी नहीं संभाल सकी थी, वैसे ही रानी सुदक्षिणा ने राजा दिलीप का वंश चलाने के लिए आठों दिशाओं के लोकपालों के तेज से परिपूर्ण प्रतापी गर्भ को धारण किया॥७५॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में राजा दिलीप को नन्दिनी का
वरदान नामक दूसरा सर्ग समाप्त॥२॥

तृतीय सर्ग

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ॥ १॥
शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ २॥
तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥ ३॥
दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा॥ ४॥
न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः॥ ५॥
उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥ ६॥
क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा॥ ७॥
दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम्॥ ८॥

कुछ ही समय बाद रानी सुदक्षिणा के शरीर में उस गर्भ के ऐसे लक्षण दीखने लगे, जो राजा दिलीप की इच्छा पूरी होने का संकेत दे रहे थे। जिन्हें देखकर रानी की सखियों के नेत्रों को ऐसा सुख मिल रहा था कि मानो वे चाँदनी देखकर मगन हो रही हों और जो इस बात के प्रमाण थे कि अब इक्ष्वाकुवंश बराबर चलता रहेगा॥ १॥ गर्भिणी होने के कारण रानी दुबली हो गयी थीं। इसलिए उन्होंने अपने कितने ही गहने उतार डाले। उनका मुँह लोध के फूल जैसा पीला पड़ गया और वे पौ फटते समय की उस रात जैसी लगने लगीं, जब थोड़े से तारे बचे रहते हैं और चन्द्रमा पीला पड़ जाता है॥ २॥ गर्मी के अन्त में पहली वर्षा से जैसे जंगल के छोटे-छोटे तालों की मिट्टी सोंधी हो जाती है और हाथी उसे बार-बार सूँघते हैं, वैसे ही मिट्टी खाने से रानी सुदक्षिणा का भी मुँह सोंधा हो गया था। राजा दिलीप उसे एकान्त में बार-बार सूँघ करके भी तृप्त नहीं होते थे॥ ३॥ रानी होते हुए भी सुदक्षिणा ने सब पदार्थ छोड़कर मानो मिट्टी इसलिए खाना आरम्भ किया था कि जिससे भविष्य में उसका पुत्र भी सारी पृथ्वी पर वैसे ही राज करे, जैसे इन्द्र स्वर्ग पर राज करते हैं॥ ४॥ राजा दिलीप जानते थे कि सुदक्षिणा बड़ी लजीली होने के कारण अपनी इच्छा प्रकट नहीं करती। इसलिए वे बार-बार उसके पास रहनेवाली सखियों से पूछते रहते थे कि रानी कौन-कौन सी वस्तुओं को चाहती है॥ ५॥ गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को जब जिस वस्तु की इच्छा होती थी, वह उसी समय उसे मिल जाती थी। क्योंकि धनुर्धर राजा दिलीप को स्वर्ग की भी वस्तुएँ प्राप्य थीं, फिर इस लोक की वस्तुओं की तो बात ही क्या थी॥ ६॥ धीरे-धीरे गर्भ के प्रारंभिक कष्ट बीत गये, तब रानी वैसे ही हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर दीखने लगी, जैसे वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नये और कोमल पत्तों से लदी हुई लताएँ सुन्दर दीखने लगती हैं॥ ७॥ थोड़े ही दिनों बाद उसके बड़े-बड़े स्तनों की घुडियाँ तनिक काली पड़

निधानगर्भामिव सागराम्बरा शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्त सलिला सरस्वतीं नृप ससत्त्वा महिषीममन्यत॥ ९ ॥
प्रियानुरागस्य मन समुन्नतेर्भुजार्जिताना च दिगन्तसम्पदाम्।
यथाक्रम पुसवनादिका क्रिया धृतेश्च धीर सदृशीर्व्यधत्त स ॥ १० ॥
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्प्रयत्नमुक्तासनया गृहागत।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृप ॥ ११ ॥
कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि।
पति प्रतीत प्रसवोन्मुखीं प्रिया ददर्श काले दिवमभ्रितामिव॥ १२ ॥
ग्रहैस्तत पञ्चभिरुच्चसश्रयैरसूर्यगै सूचितभाग्यसम्पदम्।
असूत पुत्र समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्॥ १३ ॥
दिश प्रसेदुर्मरुतो ववु सुखा प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्व शुभशसि तत्क्षण भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥ १४ ॥
अरिष्टशय्या परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपा सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव॥ १५ ॥
जनाय शुद्धान्तचराय शसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्।
अदेयमासीत्त्रयमेव भूपते शशिप्रभ छत्रमुभे च चामरे॥ १६ ॥

गयीं। इससे रानी के स्तन ऐसे सुन्दर लगने लगे कि उनकी शोभा के समक्ष कमलयुगल पर बैठे हुए भौंरों की शोभा भी हार गयी॥ ८॥ राजा दिलीप गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को वैसी ही महत्त्वशालिनी समझने लगे, जैसे बहुमूल्य रत्नों से भरी तथा समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी, अपने भीतर अग्नि छुपाये शमीवृक्ष या भीतर ही भीतर जल बहाने वाली सरस्वती नदी होती है॥ ९॥ राजा दिलीप रानी को जितना प्यार करते थे, जितनी उन्हें प्रसन्नता थी और भुजबल से अर्जित जितना बड़ा उनका राज्य था, उतने ही ठाट-बाट से उन्होंने उसके पुसवन आदि सस्कार सम्पन्न किये॥ १०॥ धीरे-धीरे रानी सुदक्षिणा का वह गर्भ बढने लगा, जिसमें लोकपालों के अश विद्यमान थे। उसके भार से रानी को उठने-बैठने मे भी कठिनाई होने लगी। इसलिए जब राजा रनिवास मे आते थे, तब वे बडी कठिनाई से उनके स्वागत के लिए उठ पाती थीं। उनको प्रणाम करने लिए जब वे हाथ जोड़ती थीं तो हाथ ढीले पड़ जाते थे और थकावट से उनकी आँखे नाचने लगती थीं। यह सब देखकर राजा दिलीप बहुत प्रसन्न होते थे॥ ११ ॥ बच्चो की चिकित्सा करने में निपुण बहुत-से विश्वसनीय वैद्य उन सब उपायों को कर रहे थे, जिनसे गर्भिणी का गर्भ पुष्ट होता है। दसवे महीने मे राजा ने देखा तो शीघ्र ही पुत्र को जन्म देने वाली रानी ऐसी लग रही थी, जैसे बरसने वाले बादलों से घिरा आकाश हो॥ १२॥ जैसे कोई राजा अपने तेज, उत्साह और मन्त्रणाशक्ति से अचल सम्पत्ति पा लेता है, वैसे ही इन्द्राणी के समान तेजस्विनी सुदक्षिणा ने ठीक समय पर पुत्र उत्पन्न किया, जिसके सौभाग्यशाली होने की सूचना वे पाँच शुभ ग्रह दे रहे थे, जो उस समय सूर्य से दूर उच्च स्थान पर बैठे थे॥ १३॥ उस बालक के जन्म के समय दिशाएं प्रसन्न हो गयीं, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बहने लगी और अग्नि की लपटें दक्षिण की ओर से घूमकर हवन की सामग्रियाँ ले रही थीं। सभी अच्छे शकुन हो रहे थे और ऐसा होना उचित भी था, क्योंकि ऐसे बालक ससार के कल्याण के लिए ही जन्म लेते हैं॥ १४॥ उस भाग्यशाली बालक का तेज सौरीघर में चारों ओर ऐसा फैला हुआ था कि आधी रात के समय घर में रखे हुए दीपकों का प्रकाश भी एकाएक फीका पड़ गया और वे ऐसे लगने लगे मानो चित्र मे लिखे हों॥ १५॥ तत्काल

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्त पिबत सुताननम्।
महोदधे पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरु प्रहर्ष प्रबभूव नात्मनि॥ १७॥
स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भव प्रयुक्तसस्कार इवाधिक बभौ॥ १८॥
सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वना प्रमोदनृत्यै सह वारयोषिताम्।
न केवल सद्मनि मागधीपते पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि॥ १९॥
न सयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्य सुतजन्महर्षित ।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवल तदा पितृणा मुमुचे स बन्धनात्॥ २०॥
श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषा युधि चेति पार्थिव ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥ २१॥
पितु प्रयत्नात्स समग्रसम्पद शुभै शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा ॥ २२॥
उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ।
तथा नृप सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ॥ २३॥
रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धन बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयो परस्परस्योपरि पर्यचीयत॥ २४॥

अन्त पुर के सेवक ने जाकर राजा दिलीप को पुत्र होने का समाचार सुनाया। यह सुनकर वे इतने प्रसन्न हुए कि छत्र और दोनों चँवर ये तीन वस्तुएं तो वे नहीं दे सकते थे, क्योंकि वे राजचिह्न थे, शेष सब आभूषण उतारकर उन्होंने उसे दे दिये॥ १६॥ तत्पश्चात् वे तत्काल भीतर गये और जैसे वायु के रुक जाने पर कमल निश्चल हो जाता है, वैसे ही अपने स्थिर नयनों से पुत्र का मुँह देखने लगे। चन्द्रमा को देखकर जैसे महासमुद्र मे ज्वार आ जाता है, वैसे ही पुत्र को देखकर राजा को इतना अधिक आनन्द मिला कि वह उनके हृदय मे नहीं समा सका॥ १७॥ इस शुभ समाचार को पाकर तपोवन से आकर पुरोहित वसिष्ठजी ने स्वभावत सुन्दर उस बालक के जातकर्म आदि संस्कार किये। तदनन्तर वह बालक वैसा सुन्दर लगने लगा, जैसे खान से निकालकर खरादा हुआ हीरा सुन्दर लगता है॥ १८॥ उस बालक के जन्म लेने पर केवल राजा दिलीप के ही राजमहल में बाजो के साथ वेश्याओं के नाच आदि उत्सव नहीं हो रहे थे, अपितु स्वर्ग में देवताओं के यहाँ भी उत्सव मनाया जा रहा था॥ १९॥ राजकुमार का जन्म होने पर बन्दीगृहो से कैदी छोड़े जाते हैं, परन्तु राजा दिलीप के राज्य मे सुप्रबन्ध के कारण कोई बन्दी ही नहीं था कि जिसे वे पुत्र-जन्म की प्रसन्नता में छोडते। इसलिए पुत्र न होने से पितरों के ऋण के बन्धन मे आबद्ध स्वय को ही उन्होंने उस बन्धन से मुक्त मान लिया॥ २०॥ उन्होंने यह सोचकर उस बालक का नाम रघु रखा कि वह सम्पूर्ण शास्त्रों मे और युद्धक्षेत्र मे शत्रुओ के व्यूहों को तोड़कर उनके पार चला जायगा। 'रघु' शब्द सस्कृत के 'रघि' धातु से बनता है, जिसका अर्थ होता है—आगे बढना॥ २१॥ शुक्लपक्ष की प्रतिपदा का चन्द्रमा जैसे सूर्य की किरणे पाकर दिन-दिन बढ़ता है, वैसे ही बालक रघु के अग भी सम्पत्तिशाली पिता की देख-रेख मे दिन-दिन बढने लगे॥ २२॥ जैसे पुत्र कार्तिकेय को पाकर शकर-पार्वती और प्रतापी पुत्र जयन्त को पाकर इन्द्र और शची प्रसन्न हुए थे, वैसे ही राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा भी उन दोनो ही जैसे तेजस्वी पुत्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुए॥ २३॥ उन राजा और रानी मे चकवा-चकई के समान जो गाढ स्नेह था, वह अब उन दोनों का स्नेह यद्यपि एकमात्र पुत्र पर बँट गया था, फिर भी उनके पारस्परिक प्रेम में कमी नहीं आयी,

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥२५॥
तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥२६॥
अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम्।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥२७॥
स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥२८॥
अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम्।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥२९॥
धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥३०॥
त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥३१॥
महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥३२॥

अपितु वह दिन-दिन बढ़ता ही गया॥२४॥ जब बालक रघु कुछ बड़े हुए, तब धाय के सिखाने पर वे तोतली बोली बोलने लगे, उसकी उँगली पकड़कर चलने लगे और बड़ों को सिर झुकाकर प्रणाम करना भी सीख लिया। इस प्रकार उस बालक ने पिता को आनन्दित किया ॥२५॥ राजा जब उसे गोद में उठाते, तब उसके शरीर का स्पर्श करने से उन्हें ऐसा लगता था कि मानो उनके शरीर पर अमृत की फुहारें बरस रही हों। उस समय दोनों आँखें बन्द करके वे बड़ी देर तक इस आनन्द के रस का स्वाद लेते थे॥२६॥ जैसे प्रजापति ब्रह्मा ने अपने सतोगुण के अंश से विष्णु के प्रकट होने पर यह समझ लिया था कि अब हमारी सृष्टि अमर हो गयी। वैसे ही मर्यादापालक दिलीप ने भी यह समझ लिया कि रघु से हमारा सूर्यवंश स्थायी बना रहेगा॥२७॥ मुण्डनसंस्कार हो जाने पर रघु ने चंचल लटों से युक्त तथा समान आयु वाले मन्त्रिपुत्रों के साथ पहले वर्णमाला को लिखना-पढ़ना सीखा और उसके बाद इस तरह साहित्य का स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया, जैसे नदी मुहाने से वे समुद्र में प्रवेश कर गये हों॥२८॥ यज्ञोपवीत हो जाने पर रघु को विद्वान्, पण्डित-गण और भी सब विद्याएँ पढ़ाने लगे। इसमें गुरुओं को विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा, क्योंकि चतुर शिष्य को दी हुई शिक्षा बहुत शीघ्र सफल होती है॥२९॥ जैसे सूर्यनारायण अपने पवनवेग से दौड़ने वाले घोड़ों द्वारा थोड़े ही समय में चारों दिशाओं को पार कर लेते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् रघु ने अपनी तीव्र बुद्धि की सहायता से चार समुद्रों के समान विस्तृत आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति— इन चारों विद्याओं को शीघ्र सीख लिया॥३०॥ रुरु मृग का पवित्र चर्म पहनकर रघु ने मन्त्रयुक्त अस्त्रों की शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की। क्योंकि उनके पिता दिलीप केवल चक्रवर्ती राजा ही नहीं थे, अपितु अद्वितीय धनुर्धर भी थे॥३१॥ जैसे गाय का बछड़ा बड़ा होकर साँड़ और हाथी का बच्चा बढ़कर गजराज बन जाता है, वैसे ही जब रघु ने बचपन बिताकर युवावस्था में पदार्पण किया, तब उनका शरीर और भी खिल उठा॥३२॥ बाईसवें वर्ष में गोदान-संस्कार करके राजा दिलीप ने उनका विवाह भी कर दिया। जैसे दक्ष की अश्विनी आदि कन्याएँ चन्द्रमा जैसे पति को पाकर प्रसन्न हुई थीं, वैसे ही वे राजकुमारियाँ भी

अथास्य गोदानविधेरनन्तर विवाहदीक्षा निरवर्तयद् गुरु ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पति तमोनुद दक्षसुता इवाबभु ॥ ३३ ॥
युवा युगव्यायतबाहुरसल कपाटवक्षा परिणद्धकन्धर ।
वपु प्रकर्षादजयद् गुरु रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ ३४ ॥
तत प्रजाना चिरमात्मना धृता नितान्तगुर्वी लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥ ३५ ॥
नरेन्द्रमूलायतनादनन्तर तदास्पद श्रीर्युवराजसज्ञितम् ।
अगच्छदशेन गुणाभिलाषिणी नवावतार कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥
विभावसु सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरा सुदु सह कटप्रभेदेन करीव पार्थिव ॥ ३७ ॥
नियुज्य त होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धर राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपम शत क्रतूनामपविघ्नमाप स ॥ ३८ ॥
तत पर तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गल पुन ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणा जहार शक्र किल गूढविग्रह ॥ ३९ ॥
विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मित कुमारसैन्य सपदि स्थित च तत् ।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥
तदङ्गनि स्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृत सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दन ॥ ४१ ॥

रघु जैसे प्रतापशाली पति को पाकर बहुत प्रसन्न हुईं॥ ३३ ॥ रघु की भुजाएँ युवावस्था के कारण हल के जुए के समान दृढ और लम्बी हो गयीं, छाती चौडी हो गयी और कन्धे फैल गये। इस प्रकार डील-डौल बढ जाने पर रघु यद्यपि अपने बूढे पिता से ऊँचे और तगडे दिखलायी देते थे, फिर भी वे इतने विनम्र थे कि कभी भी अपना बड़प्पन नहीं प्रकट होने देते थे॥ ३४॥ जब राजा दिलीप ने देखा कि शिक्षा आदि सस्कारो से रघु सुशिक्षित हो गये हैं और राज्य भली-भाँति सँभाल सकते हैं, तब उन्होने गुरुतर राज्यभार हलका करने के विचार से रघु को युवराज बना दिया॥ ३५ ॥ जैसे सुन्दरता की देवी मुरझाये हुए कमल को छोडकर नये कमल पर चली जाती है, वैसे ही राज्यलक्ष्मी भी अब बूढे दिलीप को छोडकर धीरे-धीरे रघु के पास जा पहुँची॥ ३६ ॥ जैसे अपने सारथी वायु की सहायता से अग्नि, शरद् ऋतु के खुले आकाश को पाकर सूर्य और मद बहने के कारण हाथी प्रचड हो जाता है, वैसे ही प्रतापी रघु की सहायता से दिलीप इतने शक्तिशाली हो गये कि उनसे उनके शत्रु काँपने लगे॥ ३७॥ तदनन्तर इन्द्र के समान प्रभावशाली दिलीप ने यज्ञ के घोडे की रक्षा का भार रघु तथा अन्य धनुर्धर राजकुमारों को सौंपकर निन्यानबे अश्वमेध यज्ञ निर्विघ्न पूरे कर लिये॥ ३८॥ जब दिलीप ने सौवाँ यज्ञ करने के लिए घोडा छोडा तो इन्द्र ने धनुषधारी रक्षकों के देखते-देखते उन्होंने अलक्षित रूप से उस घोडे को चुरा लिया॥ ३९॥ घोडे की रक्षा करने वाली रघु की सेना ने जब देखा कि घोडा देखते-देखते अदृश्य हो गया, तब वे बहुत घबराये और उन्हें आश्चर्य भी हुआ। उसी समय वसिष्ठ ऋषि की प्रभावशालिनी गाय नन्दिनी घूमती-घामती वहाँ आ पहुँची॥ ४०॥ सज्जनों के पूज्य रघु ने तत्काल नन्दिनी के मूत्र को अपनी आँखों में लगाया। जिससे उन्हें उन सब वस्तुओं को देख सकने की शक्ति प्राप्त हो गयी, जो सामान्य इन्द्रियों से किसी को नहीं दीख सकती थी॥ ४१॥ इस प्रकार दिव्य दृष्टि प्राप्त करके रघु ने देखा कि पर्वतों के पख काटने वाले इन्द्र स्वय उस घोडे को चुरा ले जा रहे हैं।

स पूर्वत पर्वतपक्षशातन ददर्श देव नरदेवसम्भव ।
पुन पुन सूतनिषिद्धचापल हरन्तमश्व रथरश्मिसयतम् ॥ ४२ ॥
शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभि ।
अवोचदेन गगनस्पृशा रघु स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥
मखाशभाजा प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र ! सदा निगद्यसे।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरो क्रियाविघाताय कथ प्रवर्तसे ॥ ४४ ॥
त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा।
स चेत्स्वय कर्मसु धर्मचारिणा त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधि ॥ ४५ ॥
तदङ्गमग्र्य मघवन्महाक्रतोरमु तुरङ्ग प्रतिमोक्तुमर्हसि।
पथ श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥
इति प्रगल्भ रघुणा समीरित वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।
निवर्तयामास रथ सविस्मय प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥
यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा यशस्तु रक्ष्य परतो यशोधनै ।
जगत्प्रकाश तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितु ममोद्यत ॥ ४८ ॥
हरिर्यथैक पुरुषोत्तम स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापर ।
तथा विदुर्मां मुनय शतक्रतु द्वितीयगामी न हि शब्द एष न ॥ ४९ ॥
अतोऽयमश्व कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारित ।
अल प्रयत्नेन तवात्र मा निधा पद पदव्या सगरस्य सन्तते ॥ ५० ॥

वह घोड़ा भी उनके रथ के पीछे बँधा हुआ भागने का यत्न कर रहा था, जिसे इन्द्र का सारथी बार-बार सँभाल रहा था ॥ ४२ ॥ रघु ने टकटकी लगाकर देखा तो घोड़े को हरने वाले के शरीर पर सैकड़ो आँखें ही आँखे हैं। उन आँखों की पलकें नहीं गिरती थीं और उनके रथ के घोडे भी हरे-हरे थे। इससे रघु ने समझ लिया कि वे इन्द्र हैं। तब ऊँचे एव गम्भीर स्वर मे रघु इस प्रकार इन्द्र से बोले कि मानो उन्हे लौटने को ललकारते हों ॥ ४३ ॥ उन्होंने कहा—हे देवेन्द्र ! विद्वानों का कहना है कि यज्ञ का भाग सर्वप्रथम आपको ही मिलता है। मेरे पिताजी भी सदा यज्ञ करते हैं, फिर आप उसमे विघ्न क्यों डाल रहे हैं ॥ ४४ ॥ दिव्यदृष्टिसम्पन्न आपको तो यह चाहिए कि जो कोई यज्ञ मे विघ्न डाले, उसे आप स्वय दण्ड दें। क्योंकि आप तीनों लोकों के स्वामी हैं। जब स्वय आप ही यज्ञ में विघ्न डालने लगेंगे तब तो धर्म लुप्त ही हो जायगा ॥ ४५ ॥ अतएव हे इन्द्रदेव ! आप मेरे पिता के अश्वमेध महायज्ञ के लिए आवश्यक इस घोड़े को छोड दीजिए। आप तो वेद का मार्ग दिखलानेवाले महापुरुष हैं। ऐसा तुच्छ काम आप जैसों को शोभा नहीं देता ॥ ४६ ॥ रघु के अभिमान भरे इन वचनो को सुनकर देवेन्द्र को बहुत आश्चर्य हुआ और रथ घुमाकर उनकी बात का उत्तर देते हुए बोले ॥ ४७ ॥ हे राजकुमार ! तुम्हारा कथन यथार्थ है, किन्तु हम यशस्वियों का यह भी तो कर्त्तव्य है कि जो अपने से होड़ करे, उससे अपने यश की रक्षा करें। मैंने सौ यज्ञ करके जो यश पाया है, उसे तुम्हारा पिता मुझसे छीन लेना चाहते हैं ॥ ४८ ॥ जैसे पुरुषोत्तम केवल विष्णु और त्र्यम्बक केवल शङ्करजी ही हैं, वैसे ही मुनि लोग सौ यज्ञ करने वाला शतक्रतु केवल मुझे ही मानते आये हैं। जिन नामों मे हम लोग विख्यात हैं, उन नामों को दूसरे लोग नहीं रख सकते ॥ ४९ ॥ अतएव जैसे कपिल मुनि ने तुम्हारे पूर्वज सगर के घोड़े को हर लिया था, वैसे ही मैंने भी तुम्हारे पिता के इस घोड़े को हर लिया है। तुम इसे छुडाने का प्रयत्न मत करो। नहीं तो जैसे कपिल मुनि के क्रोध मे सगर के साठ सहस्र पुत्र भस्म हो गये थे, वैसे ही हमारे क्रोध से तुम भी जलकर भस्म हो जाओगे ॥ ५० ॥ यह सुना तो अश्व के रक्षक रघु ने हँसकर और निडर होकर इन्द्र से कहा— यदि आपका यही निश्चय हो तो शस्त्र उठाइए और युद्ध करिए।

तत प्रहस्यापभय पुरन्दर पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्र यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघु कृती भवान्॥५१॥
स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुख करिष्यमाण सशर शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपु प्रकर्षेण विडम्बितेश्वर ॥५२॥
रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षण ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघ समधत्त सायकम्॥५३॥
दिलीपसूनो स बृहद्भुजान्तर प्रविश्य भीमासुरशोणितोचित ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुग कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम्॥५४॥
हरे कुमारोऽपि कुमारविक्रम सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्न निचखान सायकम्॥५५॥
जहार चान्येन मयूरपत्त्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम्।
चुकोप तस्मै स भृश सुरश्रिय प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव॥५६॥
तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिक गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनै ।
बभूव युद्ध तुमुल जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभि ॥५७॥
अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रय दुष्प्रसहस्य तेजस ।
शशाक निर्वापयितु न वासव स्वतश्च्युत वह्निमिवाद्भिरम्बुद ॥५८॥
तत प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्।
रघु शशाङ्कार्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजस ॥५९॥

रघु को जीते बिना आप घोड़ा नहीं ले जा सकते॥५१॥ ऐसा कहकर रघु ने धनुष पर बाण चढाया और पैंतरा माधकर इन्द्र की ओर मुँह करके खडे हो गये। उस समय वे अपने तगडे शरीर से ऐसे लग रहे थे, मानो इन्द्र मे युद्ध करने के लिए स्वय शकरजी वहाँ आ पहुँचे हों॥५२॥ तभी रघु ने खभे के समान दृढ एक बाण इन्द्र की छाती में मारा। इमसे इन्द्र भी क्रुद्ध हो गये और अपने धनुष पर उन्होंने ऐसा बाण चढ़ाया, जिसका प्रहार कभी चूकता नहीं था। इन्द्र का वह धनुष इतना सुन्दर था कि थोडी देर के लिए उसने नये बादलों मे इन्द्र-धनुष जैसा रग भर दिया था॥५३॥ बडे-बडे भीषण राक्षसों का रक्त पीनेवाले उस बाण ने रघु की छाती में घुसकर वहाँ का रक्त बडे चाव से पिया। क्योंकि उसे अब तक मनुष्य के रक्त का स्वाद नहीं मिला था॥५४॥ तब कार्तिकेय के समान पराक्रमी रघु ने भी अपना नाम खुदा हुआ एक बाण इन्द्र की उस बायीं भुजा मे मारा, जिसकी उँगलियाँ बार-बार ऐरावत को थपथपाने से कडी हो गयी थीं और जिस पर शची ने कुकुम आदि से चित्रकारी कर रक्खी थी॥५५॥ मोर की पखवाले दूसरे बाण से रघु ने इन्द्र की वज्राङ्कित ध्वजा को भी काट डाला। इससे इन्द्र को ऐसा क्रोध हुआ, जैसे देवताओं की राज्यलक्ष्मी के सिर के केश काट लिये गये हो॥५६॥ उस सग्राम में रघु और इन्द्र दोनों अपनी-अपनी जीत चाहते थे। अत दोनों सूर्य के समान तीखे बाणों से भयकर युद्ध कर रहे थे। रघु को लक्ष्य बनाकर इन्द्र नीचे की ओर अपने बाण चलाते थे और इन्द्र को ताककर रघु ऊपर बाण चला रहे थे। ऊपर सिद्धगण और नीचे रघु के सैनिक इस विस्मयजनक युद्ध को देख रहे थे॥५७॥ जैसे बादल घोर वर्षा करके भी अपने आप मे उत्पन्न बिजली को नहीं बुझा सकता। वैसे ही इन्द्र भी अपने अश से उत्पन्न रघु को अपने बाणो की वर्षा से नहीं हरा सके॥५८॥ तब रघु ने अपने अर्द्धचन्द्राकार बाण से इन्द्र की ठीक कलाई के पास वाली धनुष की वह डोरी काट दी, जिसमें से बाण चलाते समय ऐसा प्रचण्ड शब्द निकलता था कि जैसे मथे जाने के समय क्षीरसागर

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सर प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विष ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचित स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥
रघुर्भृश वक्षसि तेन ताडित पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभि ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथा सहोत्थित सैनिकहर्षनि स्वने ॥ ६१ ॥
तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुष ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पद हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥
असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम्।
अवेहि मा प्रीतमृते तुरङ्गमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासव ॥ ६३ ॥
ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृत सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम्।
नरेन्द्रसूनु प्रतिसहरन्निषु प्रियवद प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥
अमोच्यमश्व यदि मन्यसे प्रभो ! तत समाप्ते विधिनैव कर्मणि।
अजस्रदीक्षाप्रयत स मद्गुरु क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥
यथा च वृत्तान्तमिम सदोगतस्त्रिलोचनैकाशतया दुरासद ।
तवैव सन्देशहराद्विशाम्पति शृणोति लोकेश ! तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥
तथेति काम प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथागत मातलिसारथिर्ययौ।
नृपस्य नातिप्रमना सदोगृह सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥
तमभ्यनन्दत्प्रथम प्रबोधित प्रजेश्वर शासनहारिणा हरे ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्ग कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥ ६८ ॥

मे भीषण निनाद होता था ॥ ५९ ॥ इस प्रकार धनुष की डोरी कट जाने से इन्द्र को बड़ा क्रोध आया। अत उन्होंने धनुष को दूर फेंका और अपने प्रबल शत्रु रघु को मारने के लिए पर्वतों के पंख काटने वाले और अग्नि के समान चमकीले वज्र को उठाया ॥ ६० ॥ उस वज्र की मार से रघु पृथ्वी पर गिर पड़े। उनके गिरते ही सैनिकों ने रोना-पीटना आरम्भ कर दिया। किन्तु क्षण भर में ही वे सँभलकर फिर उठ खड़े हुए और उनके सैनिकों की जय-जयकार आकाश तक गूँज उठी ॥ ६१ ॥ वज्र के आघात से क्षण भर में ही सँभलकर रघु फिर लड़ने के लिए आ डटे। उनकी इस अद्वितीय वीरता को देखकर इन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा होना ठीक भी था, क्योंकि गुणों का सर्वत्र आदर होता है ॥ ६२ ॥ इन्द्र बोले— हे राजकुमार ! पर्वतों के पंख काटने वाले मेरे इस कठोर वज्र की चोट को तुम्हें छोड़कर आजतक कोई नहीं सह सका। मैं तुम्हारी वीरता पर प्रसन्न हूँ। इस घोड़े को छोड़कर तुम और जो कुछ भी मुझ से माँगना चाहो, माँगो ॥ ६३ ॥ इन्द्र के वचन सुनकर रघु ने तरकस से आधे निकाले हुए बाण को फिर से उसमें डाल दिया। जिसके सुनहले पंख की चमक से रघु की उँगलियों के नख चमक रहे थे। फिर वे इन्द्र से बोले ॥ ६४ ॥ हे देवेन्द्र ! यदि आप घोड़े को नहीं देना चाहते तो यही वरदान दीजिए कि मेरे पिताजी विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करके इस घोड़े के बिना ही सौ अश्वमेघ यज्ञ करने का फल पा जायँ ॥ ६५ ॥ हे लोकेश ! मेरे पिता इस समय यज्ञ-मंडप में अष्टमूर्ति शिवजी के एक अंश के रूप में बैठे हुए हैं। अत वहाँ इस समय हम लोगों में से कोई नहीं पहुँच सकता। इसलिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए कि जिससे आपका ही कोई दूत जाकर उनको यह समाचार सुना दे ॥ ६६ ॥ 'ऐसा ही होगा' यह कहकर इन्द्र जिस मार्ग से आये थे, उसी मार्ग से चले गये। तब सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी अपने पिता राजा दिलीप की सभा में लौट आये। वे बड़े खिन्न थे, क्योंकि युद्ध में इन्द्र से जीतने पर भी अश्वमेघ यज्ञ का घोड़ा न लौटा पाने का उन्हें बड़ा खेद था ॥ ६७ ॥ रघु के पहुँचने से पहले ही

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥
अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इन्द्र के दूत ने राजा दिलीप को सब समाचार सुना दिया था। अतएव जब रघु वहाँ पहुँचे, तब राजा दिलीप ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और जहाँ वज्र लगा था, उस अङ्ग को धीरे-धीरे सहलाने लगे॥ ६८॥ इस तरह जिसकी आज्ञा कोई टाल नहीं सकता था, उन महाराज दिलीप ने मानो स्वर्ग जाने के लिए निन्यानबे यज्ञों की सीढ़ी तैयार कर ली॥ ६९॥ तब सांसारिक विषयों से मुँह मोड़े हुए राजा दिलीप ने *अपने नवयुवक पुत्र रघु को विधिवत् छत्र-चँवर आदि राजचिह्न दे दिये और देवी सुदक्षिणा के साथ* तप करने के लिए मुनियों के आश्रमों की राह ली। क्योंकि इक्ष्वाकुवंश के राजाओं में यह बात कुलपरंपरा से चली आयी है कि वे बूढ़े होने पर जंगल में जाकर तप करने लगते हैं॥ ७०॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में रघु का राज्याभिषेक
नामक तीसरा सर्ग समाप्त॥ ३॥

चतुर्थ सर्ग

स सज्य गुरुणा दत्त प्रतिपद्याधिक बभौ। दिनान्ते निहित तेज सवित्रेव हुताशन ॥ १ ॥
दिलीपानन्तर राज्ये त निशम्य प्रतिष्ठितम्। पूर्व प्रधूमितो राज्ञा हृदयेऽग्निरिवोत्थित ॥ २ ॥
पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तय । नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दु सप्रजा प्रजा ॥ ३ ॥
सममेव समाक्रान्त द्वय द्विरदगामिना। तेन सिहासन पित्र्यमखिल चारिमण्डलम्॥ ४ ॥
छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्। पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥ ५ ॥
परिकल्पितसान्निध्या काले काले च बन्दिषु। स्तुत्य स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती॥ ६ ॥
मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभि । तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा॥ ७ ॥
स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मन । आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिण ॥ ८ ॥
मन्दोत्कण्ठा कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ। फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजा ॥ ९ ॥
नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्। पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तर ॥ १० ॥
पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणा । नवे तस्मिन्महीपाले सर्व नवमिवाभवत्॥ ११ ॥
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्र प्रतापात्तपनो यथा। तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥ १२ ॥

अपने पिता से राज्य पाकर रघु और भी अधिक तेजस्वी हो गये। जैसे सायंकालीन सूर्य का तेज लेकर अग्नि चमक उठता है॥ १॥ दूसरे राजाओं ने जब सुना कि दिलीप के बाद रघु राजा हो गये हैं, तब उनके हृदय में वैर की जो धूमिल आग धीरे-धीरे सुलग रही थी, वह जैसे सहसा भड़क उठी॥ २॥ राज्य के सब लोग रघु की ओर आँख उठाकर देखते हुए वैसे ही प्रसन्न होते थे, जैसे आकाश में उदित नवीन इन्द्रधनुष को देखकर लोग प्रसन्न होते हैं॥ ३॥ गजराज के समान मस्ती से चलने वाले राजा रघु ने पिता के सिहासन और समस्त शत्रुओं पर एक साथ अधिकार जमा लिया॥४॥ जब वे सिहासन पर बैठते थे, उस समय उनके चारों ओर प्रकाश का एक घेरा जैसा बन जाता था। उसे देखकर ऐसा लगता था कि मानो लक्ष्मी स्वय प्रच्छन्न भाव से प्रकाशमान कमल का छत्र लेकर उस नये सम्राट् के पीछे खड़ी रहती हों॥५॥ समय-समय पर सरस्वती भी उनके चारणों के कण्ठों में बैठकर सार्थक प्रशसा-परक शब्दों द्वारा यशोगान करके उन प्रशसनीय राजा रघु की सराहना किया करती थीं॥ ६॥ वैसे तो रघु से पहले मनु आदि अनेक प्रतापी राजा पृथ्वी का भोग कर चुके थे, परन्तु रघु के शासन-काल में वही पृथ्वी ऐसी नयी जान पड़ती थी कि जैसे पहले-पहल रघु के हाथों में आयी हो॥७॥ जैसे वासन्ती वायु बहुत ठंढी या बहुत गरम न होने के कारण सबके मन को भाती है, वैसे ही रघु भी किसी को आवश्यकता से अधिक कठोर या कोमल दंड नहीं देते थे। ऐसे न्याय से उनकी प्रजा उनसे बहुत प्रसन्न रहती थी॥८॥ जैसे आम के सुन्दर फल देखकर लोग उसके बौरों को भूल जाते हैं, वैसे ही रघु में राजा दिलीप से अधिक गुण देखकर लोग दिलीप को भूल गये॥ ९॥ नीतिज्ञ मन्त्रियों ने रघु के सरल और कुटिल दोनों प्रकार की नीतियों से राज्य चलाने की विधियाँ सिखा दीं, परन्तु उस धर्मात्मा राजा ने सरल नीति ही अपनायी और कुटिल नीति छोड़ दी॥ १०॥ नये राजा रघु के सिहासन पर बैठते ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँचों तत्त्वों के गुण बढ़ने लगे। उस समय ऐसा लगा कि मानो नये राजा को पाकर सभी वस्तुएँ नवीन हो गयी हों॥ ११॥ जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना तपन नाम सार्थक किया था, वैसे ही रघु ने भी प्रजा को प्रसन्न करके और उन्हे सुख देकर अपना 'राजा' यह नाम सार्थक

काम कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने। चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना॥ १३॥
लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता। पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा॥ १४॥
निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसह । प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिश ॥ १५॥
वार्षिकं सञ्जहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ। प्रजार्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ॥ १६॥
पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामर । ऋतुर्विडम्बयामास न पुन प्राप तच्छ्रियम्॥ १७॥
प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे। तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयो ॥ १८॥
हसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु। विभूतयस्तदीयाना पर्यस्ता यशसामिव॥ १९॥
इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्। आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यश ॥ २०॥
प्रससादोदयादम्भ कुम्भयोनेर्महौजस । रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषता मन ॥ २१॥
मदोदग्रा ककुद्मन्त सरिता कूलमुद्रुजा । लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम्॥ २२॥
प्रसवै सप्तपर्णाना मदगन्धिभिराहता । असूययेव तन्नागा सप्तधैव प्रसुस्रुवु ॥ २३॥
सरित कुर्वती गाधा पथश्चाश्यानकर्दमान्। यात्रायै चोदयामास त शक्ते प्रथमं शरत्॥ २४॥
तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ। प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जय ददौ॥ २५॥

कर दिया॥ १२॥ यद्यपि रघु के नेत्र कानों तक फैले हुए और बहुत बडे-बडे थे परन्तु उन्हें अधिक भरोसा अपने उस शास्त्रज्ञानरूपी नेत्रों पर था, जिनसे वे सूक्ष्म से सूक्ष्म कामों को भी शीघ्र देख लेते थे॥ १३॥ रघु ने जब अपने राज्य में शान्ति स्थापित कर ली और उनका चित्त ठिकाने हुआ, उसी समय दूसरी लक्ष्मी के समान शरद् ऋतु आ गयी, जिससे चारों ओर सुन्दर कमल खिल गये॥ १४॥ वर्षा बीत चुकी थी, बादल हट गये थे और जिस तरह खुले आकाश में चमकते हुए सूर्य का प्रकाश चारों ओर फैल गया था, वैसे ही शत्रुओं के नष्ट हो जाने पर राजा रघु का प्रताप भी फैल गया॥ १५॥ इन्द्र ने जब अपना वर्षाऋतुवाला इन्द्रधनुष हटाया, तब रघु ने अपना विजयी धनुष हाथ मे उठा लिया। क्योंकि ये दोनो ही बारी-बारी से प्रजा की भलाई किया करते थे॥ १६॥ रघु के छत्र और चँवर को देखकर कमल के छत्र और फूले हुए काँस के चँवर लेकर शरद् ऋतु रघु से होड करने चली, परन्तु सब कुछ करके भी रघु की शोभा नहीं पा सकी॥१७॥ शरद् ऋतु मे उजले चन्द्रमा तथा रघु के खिले हुए मुख दोनों को देखकर दर्शकों को एक-सा आनन्द मिलता था॥ १८॥ उजले हंसों को उडती हुई पाँतों, रात में खिले हुए टिमटिमाते तारे और तालो में खिली हुई कोई को देखकर ऐसा लगता था कि रघु की कीर्त्ति ही इतने रूपों मे फैली हुई है॥ १९॥ प्रजा को वे इतने प्रिय थे कि धान के खेतों की रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियाँ भी ईख की छाया मे बैठकर प्रजापालक राजा रघु की बचपन से अब तक की कथाओं के गीत बना-बनाकर गाया करती थीं॥ २०॥ इधर चमकीले अगस्त्य तारे का उदय होने से जल निर्मल हो गया, उधर शत्रुओ के मन मे यह सोचकर खलबली मच गयी कि अब न जाने कब रघु चढाई कर दे॥ २१॥ ऊँचे-ऊँचे कंधो वाले मतवाले साँड नदियो के कगार ढहाते हुए ऐसे लगते थे कि मानो वे रघु के लडकपन के वीरताभरे खिलवाडों का अनुकरण कर रहे हों॥ २२॥ उन दिनों चारों ओर छतिवन के फूल फूले हुए थे। उनकी मतवाली गन्ध पाकर रघु के हाथियों ने सोचा कि ये भी हाथी हैं और हमसे होड करके मद बहा रहे हैं। इसलिए वे भी ईर्ष्यावश सूँड के नथनों, दोनों कपोलों, लिंग और दोनो आँखों से मद बहाने लगे॥ २३॥ शरद्-ऋतु के आते ही नदियो का पानी उतर गया और मार्ग का कीचड भी सूख चला। जैसे शरद् ऋतु ने रघु के सोचने से पहले ही उन्हें दिग्विजय-यात्रा करने को प्रेरित कर दिया॥ २४॥ उस यात्रा के लिए चलने से पहले घोडो की पूजा के लिए हवन होने लगा। हवन की आग दाहिनी ओर घूमती हुई उस तरह उठ रही थी कि मानो

स गुप्तमूलप्रत्यन्त शुद्धपार्ष्णिरयान्वित । षड्विध बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥
अवाकिरन् वयोवृद्धास्त लाजै पौरयोषित । पृषतैर्मन्दरोद्धूतै क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥
स ययौ प्रथम प्राचीं तुल्य प्राचीनबर्हिषा । अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभि ॥ २८ ॥
रजोभि स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभै । भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥
प्रतापोऽग्रे तत शब्द परागस्तदनन्तरम् । ययौ पश्चाद्रथादीति चतु स्कन्धेव सा चमू ॥ ३० ॥
मरुपृष्ठान्युदम्भासि नाव्या सुप्रतरा नदी । विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार स ॥ ३१ ॥
स सेना महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् । बभौ हरजटाभ्रष्टा गङ्गामिव भगीरथ ॥ ३२ ॥
त्याजितै फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपै । तस्यासीदुल्बणो मार्ग पादपैरिव दन्तिन ॥ ३३ ॥
पौरस्त्यानेवमाक्रामस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी । प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठ महोदधे ॥ ३४ ॥
अनम्राणा समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव । आत्मा सरंक्षित सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥
वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् । निचखान जयस्तम्भान्गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु स ॥ ३६ ॥
आपादपद्मप्रणता कलमा इव ते रघुम् । फलै सवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिता ॥ ३७ ॥

अपने हाथ उठाकर रघु को विजय का आर्शीवाद दे रही हो ॥ २५ ॥ वीर रघु ने पहले राजधानी और सीमा के किलों की रक्षा का प्रबन्ध किया। फिर शुभ मुहूर्त मे घुड़सवार, हाथी, रथ, पैदल, गुप्तचर और शत्रु के राज्य के मार्ग को जानने वाली—इन छ प्रकार की सेनाओ को लेकर वे दिग्विजय के लिए चले ॥ २६ ॥ जैसे मन्दराचल से मथते समय क्षीरसागर की लहरों की उछलती हुई उजली फुहारें विष्णु भगवान् के ऊपर बरस रही थीं, वैसे ही नगर की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों ने विजय-यात्रा के लिए प्रस्थित रघु के ऊपर धान की खीलें बरसाई ॥ २७ ॥ इन्द्र के समान प्रतापी राजा रघु दिग्विजय के लिए पहले पूर्व की ओर चले। वायु लगने से सेना की जो झडियाँ फरफराती थीं, वे मानो शत्रुओं को डपट रही थीं ॥ २८ ॥ रघु के रथों मे जो धूल ऊपर उड़ी, उसने आकाश को पृथ्वी बना दिया। इधर पृथ्वी पर चलती हुई सेना के काले-काले हाथी बादल जैसे लग रहे थे। उनके कारण पृथ्वी आकाश जैसी दीख रही थी ॥ २९ ॥ आगे-आगे रघु का प्रताप चलता था, उसके पीछे उनकी सेना का कोलाहल सुनायी पड़ता था, तब धूल उडती दिखलायी देती थी और सबके पीछे रथ आदि की सेना चली जा रही थी। इस प्रकार रघु की सेना मानो चार भागों मे बँटकर चल रही थी ॥ ३० ॥ रघु के पास ऐसी शक्ति तथा ऐसे साधन थे कि मरुभूमि मे भी जल की धाराएँ बहने लगी, गहरी नदियो पर पुल बँध गये और घने जगलो मे स्वच्छ मार्ग बन गये ॥ ३१ ॥ जब वे अपनी विशाल सेना के साथ पूर्वी समुद्र की ओर चले तो ऐसे लग रहे थे, मानो शकरजी की जटा मे निकली हुई गगाजी को साथ लिये भगीरथ पूर्वी समुद्र की ओर चले जा रहे हों ॥ ३२ ॥ कोई जगली हाथी जैसे फलों को गिराता और बडे-बडे पेडों को उखाडता-तोडता अपना मार्ग बनाता चलता है, वैसे ही रघु ने भी किसी राजा से कर लिया, किसी का राज्य छीना और किसी को लड़ाई मे हराया। इस प्रकार शत्रुओ को नष्ट करके उन्होंने अपने मार्ग के सब रोड़े दूर कर दिये ॥ ३३ ॥ विजयी राजा रघु विभिन्न पूर्वी राज्यों को जीतते हुए उस समुद्र के किनारे पर पहुँचे, जो तट पर खडे ताड के वृक्षों की छाया पडने से काला दीख रहा था ॥ ३४ ॥ जैसे बेत की शाखाएँ नदी की धारा मे झुककर खडी रह जाती हैं, वैसे ही सुह्म देश के राजाओं ने अभिमानियों को उखाड फेकनेवाले रघु की अधीनता चुपचाप स्वीकार कर ली और अपने प्राण बचा लिये ॥ ३५ ॥ तदनन्तर रघु ने उन बगीय राजाओं को हराया, जो जलसेना लेकर लडने आये थे। उन्हे जीतकर रघु ने गङ्गासागर के द्वीप मे अपना विजयस्तम्भ गाड दिया ॥ ३६ ॥ किसान जैसे धान के पौधों को एक खेत मे उखाडकर दूसरे खेत में रोपते हैं और फिर वे धान के पौधे किसान का घर अन्न से

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः । उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत्। अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः । पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४०॥
द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम्। सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१॥
ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचिताऽऽपानभूमयः । नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः । श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३॥
ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना। अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४॥
स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना। कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः। मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६॥
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः । तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्। नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९॥

भर देते हैं, वैसे ही रघु ने जिन राजाओं को हराकर उन्हें फिर राजगद्दी पर बैठा दिया, उन बंगीय राजाओ ने रघु के चरणकमलो को प्रणाम कर बहुत-सा धन-धान्य देकर उनका सत्कार किया॥ ३७॥ वहाँ से चलकर रघु ने हाथियों का पुल बनाकर अपनी पूरी सेना को कपिशा नदी के पार उतार दिया। वहाँ उड़ीसा के राजाओं ने तो अधीनता स्वीकार की ही थी साथ ही आगे का मार्ग भी बतलाया। तदनुसार रघु कलिङ्गदेश जीतने के लिए आगे बढे॥ ३८॥ जैसे हाथीवान् मतवाले हाथी के माथे पर अंकुश गडाता है, वैसे ही रघु ने महेन्द्र पर्वत पर पहुँचकर उसकी चोटी पर अपना शिविर स्थापित कर दिया॥ ३९॥ जैसे प्रस्तरवर्षी पर्वतों ने पत्थर बरसाकर पहाडों के पंख काटनेवाले इन्द्र का सामना किया था, वैसे ही हाथियों की सेना साथ लेकर अस्त्र बरसाते हुए कलिङ्गनरेश ने रघु का सामना किया॥ ४०॥ तीर्थों के जल से स्नान कराके जैसे राजाओं का राज्याभिषेक होता है और उन्हें राज्यलक्ष्मी मिलती है, वैसे ही रघु ने भी शत्रुओं के बाणों की वर्षा में स्नान करके विजय प्राप्त की॥ ४१॥ लडाई के बाद रघु के वीर सैनिकों ने महेन्द्र पर्वत पर पान के पत्तों को छवाकर मदिरालय बनाया और वे वहाँ नारियल की मदिरा के साथ-साथ शत्रुओं का यश भी पी गये॥ ४२॥ राजा रघु सदा धर्मयुद्ध करते थे, इसलिए उन्होंने कलिङ्ग-नरेश को बन्दी तो बना लिया, परन्तु जब उसने इनकी अधीनता स्वीकार कर ली तब छोड दिया। इसी प्रकार उन्होंने कलिङ्गनरेश की राज्यश्री तो ले ली, परन्तु राज्य उसी को लौटा दिया॥ ४३॥ इस प्रकार पूर्व दिशा को जीतकर विजयी रघु समुद्र के तट पर होते हुए दक्षिण दिशा को चले, जहाँ फलो से लदे हुए सुपारियो के अनेक वृक्ष थे॥ ४४॥ जब कावेरी के तट पर पहुचे, तब राजा रघु के सैनिकों तथा हाथियों ने जी भरकर उस नदी मे नहाया और उसका जल मथ दिया। हाथियों के नहाने से जल मे मद की गन्ध आने लगी। जब वह अपने पति समुद्र के पास गयी तो उसे कावेरी के चरित्र पर सन्देह होने लगा॥ ४५॥ वहाँ से चलकर वे बहुत दूर निकल गये और विजय चाहने वाले रघु के सैनिक मलयाचल की उस तलहटी मे उतरे, जहाँ काली मिर्च की झाडियों में से हारीत पक्षी उड रहे थे॥ ४६॥ वहाँ पृथ्वी पर गिरे हुए इलायची के बीज घोडों की टापो से पिसकर वायु के सहारे जाकर हाथियो के उन गालो पर चिपक गये, जहाँ उन्हीं के गन्ध जैसे मद की गन्ध पहले से निकल रही थी॥ ४७॥ साँपो के लिपटे रहने से चन्दनवृक्षों के चारो ओर गहरी रेखाएँ बन गयी थीं, जिनमे बँधे हुए रस्सों को वे हाथी भी नहीं तोड सके, जो पैर के रस्सो को एक झटके मे तोड डालते थे॥ ४८॥ दक्षिण दिशा मे महाप्रतापशाली सूर्य का तेज भी मन्द पड जाता है, परन्तु रघु का तेज इतना प्रबल था कि वहाँ के पाण्ड्य राजा भी उनके आगे नहीं ठहर सके॥ ४९॥ दक्षिण के

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासार महोदधे । ते निपत्य ददुस्तस्मै यश स्वमिव सञ्चितम् ॥५०॥
स निर्विश्य यथाकाम तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशस्तस्या शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रम सह्य दूरान्मुक्तमुदन्वता। नितम्बमिव मेदिन्या स्रस्ताशुकमलङ्घयत् ॥५२॥
तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतै । रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णव ॥५३॥
भयोत्सृष्टविभूषाणा तेन केरलयोषिताम्। अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृत ॥५४॥
मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतक रज । तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥५५॥
अभ्यभूयत वाहाना चरता गात्रशिञ्जितै । वर्मभि पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनि ॥५६॥
खर्जूरीस्कन्धनद्धाना मदोद्गारसुगन्धिषु। कटेषु करिणा पेतु पुन्नागेभ्य शिलीमुखा ॥५७॥
अवकाश किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ। अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम्। त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भ चकार स ॥५९॥
पारसीकास्ततो जेतु प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। इन्द्रियाख्यानिव रिपूस्तत्त्वज्ञानेन सयमी ॥६०॥
यवनीमुखपद्माना सेहे मधुमद न स । बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदय ॥६१॥

पाड्य राजाओं ने ताम्रपर्णी और समुद्र के सगम मे जितने मोती बटोरे थे, वे सब उन्होंने रघु को ऐसे सौंप दिये कि जैसे अपना बटोरा हुआ यश ही उन्होने दे डाला हो॥५०॥ उन्हे जीतकर महाप्रतापी रघु ने उन मलय और दर्दुर नाम की पहाडियो पर बहुत दिनो तक पड़ाव डाल रक्खा, जिन पर चन्दन के पेड़ लगे हुए थे। जो ऐसे दिखायी पडते थे, मानो चन्दन लगे हुए दक्षिण दिशा के दो स्तन हो॥५१॥ तदनन्तर वे सह्य की उस पहाडी को पार करके आगे बढे जो समुद्र के दूर हट जाने से ऐसी दिखलायी पड़ती थी, मानो वह पृथ्वी का नितब भाग हो और उस पर से कपडा हट गया हो॥५२॥ यद्यपि परशुराम ने अपने फरसे से समुद्र को सह्य पर्वत से दूर हटा दिया था, फिर भी उसके पास से जाती हुई रघु की सेना ऐसी लगती थी कि जैसे समुद्र फिर सह्याद्रि के पास चला आया हो॥५३॥ केरल देश की जो स्त्रियाँ साज-सिगार तथा घर छोडकर रघु के भय से भाग खडी हुई थीं, उनके बालो पर रघु की सेना के चलने से उडी हुई जो धूल बैठ गयी थी, वह ऐसी लगती थी कि जैसे कस्तूरी का चूरा लगा हुआ हो॥५४॥ मुरला नदी की ओर से आनेवाली वायु के कारण जो केवडे के फूलो की धूल उड रही थी, वह सैनिकों के कवचों पर बैठकर बिना यत्न के ही सुगन्धित चूर्ण का काम देने लग गयी॥५५॥ चलते समय घोडों के शरीर के कवच ऐसे ऊँचे स्वर से खनखना रहे थे कि वायु चलने से जो बडे-बड़े ताड़ के पेडों मे से ध्वनि निकल रहा थी, वह भी उसके आगे मन्द पड गयी॥५६॥ नागकेसर के फूलों पर बैठे हुए भौंरों को जैसे ही खजूर के वृक्ष मे बँधे हुए हाथियों के कपोलों से टपकते हुए मद की गन्ध मिली, तैसे ही वे उन्हे छोड़कर इन पर टूट पड़े॥५७॥ पश्चिम के राजाओं ने रघु के अधीन होकर जो उन्हे कर दिया, वह मानो उन्होंने नहीं, बल्कि उस प्रतापी समुद्र ने कर दिया था, जिसने बहुत प्रार्थना करने पर परशुरामजी को थोडी-सी जगह दी थी॥५८॥ रघु के मतवाले हाथियों ने अपने दाँतों की चोटों से त्रिकूट पर्वत पर जो रेखाएँ बना दीं, उनसे वह पर्वत ऐसा लगने लगा कि जैसे रघु की विजय का स्मरण दिलानेवाला जय-स्तम्भ खडा हो और उस पर रघु की विजयगाथा लिखी हुई हो॥५९॥ जैसे इन्द्रियरूपी शत्रुओ को जीतने के लिए कोई योगी तत्त्वज्ञान का सहारा लेता है, वैसे ही रघु ने भी पारसी राजाओं को जीतने के लिए स्थल का मार्ग पकडा॥६०॥ असमय मे उठे बादलों से जैसे प्रभात की धूप में खिले हुए कमलो की चमक जाती रहती है, वैसे ही रघु ने अचानक आक्रमण करके मदिरा से लाल गालोवाली यवनियो के मुखकमलो को मुरझा दिया॥६१॥ वहाँ पश्चिम देश के घुडसवार राजाओ से रघु की भीषण लडाई हुई। उस समय सेना के चलने से इतनी धूल उड़ी

सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः। शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत्॥६२॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्। तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥६३॥
अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः। प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्॥६४॥
विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्। आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु॥६५॥
ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्। शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव॥६६॥
विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः। दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्॥६७॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥६८॥
काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः। गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः॥६९॥
तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः। उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्॥७०॥
ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः। वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः॥७१॥
शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम्। गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥७२॥
भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः। गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे॥७३॥
विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः। दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः॥७४॥
सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः। आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः॥७५॥

कि आस-पास कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता था। केवल धनुष की टङ्कार से ही सैनिक लोग शत्रु को पहचान पाते थे॥६२॥ मधुमक्खियों से भरे छत्ते जैसी दाढ़ियों वाले यवनों के सिरों को भल्ल नाम के बाणों से काट-काटकर रघु ने सारी पृथ्वी पर फैला दिया॥६३॥ उनमें से जो जीते बचे, उन्होंने अपने लोहे के टोप उतार-उतारकर रघु के चरणों में रख दिये। क्योंकि महापुरुषों की कृपा प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है कि उनकी शरण ले ली जाय॥६४॥ रघु के सैनिक वहाँ अंगूर की लताओं से घिरी हुई पृथ्वी पर सुहावनी मृगछालाएं बिछाकर चैन से बैठ गये और मदिरा पी-पीकर लड़ाई की थकान मिटाने लगे॥६५॥ जैसे सूर्य अपनी तीखी किरणों से पृथ्वी का जल खींचने के लिए उत्तर की ओर घूम जाता है, वैसे ही रघु भी उत्तर के राजाओं को जीतने के लिए उधर ही चल पड़े॥६६॥ सिन्धु नदी के तट पर पहुँचकर रघु के घोड़े वहाँ की रेती में लोट-लोटकर अपनी थकावट मिटाने लगे। लोटने से उनके शरीर में जो केसर लग गयी थी, उसे उन्होंने देह हिलाकर झाड़ दिया॥६७॥ अपने प्रचण्ड पराक्रम से वहाँ रघु ने जिन हूण राजाओं को मार डाला था, उनकी स्त्रियाँ सिर पीट-पीटकर इतनी रोयीं कि उनके गाल लाल हो गये॥६८॥ कम्बोज (काबुल) के राजे लड़ाई में रघु के आगे नहीं टिक सके। हाथियों के बाँधने से जैसे वहाँ अखरोट की डालियाँ झुक गयी थीं, वैसे ही वहाँ के राजे भी रघु के आगे झुक गये॥६९॥ हारे हुए उन कम्बोज के राजाओं ने रघु को बहुत-से घोड़े और बहुत-सा धन दिया, परन्तु उतना धन पाकर भी कोशलेश्वर रघु को अभिमान नहीं हुआ॥७०॥ वहाँ से वे अपने घोड़ों की सेना लेकर हिमालय पहाड़ पर चढ़ गये, जैसे अपने घोड़ों की टापों द्वारा उठी हुई गेरू आदि धातुओं की लाल-लाल धूल से वे हिमालय की चोटियों को और भी ऊँचा करना चाहते हों॥७१॥ सैनिकों के समान ही बलवान् सिंहों ने गुफाओं में लेटे-लेटे ही आँखें घुमाकर रघु की सेना को देखा। उनकी सेना के कोलाहल से उन सिंहों को तनिक भी घबराहट नहीं हुई॥७२॥ वहाँ पर भोजपत्रों में मर्मर करता, पहाड़ी बाँसों के छेदों में घुसकर बाँसुरी-सी बजाता और गंगाजी की फुहारों से ठण्डा होता हुआ वायु रघु की सेवा कर रहा था॥७३॥ रघु के सैनिक वहाँ नमेरु वृक्षों के नीचे उन पथरीली चट्टानों पर बैठकर सुस्ताने लगे, जिनमें से कस्तूरी मृगों के बैठने के कारण सुगन्ध आ रही थी॥७४॥ देवदार के पेड़ों में बँधे हुए हाथियों के गले में पड़ी साँकलें रात को चमकनेवाली बूटियों के प्रकाश

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वच । गजवर्ष्म किरातेभ्य शशसुर्देवदारव ॥७६॥
तत्र जन्य रघोर्घोर पर्वतीयैर्गणैरभूत्। नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम्॥७७॥
शरैरुत्सवसङ्केतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्। जयोदाहरण बाह्वोर्गापयामास किन्नरान्॥७८॥
परस्परेण विज्ञातस्तेपूपायनपाणिषु। राज्ञा हिमवत सारो राज्ञ सारो हिमाद्रिणा॥७९॥
तत्राक्षोभ्य यशोराशि निवेश्यावरुरोह स । पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम्॥८०॥
चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वर । तद्गजालानता प्राप्तै सह कालागुरुद्रुमै ॥८१॥
न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्। रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम्॥८२॥
तमीश कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्। भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यै ॥८३॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्। रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयो ॥८४॥
इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्। रजो विश्रामयन् राज्ञा छत्रशून्येषु मौलिषु॥८५॥
स विश्वजितमाजह्रे यज्ञ सर्वस्वदक्षिणम्। आदान हि विसर्गाय सता वारिमुचामिव॥८६॥

सत्रान्ते सचिवसख पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभि शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥

मे चमचमा उठीं। इस प्रकार उन बूटियों ने रघु के लिए बिना तेल के ही दीपक का काम कर दिया॥७५॥ रघु ने जब वहाँ से अपनी सेना का पडाव हटा लिया, तब देवदार की ऊँची-ऊँची शाखाओं पर हाथियो के गले की साकलों की रगड से बनी हुई रेखाओं को देखकर ही जगली किरातों ने रघु के हाथियो की ऊँचाई का अनुमान कर लिया॥७६॥ वहाँ पहाडी गणों के साथ रघु की घनघोर लडाई हुई। रघु की सेना बाण चलाती थी और पहाडी लोग पत्थर बरसाते थे। इस प्रकार लोहे और पत्थर की भिडन्त हो जाने पर तो बराबर आग उत्पन्न हो जाती थी॥७७॥ रघु ने धुआँधार बाण बरसाकर उत्सवसकेत नामक पहाडियो के छक्के छुड़ा दिये। इस पर किन्नरों ने मिलकर रघु के बाहुबल के अनेक गीत गाये॥७८॥ उन पहाडी राजाओं ने रत्नों के ढेर रघु को भेट मे दिये, जिन्हे देखकर रघु ने हिमालय के अतुलित धन का और हिमालय ने युद्ध मे रघु के पराक्रम का अनुमान कर लिया॥७९॥ इस प्रकार हिमालय पर अपना यशस्वी झडा गाडकर रघु आगे कैलास की ओर न बढकर लौट पड़े। इससे कैलास पर्वत को यह सोचकर लज्जा हुई कि एक बार रावण ने मुझे उठा क्या लिया कि सभी लोग मुझको सदा के लिए हारा हुआ समझने लगे॥८०॥ वहाँ से लौहित्या नदी पार करके रघु प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम के लोहित प्रदेश) में पहुँचे। वहाँ पर हाथियों के बँधने से जैसे कालागुरु के वृक्ष काँपते थे, वैसे ही प्राग्ज्योतिषपुर का राजा भी रघु के भय से काँप उठा॥८१॥ वहाँ के राजा ने देखा कि बादलो के बिना केवल रघु की सेना की धूल से ही सूर्यमण्डल छिप गया। जब सेना की धूल से ही वह इतना घबरा गया तब वह उस सेना से कैसे लडता॥८२॥ तदुपरान्त कामरूप के राजा ने जिन हाथियों को लेकर बडे-बडे शत्रुओं को हराया था, उन्हीं हाथियों को उसने इन्द्र से भी अधिक पराक्रमी रघु को भेट में दे दिया॥८३॥ कामरूप के नरेश ने सोने के पीढे पर पडी हुई महाराज रघु के चरणो की छाया को देवता जैसा समझकर रत्नों से पूजा॥८४॥ इस प्रकार विजयी रघु जब सारी पृथ्वी को जीतकर अपनी राजधानी अयोध्या की ओर लौटे, तब उनके रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल पीछे-पीछे चलनेवाले पराजित राजाओ के छत्र-विहीन मुकुटो पर बैठकर विश्राम करने लगी॥८५॥ दिग्विजय से लौटकर रघु ने विश्वजित् नाम का यज्ञ किया, जिसमे उन्होंने अपनी सारी सम्पदा दक्षिणा मे दे डाली। जैसे बादल समुद्र से जल लेकर फिर पृथ्वी पर बरसा देते हैं, वैसे ही महात्मा लोग भी धन को दान करने के लिए ही जुटाते हैं॥८६॥ यज्ञ समाप्त हो जाने पर रघु और उनके मन्त्रियों ने पराजित राजाओं का बड़ा सत्कार किया और उनके

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्न सम्राजश्चरणयुग प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥८८॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थ सर्ग ॥४॥

मन मे हारने की जो लाज थी, उसे दूर कर दिया। फिर बहुत दिनों मे अपनी रानियों से बिछुडे हुए उन राजाओ को उन्होने अपने-अपने देश जाने की आज्ञा प्रदान की॥८७॥ अयोध्या मे जाते समय राजाओ ने रघु के उन कृपाप्राप्य चरणों में झुककर प्रणाम किया जिन पर ध्वजा, वज्र और छत्र आदि की रेखाएँ बनी हुई थीं। उस समय उन राजाओ के सिर की मालाओं मे जो पराग गिरा, उससे रघु के चरणों की उँगलियाँ पहले की अपेक्षा और भी गोरी हो गयीं॥८८॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य में रघु-दिग्विजय नामक
चौथा सर्ग समाप्त॥४॥

पञ्चम सर्ग

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥
स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥
तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥
अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे! कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥
कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥
आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥
क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥
निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥
नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

महाराज रघु जब विश्वजित् यज्ञ में अपना सब प्रकार के कोश दान कर चुके, उसी समय वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि गुरुदक्षिणा के लिए धन माँगने के निमित्त उनके पास पहुँचे ॥ १ ॥ तब अत्यन्त शीलवान् और यशस्वी रघु मिट्टी का पात्र लेकर विद्वान् कौत्स ऋषि की पूजा करने चले। क्योंकि सोने-चाँदी के सब पात्र तो उन्होने पहले ही दान कर दिये थे ॥ २ ॥ तपस्वी कौत्स कुश के आसन पर बैठे हुए थे। शास्त्र के विज्ञ एव सबसे श्रेष्ठ सम्माननीय रघु ने बडी विधि से उनकी पूजा की और हाथ जोडकर बोले ॥ ३ ॥ हे बुद्धिमान्! सूर्य जैसे अपने प्रकाश से समस्त ससार को चैतन्य प्रदान करता है, वैसे ही जिनसे आपने समस्त ज्ञान प्राप्त किया है और जो मन्त्रद्रष्टा ऋषियो मे सर्वश्रेष्ठ हैं, वे आपके गुरु वरतन्तु तो कुशल मे हैं ॥ ४ ॥ उन्होंने शरीर, मन और वचन से तीनों प्रकार का जो कठिन तप करना प्रारम्भ किया था और जिसे देखकर इन्द्र भी घबरा उठे थे, उनका वह तप तो निर्विघ्न चल रहा है? ॥ ५ ॥ आप लोगो ने आश्रम के जिन वृक्षों के थाले बाँधकर उन्हें पुत्र के समान बडे जतन से पाला है और जिनसे पथिकों को छाया मिलती है, उन वृक्षों को आँधी-पानी आदि उपद्रवो से कोई हानि तो नहीं पहुँची है? ॥ ६ ॥ हरिणियो के वे छोटे-छोटे बच्चे तो कुशल से हैं, जिन्हे ऋषि लोग बडे प्यार से गोद में बैठाकर खेलाते हैं? जिनकी नाभि का नाल ऋषियो की गोद मे ही सूखकर गिरता है और जिन्हे ऋषिलोग यज्ञ के लिए सचित कुशा को भी खाने से नहीं रोकते? ॥ ७ ॥ उन नदियों का जल तो ठीक है, जिनमें आपलोग प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, तर्पण आदि करते हैं और जिनकी रेती पर आप लोगों ने अपने चुने हुए अन्न का छठाँ भाग राजा का अंश समझकर छोड रक्खा है ॥ ८ ॥ जिन तिन्नी के अन्नो और फलो से आप लोग अतिथियों का सत्कार करते हैं और जिन्हे खाकर ही आप लोग रह

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं सङ्क्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥ १०॥
तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि सम्भावयितुं वनान्माम्॥ ११॥
इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः॥ १२॥
सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा॥ १३॥
भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग! तयाऽतिशेषे।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः॥ १४॥
शरीरमात्रेण नरेन्द्र! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥ १५॥
स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः॥ १६॥
तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि॥ १७॥
एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य।
किं वस्तु विद्वन्! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त॥ १८॥

जाते हैं, उन्हे आस-पास वाले गाँवो के पशु तो नहीं चर जाते है?॥९॥ क्या ऋषि वरतन्तु ने आपकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर आपको गृहस्थ बन जाने की आज्ञा दे दी है? क्योंकि अब आपकी इतनी अवस्था भी हो गयी है कि आप विवाह करें और सबका उपकार करनेवाले गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट हो॥१०॥ आप जैसे पूज्य महात्मा के आने से मेरा जी नहीं भरा है। मुझे अपनी सेवा करने की भी कोई आज्ञा दीजिए और यह बतलाइए कि आपने केवल अपने गुरुजी की आज्ञा मे ही यहाँ आकर मुझे कृतार्थ किया है या अपनी इच्छा से आने की कृपा की है॥११॥ कौत्स ने बडे ध्यान से रघु की उदार बाते सुनीं, परन्तु देखा कि उनके पास केवल मिट्टी के पात्रभर बचे हैं। इसी से उन्होने समझ लिया कि अब रघु के पास कुछ भी नहीं है। इससे उनका मुँह उतर गया और उन्होने समझ लिया कि यहाँ हमारा काम नहीं बनेगा। यह सोचकर कौत्स बोले॥१२॥ हे राजन्! आपके राज्य मे हमे सब प्रकार का सुख है। जैसे सूर्य के रहते अँधेरा नहीं ठहर पाता, वैसे ही आपके राजा रहने पर प्रजा में दुःख कहीं नहीं है॥१३॥ हे भाग्यशालिन्! बडों की पूजा करना तो आपके वंश का धर्म ही है और फिर आप तो इस बात मे अपने पूर्वजो से भी आगे बढे हुए हैं। मैं आपके पास कुछ माँगने आया था, परन्तु मेरे आने में कुछ विलम्ब हो गया, इसी का मुझे दुःख है॥१४॥ हे राजन्! आपने अपना सब धन सुपात्रों को दे डाला है और केवल शरीरभर आपके पास बचा है। इससे अब आप तिन्नी के पौधे के उस ठूँठ जैसे रह गये हैं, जिसके दाने तपस्वियों ने झाड लिये हों॥१५॥ चक्रवर्ती होते हुए भी यज्ञ मे सब कुछ दान दे देने के बाद दरिद्र होकर आप उस चन्द्रमा जैसे बडे सुन्दर लग रहे हैं, जिसकी सारी कलाएँ धीरे-धीरे देवताओं ने पी ली हो॥१६॥ आपके पास तो कुछ है नहीं, अतएव मैं अब गुरुदक्षिणा प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे धनी का द्वार खटखटाऊँगा। क्योंकि पपीहा भी बिना जलवाले बादलो से पानी नहीं माँगता। आपका कल्याण हो॥१७॥ ऐसा कहकर कौत्स जाने के लिए

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे॥ १९॥
समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात्॥ २०॥
निर्बन्धसञ्जातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः।
वित्तस्य विद्यापरिसङ्ख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति॥ २१॥
सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम्।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य॥ २२॥
इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः॥ २३॥
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत्परीवादनवावतारः॥ २४॥
स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्॥ २५॥
तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात्॥ २६॥
वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्प्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य॥ २७॥

खड़े हो गये। तब रघु ने उन्हें रोका और पूछा— हे विद्वन्! आप गुरुजी को कौन-सी वस्तु या कितना धन देना चाहते हैं? सो बतलाइए॥ १८॥ ब्रह्मचारी कौत्स ने देखा कि विश्वजित् यज्ञ करने पर भी रघु को अभिमान छू नहीं गया है। इसलिए वे वर्ण और आश्रम की रक्षा करने वाले रघु से अपने मन की बात बतलाते हुए कहने लगे॥ १९॥ हे राजन्! विद्या पढ़ चुकने पर मैंने गुरुजी से कहा कि 'आप मुझसे गुरु-दक्षिणा माँगिए'। गुरुजी ने कहा— 'मैं तुम्हारी गुरुभक्ति से बहुत प्रसन्न हूँ। तब गुरु-दक्षिणा लेकर क्या होगा'। मैंने बड़ी भक्ति से उनकी सेवा की थी। उसे ही उन्होंने गुरुदक्षिणा समझ लिया था॥ २०॥ किन्तु जब मैंने बार-बार दक्षिणा माँगने के लिए उनसे आग्रह किया तो वे क्रुद्ध हो गये और मेरी आर्थिक दरिद्रता का विचार किये बिना ही बोल उठे— 'मैंने तुम्हें चौदह विद्याएँ पढ़ायी हैं, इसलिए तुम मुझे चौदह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लाकर दो'॥ २१॥ पूजा के लिए आपके हाथ में मिट्टी का पात्र देखकर ही मैं समझ गया कि आपके पास 'राजा' शब्द के सिवाय और कुछ भी नहीं बचा है। इधर मेरी गुरु-दक्षिणा भी बड़ी भारी है। अतएव अब मेरा मन ही नहीं करता कि आपसे कुछ माँगूँ॥ २२॥ वैदिक ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कौत्स के यह कहने पर चन्द्रमासदृश सुन्दर, निष्पाप तथा जगतीतल के एकमात्र प्रभु रघु फिर बोले॥ २३॥ आप जैसे वेदपाठी ब्राह्मण गुरुदक्षिणा के लिए हमारे पास आये और यहाँ से निराश लौटकर किसी दूसरे का द्वार देखें, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा अपयश मैं नहीं होने दूँगा॥ २४॥ अतएव आप हमारी यज्ञशाला में चलिए। वहाँ पर गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आहवनीय—ये तीन पूजनीय अग्नियाँ स्थापित हैं। आप भी चौथी अग्नि के समान पूजनीय होकर दो-तीन दिन ठहरिए। तब तक मैं आपकी गुरु-दक्षिणा के लिए कोई उपाय करता हूँ॥ २५॥ यह सुनकर कौत्स बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सत्यवादी रघु की बात मान ली। रघु ने भी देखा कि पृथ्वी पर तो धन है नहीं, इसलिए उन्होंने कुबेर से धन लेने का निश्चय किया॥ २६॥ जैसे वायु के झोंको द्वारा मेघ कहीं

अथाधिशिश्ये प्रयत प्रदोषे रथ रघु कल्पितशस्त्रगर्भम्।
सामन्तसम्भावनयैव धीर कैलासनाथ तरसा जिगीषु ॥२८॥
प्रात प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मया कोषगृहे नियुक्ता ।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशसु पतितां नभस्त ॥२९॥
त भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्ध कुबेरादभियास्यमानात्।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पाद सुमेरोरिव वज्रभिन्नम्॥३०॥
जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनि स्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥३१॥
अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थ प्रजेश्वर प्रीतमना महर्षि ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकाय सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्स ॥३२॥
किमत्र चित्र यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपते प्रजानाम्।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषित द्यौरपि येन दुग्धा॥३३॥
आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूत श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्र लभस्वात्मगुणानुरूप भवन्तमीड्य भवत पितेव॥३४॥
इत्थ प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरो सकाशम्।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोक ॥३५॥

भी जा सकता है, वैसे ही वसिष्ठजी के मन्त्रों से पवित्र किया हुआ रघु का रथ अबाधरूप से समुद्र, आकाश और पर्वत कहीं भी जा सकता था अर्थात् उनके रथ की गति कहीं भी अवरुद्ध नहीं होती थी॥२७॥ उन्होंने सोचा कि उस रथ पर चढ़कर मैं अकेला ही महाप्रतापी और कैलास के स्वामी कुबेर को एक छोटे से सामन्त राजा के समान सहज में जीत लूँगा। ऐसा निश्चय करके वे साँझ होते ही अस्त्र-शस्त्र रखकर रथ में सोये॥२८॥ दूसरे दिन सबेरे जैसे ही रघु चलने को उद्यत हुए, तैसे ही राजकोष के रक्षकों ने आकर यह विस्मयभरा समाचार दिया कि आज रात को कोश में आकाश से बहुत देर तक सोने की वर्षा हुई है॥२९॥ बात यह हुई कि रघु की चढ़ाई की बात सुनकर कुबेर ने रात को ही सोने की वर्षा कर दी थी। सोने का वह ढेर ऐसा चमक रहा था कि जैसे किसी ने वज्र से सुमेरु पर्वत का एक टुकड़ा काटकर धरती पर गिरा दिया हो। रघु ने वह सारा सोना कौत्स को दे दिया॥३०॥ उसे देखकर कौत्स ने कहा— मैं इतना ज्यादा सोना लेकर क्या करूँगा? मुझे तो गुरुदक्षिणा चुकाने भर को धन चाहिए। इस पर रघु बोले— यह नहीं हो सकता। आप यह सारा धन ले जाइए। यह देखकर अयोध्यानिवासियों ने उन दोनों की बड़ी प्रशंसा की। क्योंकि उन दोनों में एक इतना सन्तोषी था कि आवश्यकता से अधिक लेना नहीं चाहता था और दूसरा इतना बड़ा दाता था कि माँग से भी अधिक धन देने को सन्नद्ध था॥३१॥ उस धन को रघु ने सैकड़ों ऊँटों और खच्चरों पर लदवा दिया और जब कौत्स चलने लगे, तब राजा ने बड़ी नम्रता से उन्हें प्रणाम किया। कौत्स भी बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने विनम्र राजा के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा॥३२॥ धर्मात्मा राजाओं के लिए यदि पृथ्वी उनकी इच्छा के अनुसार धन दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु तुम्हारे प्रभाव को देखकर सचमुच बड़ा आश्चर्य होता है। क्योंकि तुमने तो स्वर्ग से भी जितना चाहा, उतना धन ले लिया॥३३॥ संसार की सभी वस्तुएँ तुम्हें सुलभ हैं। अतएव उनके लिए आशीर्वाद देना व्यर्थ है। तथापि मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ कि जैसे तुम्हारे पिता दिलीप को तुम्हारे जैसा श्रेष्ठ पुत्र मिला है, वैसा ही प्रतापी पुत्र तुम्हें भी प्राप्त हो॥३४॥ राजा रघु को यह आशीर्वाद देकर ब्राह्मण कौत्स अपने गुरुजी के पास चले गये।

ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्प सुपुवे कुमारम्।
अत पिता ब्रह्मण एव,नाम्ना तमात्मजन्मानमज चकार॥ ३६॥
रूप तदोजस्वि तदेव वीर्य तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम्।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमार प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्॥ ३७॥
उपात्तविद्य विधिवद्गुरुभ्यस्त यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।
श्री साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञा धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष॥ ३८॥
अथेश्वरेण क्रथकैशिकाना स्वयवरार्थ स्वसुरिन्दुमत्या।
आप्त कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्ट॥ ३९॥
त श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदश च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धा विदर्भाधिपराजधानीम्॥ ४०॥
तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभि।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पा॥ ४१॥
स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्त रजोधूसरकेतु सैन्यम्॥ ४२॥
अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भि प्राक्सूचितान्त सलिलप्रवेश।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्य सरित्तो गज उन्ममज्ज॥ ४३॥

तदनन्तर जैसे सूर्य से ससार को प्रकाश मिलता है, वैसे ही ब्राह्मण के आशीर्वाद से थोड़े ही दिनों बाद रघु को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ॥ ३५॥ रघु की रानी की कोख मे बडे तडके ब्राह्ममुहूर्त मे कार्तिकेय के समान तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ। ब्राह्ममुहूर्त में जन्म लेने के कारण पिता रघु ने ब्रह्मा के नाम पर अपने लड़के का नाम 'अज' रक्खा॥ ३६॥ जैसे एक दीपक मे जलाये जाने पर दूसरे दीपक मे भी ठीक वैसी ही लौ और वैसी ही ज्योति प्रकट होती है, वैसे ही अज भी रूप, गुण और बल—सभी बातों में रघु के जैसा ही था॥ ३७॥ जैसे कोई शीलवती कन्या अपनी इच्छा के अनुरूप रूप-गुणवाले वर को चुन करके भी विवाह के लिए पिता की आज्ञा ले लेना चाहती है, वैसे ही राज्यलक्ष्मी भी यद्यपि सुन्दर और युवा अज को स्वामी बनाना चाहती थी, तथापि वह रघु की आज्ञा की बाट जोह रही थी कि वे कब अज को राज्य सौंपते हैं॥ ३८॥ इसी बीच क्रथकैशिक (विदर्भदेश) के राजा भोज ने अपनी बहन इन्दुमती के स्वयवर मे अज को बुलाने के लिए अपना एक विश्वस्त दूत महाराजा रघु के पास भेजा॥ ३९॥ रघु ने भी भोजवश के साथ अपने कुल का सम्बन्ध करना ठीक समझा और कुमार अज भी विवाह के योग्य हो गये थे। अतएव उन्होंने सेना के साथ अज को विदर्भनरेश की राजधानी मे भेज दिया॥ ४०॥ मार्ग मे अज के ठहरने के लिए अनेक ऐसे वितानों का प्रबन्ध किया गया था, जिनमें सब प्रकार के सुख की सामग्री एकत्र कर दी गयी और आस-पास के गाँववालों ने अज के लिए अच्छी-अच्छी वस्तुएँ भेट मे लाकर दीं। इन सबसे वे ग्रामीण-स्थान भी ऐसे लगने लगे, मानो अज राजसी विलाससम्पन्न उद्यानों मे टिके हुए हो॥ ४१॥ आगे चलकर अज ने नर्मदा नदी के किनारे अपनी उस थकी हुई सेना का पड़ाव डाला, जिसकी पताकाएँ मार्ग की धूल लगने से मटमैली हो गयी थीं। वहाँ बडा शीतल वायु बह रहा था और उसके झोकों से करञ्ज के पेड़ झूम रहे थे॥ ४२॥ तभी एक जगली हाथी झूमता हुआ नर्मदा के जल मे से निकला। जल में घुसने से पहले ही मद के कारण झुण्ड के झुण्ड भौंरे उस पर मँडरा रहे थे। जल मे स्नान करने के कारण उसके माथे के दोनो ओर का मद धुल गया था॥ ४३॥ नहाने से यद्यपि उसके दाँतों मे लगी गेरू की लाली छूट गयी थी, फिर भी पत्थर

नि शेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेपु।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन॥४४॥
सहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुख सशब्दम्।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान्वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्त ॥४५॥
शैलोपम शैवलमञ्जरीणा जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात्।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशि सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प॥४६॥
तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्री ॥४७॥
सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मद तदीयम्।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्ना सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवु ॥४८॥
स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्य भग्नाक्षपर्यस्तरथ क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोध सेनानिवेश तुमुल चकार॥४९॥
तमापतन्त नृपतेरवध्यो वन्य करीति श्रुतवान्कुमार ।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्ग ॥५०॥
स विद्धमात्र किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्ट ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्त वपुर्व्योमचर प्रपेदे॥५१॥
अथ प्रभावोपनतै कुमार कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पै ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभि सवर्धितोर स्थलतारहार ॥५२॥

की रगड़ से उसके दोनों दाँतो पर जो नीली-नीली रेखाएँ बन गयी थीं, उनसे ऐसा लगता था कि जैसे उसने ऋक्षवान् पर्वत की शिलाओं मे टक्करें मारी हों॥४४॥ वह हाथी ज्यों-ज्यों तट की ओर आगे बढा त्यो-त्यों अपनी सूँड़ फैला और सिकोड कर चिग्घाडता हुआ जल की लहरो को चीरने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वह आलान की साँकले तोड रहा है॥४५॥ तभी वह पहाड जैसा लम्बा-चौडा हाथी छाती से सेंवार को अपने साथ खींचता हुआ तट पर आ पहुँचा। इससे जल में जो लहरे उठीं, वे उससे भी पहले तट पर आ पहुँचीं॥४६॥ नदी मे नहाने से यद्यपि उस हाथी के माथे का सब मद धुल चुका था, फिर भी अज की सेना के पालतू हाथियों को देखकर वह बलवान् और क्रुद्ध हाथी फिर माथे से मद बहाने लगा॥४७॥ जब अज के हाथियो को उसके छतिवन के दूध जैसे कसैले मद की गन्ध मिली, तब वे हाथीवानों के बार-बार रोकने पर भी इधर-उधर भागने लगे॥४८॥ उस विशाल जगली हाथी को देखा तो सब घोडे भी रस्सा तुडा-तुडाकर भाग चले। इस भगदड मे जिन रथों के धुरे टूट गये थे, वे जहाँ-तहाँ गिरे पडे थे। सैनिक लोग अपनी स्त्रियों को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूँढ़ने लगे। इस प्रकार उस एक हाथी ने सारी सेना में भगदड मचा दी॥४९॥ वह हाथी अज की ओर बढा चला आ रहा था, किन्तु अज ने सोचा कि यह जगली हाथी है, इसको मारना ठीक नहीं है। सो उन्होने अपने धनुष को थोडा-सा खींचकर एक बाण उसके मस्तक में इस ढग से मारा कि जिससे वह लौट जाय॥५०॥ बाण लगते ही वह हाथी का शरीर त्यागकर ऐसा सुन्दर और तेजस्वी हो गया, जैसे देवता होते हैं। यह देखकर अज के समस्त सैनिक आँखे फाड-फाड़कर देखते हुए जहाँ के तहाँ खडे रह गये॥५१॥ उस देववेषधारी पुरुष ने अपने प्रभाव से कल्पवृक्ष के फूल मँगाकर अज के ऊपर बरसाये और जब उसने बोलने के लिए मुँह खोला, तब उसके दाँतों की दीप्ति से उसके गले मे पडा हुआ हार चमक उठा॥५२॥ वह बोला—में गन्धर्वों के राजा प्रियदर्शन का पुत्र प्रियवद हूँ।

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम्।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूज प्रियवद´ मा प्रियदर्शनस्य॥५३॥
स चानुनीत प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत्।
उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्य हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य॥५४॥
इक्ष्वाकुवशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यज कुम्भमयोमुखेन।
सयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम्॥५५॥
सम्मोचित सत्त्ववता त्वयाऽह शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन।
प्रतिप्रिय चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धि ॥५६॥
सम्मोहन नाम सखे! ममास्त्र प्रयोगसहारविभक्तमन्त्रम्।
गान्धर्वमादत्स्व यत प्रयोक्तुर्न चारिहिसा विजयश्च हस्ते॥५७॥
अल ह्रिया मा प्रति यन्मुहूर्त दयापरोऽभू प्रहरन्नपि त्वम्।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्य मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम्॥५८॥
तथेत्युपस्पृश्य पय पवित्र सोमोद्भवाया सरितो नृसोम ।
उदङ्मुख सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्र जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात्॥५९॥
एव तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषो सख्यमचिन्त्यहेतु।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान् सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्॥६०॥
त तस्थिवास नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्ष ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्र प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली॥६१॥

एक बार मैंने अभिमानवश मतग ऋषि का अपमान कर दिया था। अतएव उन्हीं के शाप मे मैं हाथी हो गया॥५३॥ जब मैंने उन ऋषि से बहुत अनुनय-विनय किया तब उन्हें दया आ गयी। क्योंकि जल तो आग या धूप की गर्मी पाकर ही गरम होता है, उसका स्वभाव तो ठडा ही रहता है॥५४॥ तब प्रसन्न होकर उन मतग मुनि ने कहा—इक्ष्वाकुवश म उत्पन्न अज नाम के कुमार जब तुम्हारे माथे पर लोहे के फलवाला बाण मारेगे, तब उनकी महिमा मे तुम्हे फिर मे अपना वास्तविक शरीर प्राप्त हो जायेगा॥५५॥ तब मैं हाथी हो गया और आपके आने की बाट जोहने लगा। आज बडे भाग्य से आप आ गये और मुझे शाप मे छुडा दिया। इस उपकार के बदले यदि मैंने आपका कोई प्रत्युपकार न किया तो मेरा पुन शरीर पाना ही व्यर्थ है॥५६॥ हे मित्र! मेरे पास यह सम्मोहन नाम का गन्धर्वास्त्र है, जिसके चलाने और रोकने के अलग-अलग मन्त्र हैं। इस दुर्लभ अस्त्र को आप ले लीजिए। इसमे विशेषता यह है कि जब आप इसे चलायेगे, तब आप शत्रुओ के प्राण लिये बिना ही उन्हे जीत लेंगे॥५७॥ आपने जो मेरे ऊपर बाण चलाया है, उसमे जैसे आपके मन मे कुछ सकोच हो रहा है। परन्तु लजाने की क्या बात है? क्योंकि बाण चलाते समय भी आपके मन मे मुझे मारने की इच्छा तो थी नहीं, बल्कि आपने तो दया करके ही बाण चलाया था। अत मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप यह अस्त्र ले लीजिए। इसमें आना-कानी मत करिए॥५८॥ तब चन्द्रमा के समान सुन्दर अज ने गन्धर्व का कहना मानकर पहले चन्द्रमा मे उत्पन्न नर्मदा के जल का आचमन किया और फिर उत्तर की ओर मुँह करके शापमुक्त उस गन्धर्व मे वह अस्त्र और उसके चलाने-रोकने का मत्र भी ले लिया॥५९॥ इस प्रकार दैवयोग मे अज और प्रियवद की मार्ग मे ही अकारण मित्रता हो गयी। वहाँ से प्रियवद कुबेर के चित्ररथ नामक उपवन की ओर और अज उस विदर्भ देश की ओर चल पडे, जो सुन्दर शासन के कारण बड़ा रमणीक था॥६०॥ विदर्भनरेश को जब यह समाचार मिला कि अज आ गये हैं, तब वे बहुत प्रसन्न

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्री ।
मेने यथा तत्र जनं समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम्॥ ६२॥
तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टा प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
रम्या रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्या बाल्यात्परामिव दशा मदनोऽध्युवास॥ ६३॥
तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सो ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव॥ ६४॥
तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरासं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम्।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥ ६५॥
रात्रिर्गता मतिमतां वर! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी॥ ६६॥
निद्रावशेन भवताऽप्यनवेक्षमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ ६७॥
तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥ ६८॥
वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य॥ ६९॥

हुए और जैसे समुद्र अपनी लहरों को ऊँचें उठाकर चन्द्रमा का स्वागत करता है, वैसे ही उन्होंने भी नगर के बाहर अज के पडाव पर जाकर उनका स्वागत किया॥ ६१॥ तदनन्तर राजा भोज अज को अपने साथ नगर में ले गये और वहाँ उन्हें अपना सब कुछ भेंट करके ऐसी नम्रता के साथ उनका सत्कार किया कि लोग यह समझने लगे कि अज इस घर के स्वामी हैं और भोज अतिथि हैं॥ ६२॥ वहाँ से राजा भोज के सेवक अज को बडी नम्रता से उस मनोहर राजमहल मे ले गये, जिसके द्वार की चौकियों पर जल से भरे मङ्गल-कलश रक्खे हुए थे। उस भवन मे रघु के प्रतिनिधि अज ऐसे रहने लगे, मानो कामदेव ने अपना बचपन बिताकर जवानी मे प्रवेश किया हो॥ ६३॥ अब अज की यह इच्छा हुई कि किसी प्रकार उस कन्या को प्राप्त करे, जिसे पाने के लिए सैकडों राजा स्वयंवर में आये हुए हैं। इसी उलझन मे पडे रहने के कारण अज की आँखों मे रात को उसी प्रकार बहुत विलम्ब से नींद आयी, जैसे पति के स्वभाव से अनभिज्ञ नयी बहू उसके पास विलम्ब से जाती है॥ ६४॥ एक करवट सोने के कारण अज के भरे हुए कन्धों पर कुंडल के दबाव से उसका चिह्न पड गया था और बिछौने की रगड से उनके शरीर का अंगराग भी पुँछ गया। दिन निकलते ही उनकी समान अवस्था के और मृदुभाषी सूतपुत्र स्तुति करके बुद्धिमान् अज को जगाने लगे॥ ६५॥ हे परम बुद्धिमान्! रात बीत गयी, अब शय्या छोडिये। ब्रह्मा ने पृथ्वी का भार केवल दो भागों में बाँट रक्खा है, जिसे एक ओर तो तुम्हारे पिता सदा सजग रहकर सँभालते हैं और दूसरी ओर का भार जागकर आपको सँभालना है॥ ६६॥ जब तुम्हारी सौन्दर्यलक्ष्मी ने यह देखा कि तुम निद्रारूपिणी दूसरी स्त्री के वश मे हो गये हो, तब वह चाहती हुई भी रुष्ट होकर तुम्हारे ही मुख के समान सुन्दर चन्द्रमा के पास चली गयी, परन्तु इस समय चन्द्रमा भी मलिन हो गया है, इसलिए वह बेचारी निराधार हो गयी है। क्योंकि तुम्हारे मुख की बराबरी करनेवाला और कोई सुन्दर स्वरूप वाला तो है नहीं कि जिसके पास वह जा सके। अतएव जागकर तुम उसे फिर से अपना लो॥ ६७॥ तुम्हारी बन्द आँखो मे पुतलियाँ घूम रही हैं और तालाबों मे कमलों के भीतर भौंरें गूँज रहे हैं। यदि इस समय उठो तो सूर्य के निकलने पर तुम्हारे नेत्र और कमल एक साथ खिलकर एक जैसे सुन्दर लगने लगेंगे॥ ६८॥ प्रातःकालीन पवन वृक्षों की

ताम्रोदरेषु पतित तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशद हिमाम्भ ।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे लीलास्मित सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ ७० ॥
यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्राय तावदरुणेन तमो निरस्तम्।
आयोधनाग्रसरता त्वयि वीर ! याते किं वा रिपूँस्तव गुरु स्वयमुच्छिनत्ति ॥ ७१ ॥
शय्या जहत्युभयपक्षविनीतनिद्रा स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते।
येषा विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशा ॥ ७२ ॥
दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु निद्रा विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्या ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहा ॥ ७३ ॥
भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहार. स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्या प्रदीपा ।
अयमपि च गिर नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थ ॥ ७४ ॥
इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रै कुमार सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसै सुरगज इव गाङ्ग सैकत सुप्रतीक ॥ ७५ ॥
अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्ट दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा।
कुशलविरचितानुकूलवेष क्षितिपसमाजमगात्स्वयवरस्थम् ॥ ७६ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये अजस्वयवरा-
भिगमनो नाम पञ्चम सर्ग ॥ ५ ॥

शाखाओं पर झूलनेवाले तथा ढीली कोर के फूलों को गिराता और सूर्य की किरणों से खिले हुए कमलों को छूता हुआ चल रहा है। जैसे तुम्हें जागा हुआ न देखकर वह तुम्हारे मुख की स्वाभाविक सुगन्ध को औरों से लेने का प्रयास कर रहा हो ॥ ६९ ॥ वृक्षों के लाल-लाल पत्तों पर गिरकर हार के उजले मोतियों के समान निर्मल ओस-कण वैसे ही सुन्दर लग रहे हैं, जैसे हँसते समय तुम्हारे लाल-लाल होंठों पर पड़ी हुई दाँतों की दीप्ति सुन्दर लगती है ॥ ७० ॥ सूर्य के उदय होने से पहले ही उनके चतुर सारथी अरुण ने ससार से अँधेरे को भगा दिया। यह ठीक भी है, क्योंकि जब सेवक चतुर होता है, तब स्वामी को स्वय कार्य करने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इसी प्रकार जब तुम्हारे जैसे योग्य पुत्र युद्ध में जाकर लड़ते हैं, तब क्या तुम्हारे पिताजी को शत्रुओं को मारने का कष्ट उठाना पड़ता है ? ॥ ७१ ॥ तुम्हारी सेना के हाथी दोनों ओर करवटें बदलकर खनखनाती हुई साँकलों को खींचते हुए उठ खड़े हुए हैं। लाल सूर्य की किरण पड़ने से उनके दाँत ऐसे लगते हैं कि मानो वे अभी गेरू का पहाड़ ढहाकर चले आ रहे हों ॥ ७२ ॥ हे कमल सदृश नेत्रवाले अज ! बड़े-बड़े पट-मडपों में बँधे तुम्हारे वनायु (पारस) देश के घोड़े नींद छोड़कर सेंधानमक के उन टुकड़ों को अपने मुँह की भाप से मैला कर रहे हैं, जो चाटने के लिए उनके आगे रक्खे हुए हैं ॥ ७३ ॥ इस समय रात की सजावट के फूल मुरझाकर टूक-टूक हो गये हैं। उजाला हो जाने के कारण दीपक का प्रकाश अब अपनी लौ से बाहर नहीं जाता और पिंजरे में बैठा तथा मीठी बोली बोलनेवाला तुम्हारा यह तोता भी हमारी ही बातों को दुहरा रहा है ॥ ७४ ॥ आकाशगगा की रेती में लेटा हुआ देवताओं का सुप्रतीक नामक हाथी जैसे राजहंसों का शब्द सुनकर जाग जाता है, वैसे ही चारणों की मीठी वाणी सुनकर राजकुमार अज उठ बैठे ॥ ७५ ॥ सुन्दर पलकोंवाले राजकुमार अज ने उठकर प्रात काल की सब शास्त्रविहित क्रियाएँ सम्पन्न कीं। बाद में उनके चतुर सेवकों ने उन्हें बहुत सुन्दर वस्त्र पहनाये। इस प्रकार समुचित वेषभूषा से सज-धजकर वे स्वयवर के लिये आये हुए राजसमाज की ओर चल पड़े ॥ ७६ ॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य में अज का स्वयवर-गमन नामक
पाँचवाँ सर्ग समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ सर्ग

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिहासनस्थानुपचारवत्सु।
वैमानिकाना मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्॥ १॥
रतेर्गृहीतानुनयेन काम प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण।
काकुत्स्थमालोकयता नृपाणा मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्॥ २॥
वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमार क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्ग नगोत्सङ्गमिवारुरोह॥ ३॥
परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासन स।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन॥ ४॥
तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्य।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्त पयोमुचा पङ्क्तिषु विद्युतेव॥५॥
तेषा महार्हासनसस्थितानामुदारनेपथ्यभृता स मध्ये।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजात॥ ६॥
नेत्रव्रजा पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतु।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफा॥७॥
अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञै सोमार्कवश्ये नरदेवलोके।
सञ्चारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्ती॥८॥
पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणा कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तास्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे॥९॥

स्वयवर की सभा मे जाकर अज ने देखा कि सुसज्जित मचों पर बैठे हुए राजालोग ऐसे सुन्दर लग रहे हैं, जैसे विमानों पर देवता बैठे हुए हों॥ १॥ वहाँ जब दूसरे राजाओं ने अज को देखा, तब उन्होने इन्दुमती को पाने की सब आशाएँ छोड दीं। क्योंकि अज ऐसे लग रहे थे कि जैसे कामदेव हो और रति की प्रार्थना पर शिवजी ने उसे पुन जीवित कर दिया हो॥२॥ जैसे सिहशावक एक-एक शिला पर पैर रखता हुआ पहाड पर चढ जाता है, वैसे ही राजकुमार अज भी सुन्दर सीढियों पर चढ़कर भोज के बतलाये हुए मच पर जाकर बैठ गये॥ ३॥ जिस सिहासन पर वे बैठे, वह सोने का बना हुआ था। उसमे रत्न जडे थे और रग-बिरगे वस्त्र बिछे थे। उस पर बैठकर वे ऐसे सुन्दर लग रहे थे, जैसे कार्त्तिकेय अपने मोर की पीठ पर बैठे हुए हों॥ ४॥ उस सभा में बैठे राजाओं का ठाट-बाट और तडक-भडक देखकर आँखे चौंधियाँ जाती थीं और ऐसा लगता था कि मानों लक्ष्मी ने अपनी शोभा वैसे ही उन लोगो मे बाँट दी हो, जैसे बिजली अपनी दीप्ति बादलों में बाँट देती है॥५॥ नन्दनवन के वृक्षो मे जैसे पारिजात का वृक्ष सबसे सुन्दर होता है, वैसे ही बहुमूल्य सिहासनों पर बैठे और ठाट-बाट से सजे हुए राजाओं के बीच मे अकेले अज ही जँचते थे॥ ६॥ जैसे भौंरे फूलवाले वृक्षों को छोडकर मदवाही जगली हाथियों की ओर झुक पडते हैं, वैसे ही नगरवासियों की आँखे सब राजाओं से हटकर अज पर जा टिकी॥ ७॥ उसी समय सब राजाओ के वशों को जाननेवाले भाटों ने सूर्य और चन्द्रवशी राजाओं की बिरुदावली बखानी और अगर के सार से बनायी हुई धूप-बत्तियों का धुआँ चारों ओर से उडता हुआ फहराती हुई पताकाओं तक जा पहुँचा॥ ८॥ जिन शखो और मगलवाद्यों के बजने पर

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥ १०॥
तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु॥ ११॥
तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
पवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः॥ १२॥
कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम्।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार॥ १३॥
विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः॥ १४॥
आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः।
तिर्यग्विसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम्॥ १५॥
निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्संनिवेशादधिकोन्नतांसः।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत्॥ १६॥
विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः।
प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः॥ १७॥
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयाऽनुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥ १८॥

नगर के आस-पास की अमराइयों के निवासी मोर उसे बादल की गर्जना समझकर नाचने लगते हैं, उन बाजों की ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं॥ ९॥ इसी बीच विवाह के समय का वेष धारण किये इन्दुमती वर चुनने के लिए पालकी पर चढ़कर मचों के बीचवाले राजमार्ग से आया। उस पालकी को मनुष्य ले चल रहे थे और उसके चारों ओर दासियाँ पैदल चल रही था॥ १०॥ वह कन्या ब्रह्मा की रचना का एक बहुत ही सुन्दर नमूना थी। उसे सैकड़ो आँखे एकटक देख रही थीं। उसकी सुन्दरता देखते ही सब राजाओं का मन तो उस पर चला गया केवल उनके शरीरभर मचों पर रह गये॥ ११॥ राजाओं ने अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए वृक्षों के पत्तो की भाँति अनेक प्रकार से भौंह आदि चलाकर जो शृङ्गारमयी चेष्टाएँ कीं, वे ही मानो उनके प्रेम को इन्दुमती तक पहुँचाने वाली अग्रदूतियाँ थीं॥ १२॥ जैसे—कोई राजा कमल की डंठल पकड़कर घुमाने लगा। उसके घूमने से भौंरे तो भाग गये, परन्तु उसमें जो पराग भरा हुआ था, उसके फैलने से कमल के भीतर चारों ओर एक मण्डल-सा बन गया॥ १३॥ दूसरा विलासी राजा थोड़ा-सा मुँह घुमाकर कन्धे से सरकी और बाजूबन्ध से उलझी हुई रत्नों की माला को उठाकर ठीक से गले मे पहनने लगा॥ १४॥ तीसरा राजा भौंहे चलाकर तथा पैर की उँगली सिकोड़कर पैर के नखों की कान्ति तिरछी डालते हुए सोने के पाँव-पीढ़े पर पैर से कुछ लिखने लगा॥ १५॥ एक राजा सिंहासन पर बाँयी भुजा टेककर बैठ गया और अपने पास बैठे हुए मित्र से बाते करने लगा, जिससे उसका बायाँ कन्धा उठ गया और गले की माला पीठ पर लटक गयी॥ १६॥ एक दूसरा युवा राजा था, जिसके नख मानो प्रियतमा के नितम्बो पर चिह्न बनाने के लिए ही बने हुए थे। वह उन नखों से केतकी के उन पीले पत्तो को नोचने लगा, जो किसी विलासिनी स्त्री के शृङ्गार के लिए कान के आभूषण के रूप में कटे हुए थे॥ १७॥ एक दूसरे राजा ने, जिसकी हथेलियाँ कमल के समान लाल थीं और जिन पर ध्वजा की रेखाएँ बनी हुई थीं, वह अपने हाथो मे पासे उछाल रहा था और उसकी

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे॥ १९॥
ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी।
प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत् सुनन्दा॥ २०॥
असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा॥ २१॥
कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥ २२॥
क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार॥ २३॥
अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्॥ २४॥
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा॥ २५॥
तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम्॥ २६॥
जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते॥ २७॥

अंगूठी की झलक उन पासों पर पड़ रही थी॥ १८॥ एक राजा बार-बार अपने हाथ में उस मुकुट को सीधा कर रहा था, जो पहले से ही सीधा था। ऐसा करने से उसके हाथों की उँगलियों का मध्य भाग रत्नों की किरण से चमक उठता था॥ १९॥ उसी समय पुरुषों जैसी ढीठ और राजाओं के वंशों का वृत्तान्त जानने वाली रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा इन्दुमती को सबसे पहले मगधनरेश के सामने ले गयी और उससे कहने लगी—॥ २०॥ ये महाराज बड़े पराक्रमी हैं और शरण में आनेवालों की रक्षा करते हैं। अपनी प्रजा को सुख देकर इन्होंने बड़ा यश कमाया है। इनका नाम परंतप है और ये वास्तव में परंतप (शत्रुओं) को ताप देने वाले हैं॥ २१॥ जैसे अगणित तारों, ग्रहों और नक्षत्रों से भरी रहने पर भी रात तभी चाँदनी रात कहलाती है जब कि चन्द्रमा खिला हुआ हो। वैसे ही यद्यपि संसार में सहस्रों राजा हैं, किन्तु इन्हीं के रहने से पृथ्वी राजायुक्त कहलाती है॥ २२॥ इन्होंने क्रमशः अनेक यज्ञ करके बार-बार इन्द्र को अपने यहाँ बुलाया है। जिससे इन्द्राणी के सिर की चोटी कल्पवृक्ष के फूलों का शृङ्गार न होने से उनके पीले-पीले गालों पर झूलने लगी। क्योंकि पति के अपने पास न रहने से उन्होंने शृङ्गार करना ही छोड़ दिया था॥ २३॥ यदि इसके साथ तुम विवाह करना चाहो तो अवश्य करो। क्योंकि इनके साथ विवाह करके जब तुम इनकी राजधानी पाटलिपुत्र में पहुँचोगी, तब वहाँ की स्त्रियाँ झरोखों में बैठकर तुम्हें निहारेंगी। जिससे उनकी आँखों को सुख मिलेगा॥ २४॥ सुनन्दा की बातें सुनीं तो इन्दुमती ने तनिक आँख उठाकर उस राजा को देखा तो दूब में गुँथी हुई उसके हाथ की महुए की माला कुछ सरक गयी और बिना कुछ कहे-सुने सीधा-सा प्रणाम करके उसे अस्वीकार करती हुई वह चुपचाप आगे बढ़ गयी॥ २५॥ जैसे मानसरोवर की राजहंसिनी वायु से उठी हुई लहर के सहारे एक कमल से दूसरे कमल पर पहुँच जाती है, उसी तरह सुनन्दा ने राजकुमारी इन्दुमती को दूसरे राजा के आगे पहुँचा दिया॥ २६॥ वह बोली— ये अंग देश के राजा हैं। इनके

अनेन पर्यासयताऽश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु।
प्रत्यर्पिता शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हारा ॥२८॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि! तयोस्तृतीया॥ २९॥
अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥ ३०॥
ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥ ३१॥
अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥ ३२॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि॥ ३३॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्॥ ३४॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
शिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु॥ ३५॥

यौवन को देवताओं की स्त्रियाँ भी चाहती हैं। हाथियों को सधाने की विद्या जानने वाले बड़े-बड़े लोग इनके हाथियों को सिखाते हैं। पृथ्वी पर रहते हुए भी ये इन्द्र के समान सुख भोगते हैं॥ २७॥ जिन राजाओं को इन्होंने युद्ध में मार डाला था, उनकी स्त्रियों ने अपने दिवगत पति के शोक मे मोतियो का हार उतार फेंका। परन्तु रोने के कारण उनके स्तनों पर गिरती हुई अश्रुबिन्दुओं की धाराएँ ही मोतियों के हार जैसी लगने लगीं। उन्हे देखकर ऐसा लगता था कि मानो इन्होंने शत्रुओं की स्त्रियों के गले से मोतियों के हार उतारकर उन्हे आँसुओं के हार पहना दिये हैं।॥ २८॥ यों तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों में कभी नहीं पटती, परन्तु इनके पास वे दोनों ही मिल-जुलकर रहती हैं। हे कल्याणी! तुम सुन्दर हो और तुम्हारी वाणी भी मधुर है। अतः केवल तुम उन दोनो के साथ तीसरी सहचरी बनकर रह सकती हो॥ २९॥ इन्दुमती ने उस अंगदेश के राजा से आँखें हटा लीं और सुनन्दा से कहा—आगे चलो। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर नहीं था और न यही बात थी कि इन्दुमती ने उसे ठीक से देखा नहीं था। लेकिन अपनी-अपनी रुचि ही तो है, किसी को कोई अच्छा लगता है और किसी को कोई भाता है॥ ३०॥ वहाँ से आगे बढकर प्रतिहारी सुनन्दा ने एक दूसरे राजा को दिखलाया, जो शत्रुओं को कँपानेवाला वीर था—जिसका रूप और जिसका यौवन पूर्णिमा के नवोदित चन्द्रमा जैसा सुन्दर था॥ ३१॥ उसे दिखाकर सुनन्दा बोली— देखो, ये जो लम्बी भुजा, चौडी छाती और पतली एवं गोल कमरवाले राजा सूर्य के समान चमक रहे हैं, ये अवन्ति देश के राजा हैं। ऐसा लगता है कि विश्वकर्मा ने अपने शान धरने के चक्र पर इन्हे बडे यत्न से खरादा है॥ ३२॥ जब ये सारी शक्ति के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करते हैं, तब सेना के आगेवाले घोडो की टापो से उड़ी हुई धूल से शत्रुओ के मुकुटस्थ मणियों की चमक धुँधली पड जाती है॥ ३३॥ महाकाल-मन्दिर मे बैठे हुए और सिर पर चन्द्रमा धारण करने वाले शिवजी के पास ही इनका राज-भवन है। अतएव अँधेरे पाख मे भी शिवजी के सिर पर विद्यमान चन्द्रमा की चाँदनी से ये अपनी स्त्रियों के साथ सदा उजेले पाख का आनन्द लिया करते हैं। केले के खम्भे के समान जाँघवाली हे इन्दुमती! क्या तुम उज्जयिनी के उन उद्यानो

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम्॥ ३६॥
तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम्।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदती सुनन्दा॥ ३७॥
सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः॥ ३८॥
अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात्।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता॥ ३९॥
ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात्॥ ४०॥
तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम्॥ ४१॥
आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम्।
धारां शितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम्॥ ४२॥
अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः॥ ४३॥

में विहार करना चाहती हो, जिनमें दिन-रात शिप्रा नदी की ठंढी वायु बहती रहती है॥ ३४-३५॥ सुनन्दा की ये बातें सुन करके भी सुकुमारी इन्दुमती को मित्रों को प्रसन्न करने और शत्रुओं को मारनेवाला वह प्रतापी राजा अच्छा नहीं लगा, जैसे कुमुदिनी को सूर्य नहीं भाता। जो कमल को तो खिलाता है, किन्तु शत्रु रूप कीचड़ को सुखा दिया करता है॥ ३६॥ कमल जैसी सुन्दरी, असाधारण गुणवती, विधाता की सुन्दर रचना और सुन्दर दाँतोंवाली इन्दुमती को सुनन्दा वहाँ से हटाकर अनूप देश के राजा के आगे ले जाकर बोली—॥ ३७॥ बहुत दिनों पहले कार्तवीर्य नाम के एक बहुत बड़े योगी हो गये हैं। उनमें विशेषता यह थी कि जब वे लड़ने जाते थे, तब उनके सहस्रों हाथ निकल आते थे। उन्होंने अठारह द्वीपों में जाकर यज्ञ के खम्भे गाड़े थे। वे ऐसे प्रतापी थे कि उनके सामने कोई अपने को राजा नहीं कह पाता था॥ ३८॥ उस समय यदि कोई पाप करने का विचार करता था तो वे धनुष-बाण लेकर उसके समक्ष जा पहुँचते थे। ऐसा करके उस दण्डधारी राजा ने सब लोगों के मन से पापभावना निकाल डाली थी॥ ३९॥ जिस रावण ने इन्द्र को जीत लिया था, उसको भी उन्होंने अपने कारागार में बन्द कर दिया और उसकी भुजाएँ इस प्रकार धनुष की डोरी से कसकर बाँध दीं कि वह बेचारा दिन-रात गरम साँसें लेता रहा और जब तक कार्तवीर्य उस पर प्रसन्न नहीं हुए तब तक उसे नहीं छोड़ा॥ ४०॥ उन्हीं कार्तवीर्य नाम से प्रसिद्ध राजा के वंश में ये उत्पन्न हुए हैं। ये वेदों और वृद्धों की बड़ी सेवा करते हैं। लक्ष्मी पर लोग चंचलता का दोष लगाते थे, परन्तु उनका वह दोष भी तब से धुल गया, जब से वे इनके साथ रहने लगीं। क्योंकि लक्ष्मी तो उसी पुरुष को छोड़कर जाती हैं, जो व्यसनी होते हैं। इनमें कोई व्यसन नहीं है, तब वे इन्हें छोड़कर क्यों जायँ॥ ४१॥ ये इतने बलवान् हैं कि अग्नि की सहायता पा लेने से परशुरामजी के उस फरसे की तेज धार को भी पखुड़ीदार कमल के समान कोमल समझते हैं, जिसने युद्ध में क्षत्रियजाति का संहार कर दिया था॥ ४२॥ यदि तुम राजमहल के झरोखों से उस सुन्दर लहरोंवाली नर्मदा का सुन्दर दृश्य देखना चाहती हो, जो माहिष्मती नगरी के चारों ओर करधनी जैसी घूमी हुई है तो इस महाबाहु राजा के साथ विवाह कर लो॥ ४३॥

तस्या प्रकाम प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोध शशीव पर्याप्तकलो नलिन्या ॥४४॥
सा शूरसेनाधिपति सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम्।
आचारशुद्धोभयवशदीप शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी॥४५॥
नीपान्वय पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण।
सिद्धाश्रम शान्तमिवेत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोध ॥४६॥
यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमाशोरिव सन्निविष्टा।
हर्म्याग्रसरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्य रिपुमन्दिरेषु॥४७॥
यस्यावरोधस्तनचन्दनाना प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरा गताऽपि गङ्गोर्मिससक्तजलेव भाति॥४८॥
त्रस्तेन ताक्ष्यात्किल कालियेन मणि विसृष्ट यमुनौकसा य ।
वक्ष स्थलव्यापिरुच दधान सकौस्तुभ ह्रेपयतीव कृष्णम्॥४९॥
सम्भाव्य भर्तारममु युवान मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यता सुन्दरि! यौवनश्री ॥५०॥
अध्यास्य चाम्भ पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिना प्रावृषि पश्य नृत्य कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु॥५१॥
नृप तमावर्तमनोज्ञनाभि सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री।
महीधर मार्गवशादुपेत स्रोतोवहा सागरगामिनीव॥५२॥

जैसे बादलविहीन आकाशवाली शरदऋतु का पूर्ण चन्द्रमा भी कमलिनी को नहीं भाता, वैसे ही वह सुन्दर राजा भी इन्दुमती को नहीं जँचा॥४४॥ तब रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा राजकुमारी को मथुरा के राजा सुषेण के आगे ले गयी, जिसकी कीर्ति स्वर्ग के देवता भी गाते थे और जिसने अपने शुद्ध चरित्र से माता और पिता दोनों के कुलों को उज्ज्वल कर दिया था। उसे दिखलाती हुई सुनन्दा बोली—॥४५॥ ये मथुरा के महाराज बड़ी विधि से यज्ञ करते हैं और प्रशसनीय वश मे उत्पन्न हुए हैं। जैसे ऋषियों के शान्त आश्रमों मे सब जीव वैर छोड़कर एक साथ रहते हैं, वैसे ही विद्वत्ता और मौनता—ये परस्पर विरोधी गुण भी इनमे साथ-साथ रहते हैं॥४६॥ चन्द्रमा की चाँदनी की तरह आँखों को सुखदायी इनका प्रकाश तो घर मे रहता है, किन्तु सूर्य के समान प्रचण्ड तेज शत्रुओं के उन राजभवनों पर छाया रहता है, जिनके उजड जाने पर उनमे घास जम गयी रहती है॥४७॥ जल-विहार के समय इनकी रानियों के स्तनो पर लगा हुआ चन्दन जल में मिलकर जब यमुना में बहता है, उस समय यमुनाजी का रग ऐसा हो जाता है कि मानो मथुरा मे ही उनका गगाजी की लहरों से सगम हो गया हो॥४८॥ अपने गले में जब ये उस मणि को पहन लेते हैं, जो इन्हें उस कालिय नाग से मिली थी, जो गरुड़ के डर से यमुना के जल मे रहने लगा था। उस समय इनकी शोभा कौस्तुभ मणि पहनकर सुशोभित श्रीकृष्णजी की शोभा को भी लजा देती है॥४९॥ हे सुन्दरी! इनके साथ विवाह करके आप कुबेर के चैत्ररथ उद्यान से भी सुन्दर वृन्दावन मे कोमल पत्तों और फूलों की शय्याओ पर इच्छानुसार विहार करें॥५०॥ वर्षा के दिनों में गोवर्धन पर्वत की गुफाओ में पानी के फुहारों से भींगी शिलाजीत की गन्धवाली पत्थर की चट्टानों पर बैठकर मोरों का नाच देखें॥५१॥ पानी की भँवर जैसी गहरी नाभिवाली और अन्य किसी से विवाह न करने वाली इन्दुमती राजा सुषेण को छोड़कर वैसे ही आगे बढ़ गयी, जैसे समुद्र की ओर जानेवाली नदी बीच मे पड़नेवाले पहाड़ों को छोड़ देती है॥५२॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम्।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे॥५३॥
असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः॥५४॥
ज्याघातरेखे सुभुजौ भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
रिपुश्रिया साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे॥५५॥
यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम्॥५६॥
अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥५७॥
प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात्॥५८॥
अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य।
इतश्चकोराक्षि! विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम्॥५९॥
पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥६०॥
विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निः शेषपीतोज्झितसिन्धुराजः।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः॥६१॥

वहाँ से आगे बढ़कर दासी सुनन्दा पूर्ण चन्द्रमा जैसी मुखवाली इन्दुमती को उस कलिङ्गनरेश हेमाङ्गद के समक्ष ले गयी, जो अपनी बाँह में भुजबन्ध पहने हुए थे और जिन्होंने अपने शत्रुओं को नष्ट कर दिया था। उन्हें दिखलाती हुई सुनन्दा ने कहा—॥५३॥ ये महेन्द्र पर्वत के समान शक्तिशाली हैं और महेन्द्र पर्वत तथा समुद्र दोनो पर इनका अधिकार है। जब ये युद्ध करने चलते हैं, उस समय इनके आगे-आगे चलने वाले मतवाले हाथी ऐसे लगते हैं, मानो हाथियों का वेष बनाकर स्वयं महेन्द्र पर्वत चल रहा हो॥५४॥ इनको देखो, कैसी सुन्दर इनकी भुजाएँ हैं। धनुषधारियों मे इनसे बढ़कर कोई नहीं है। इनकी भुजाओं पर जो दो काली-काली रेखाएं धनुष की डोरी खींचने से बन गयी हैं, वे ऐसी लगती हैं कि मानो ये शत्रुओं की उस राज्यलक्ष्मी के आने की दो पगडंडियाँ हैं, जो इन्होंने शत्रुओं से छीन ली हैं और जिनके कजरारे नेत्रों से बहे हुए आँसुओं के कारण ये काले पड़ गये हैं। इनके राजभवन के नीचे ही समुद्र हिलोरें लेता है। उसकी लहरें राजभवन के झरोखों से साफ दिखलाई देती हैं। जब ये अपने राजमहल मे सोते हैं, तब वह समुद्र ही नगाड़े की ध्वनि से भी गंभीर अपने गर्जन द्वारा सबेरे इन्हें जगाता है॥५५-५६॥ तुम्हारी इच्छा हो तो इनके साथ विवाह करके समुद्र के उन तटों पर विहार करो, जहाँ दिन-रात ताड के जंगलो की तड़तड़ाहट सुनाई देती रहती है। वहाँ जब तुम्हें पसीना होगा, तब लौंग के फूलों की सुगन्ध मे सुवासित एवं दूसरे द्वीपो से आया हुआ शीतल पवन तुम्हारा पसीना पोंछ दिया करेगा॥५७॥ अपनी दासी की लुभावनी बातों को सुनकर भी विदर्भराज की छोटी बहन सुन्दरी इन्दुमती उस राजा को छोडकर उसी प्रकार आगे बढ़ गयी, जैसे पुरुषार्थ से प्राप्त सम्पदा भाग्य के फेर से छोडकर चली जाती है॥५८॥ उसके बाद सुनन्दा उसे देवता सदृश मनोहर नागपुर के राजा के पास ले जाकर बोली—हे चकोरनयनी! इधर देखो—॥५९॥ ये पाड्य देश के राजा हैं। इनके कंधे पर हार लटकता है और शरीर पर हरिचन्दन का लेप किया हुआ है। इस वेश मे ये उस हिमालय के शिखर जैसे सुन्दर दीख रहे हैं, जो प्रातःकाल की धूप से लाल हो गया हो और जिस पर से पानी के अनेक झरने गिर रहे हों॥६०॥ अश्वमेध यज्ञ करके जब ये स्नान करते

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की सन्धाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥
अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥
ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥
इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥
स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥
सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥
तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥
तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥ ६९ ॥
तस्मिन्समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

हैं, तब महाप्रतापी वे महर्षि अगस्त्य इनसे कुशल-क्षेम पूछने आते हैं, जिन्होंने विन्ध्याचल को आगे बढ़ने से रोका था और पूरे समुद्र को पीकर फिर निकाल दिया था॥ ६१॥ महाप्रतापी रावण जब इन्द्र को जीतने चला, तब उसने इस डर से इनके साथ सन्धि कर ली थी कि कहीं ऐसा न हो कि ये मेरे देश को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। क्योंकि इन्होंने शिवजी से बड़ा प्रतापशाली अस्त्र प्राप्त किया है॥ ६२॥ ये बड़े अच्छे कुल में उत्पन्न हुए हैं और तुम भी पृथ्वी के समान महिमामयी हो। इनके साथ विधिवत् विवाह करके तुम रत्नों से भरी उस दक्षिण देश की पृथ्वी की सौत बन जाओ, जिसकी मेखला रत्नों से भरा हुआ समुद्र है॥ ६३॥ यदि तुम मलय पर्वत की उन घाटियों में सदा विहार करना चाहो, जिनमें पान की बेलों से ढँके हुए सुपारी के पेड़ खड़े हैं, इलायची की बेलों से लिपटे हुए चन्दन के पेड़ लगे हुए हैं और स्थान-स्थान पर ताड़ के पत्ते फैले हुए हैं तो तुम इनके साथ विवाह कर लो॥ ६४॥ और फिर ये नीलकमल के समान साँवले हैं और तुम गोरोचन सदृश गोरी हो। अतएव यदि तुम दोनों का विवाह हो जायगा तो तुम ऐसी सुन्दर लगोगी, जैसे बादल के साथ बिजली चमकती है॥ ६५॥ किन्तु सुनन्दा की ये बातें इन्दुमती के मन में वैसे ही घर नहीं कर सकीं, जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर बन्द कमल के भीतर चन्द्रमा की किरणें नहीं पहुँच पातीं॥ ६६॥ रात को लोग जब दीपक लेकर चलते हैं, तब राजमार्ग के जो-जो भवन पीछे छूटते हैं, वे अँधेरे में पड़ते जाते हैं। उसी प्रकार जिन-जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ गयी, उनका मुँह उदास हो गया॥ ६७॥ क्रमशः जब वह रघु के पुत्र अज के आगे आयी, तब अज के मन में भी संशय होने लगा कि यह मुझे वरेगी या नहीं। किन्तु उसी समय भुजबन्ध के पास उनकी दाईं भुजा फड़कने लगी, जिससे उनकी शंका निवृत्त हो गयी॥ ६८॥ इन्दुमती ने सर्वाङ्गसुन्दर राजा अज को जब देखा, तब वह वहीं रुक गयी और फिर किसी राजा के आगे नहीं जा पायी। क्योंकि जब भौंरों का झुण्ड आम के वृक्ष पर पहुँचता है, तब उसे दूसरे वृक्षों के पास जाने की इच्छा नहीं रहती॥ ६९॥ बात करने में बड़ी चतुर सुनन्दा ने जब देखा कि चन्द्रमा

इक्ष्वाकुवंश्य ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥७१॥
महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥७२॥
ऐरावतास्फालनविश्लथं यः सङ्घट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितस्थौ॥७३॥
जातः कुले तस्य कुलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥७४॥
यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥७५॥
पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम्॥७६॥
आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम्॥७७॥
असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति॥७८॥
कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन॥७९॥

के समान मुखवाली इन्दुमती अज के रूप पर मुग्ध हो गयी है, तब वह बहुत विस्तार के साथ बात बनाती हुई बोली॥७०॥ देखिए इक्ष्वाकुवंश के सब राजाओं में श्रेष्ठ तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त ककुत्स्थ नाम के राजा हो गये हैं। जिनके कारण उनके बादवाले उत्तरकोशल के सभी राजा अपने को काकुत्स्थ कहते हैं॥७१॥ उन राजा ककुत्स्थ ने युद्ध में जब असुरों को मारा था, तब वे बैल पर सवार शिवजी के समान लगते थे। उस समय स्वयं इन्द्र भगवान् उनके बैल बने थे और उस युद्ध में उन्होंने जिन असुरों को मार डाला था, उनकी स्त्रियों ने पतियों से बिछुड़ जाने के कारण अपने कपोलों पर चित्रकारी करना छोड़ दिया था॥७२॥ युद्ध की समाप्ति पर जब इन्द्र अपने सही रूप में ऐरावत पर चढ़कर स्वर्ग जाने लगे, तब उनके साथ ककुत्स्थ भी बैठे थे। उस समय वे इन्द्र की देह से ऐसे सटे हुए थे कि ऐरावत को बार-बार अंकुश लगाने से इन्द्र के जो भुजबन्ध ढीले पड़ गये थे, वे ककुत्स्थ के भुजबन्ध से बराबर रगड़ खाते चलते थे॥७३॥ उन्हीं प्रतापशाली ककुत्स्थ के वंश में यशस्वी राजा दिलीप जनमे। जो केवल निन्यानबे यज्ञ करके ही इसलिए चुप हो गये कि कहीं सौ यज्ञ पूरा करने से इन्द्र को दुःख न हो॥७४॥ राजा दिलीप ऐसे अच्छे ढंग से अपना राजकार्य चलाते थे और उनका ऐसा प्रभाव था कि मद पीकर उपवनों में सोई हुई स्त्रियों के वस्त्रों को वायु भी नहीं छू सकता था, फिर उन्हें हटाने का साहस भला कोई कैसे करता॥७५॥ बाद में उन्हीं के पुत्र राजा रघु हुए। जिन्होंने सब देशों को जीतकर अपार सम्पदा जुटायी और विश्वजित् यज्ञ में अपना सब धन खर्च कर दिया। इससे वे ऐसे अकिंचन हो गये कि केवल एक मिट्टी का पात्रभर उनके पास शेष रह गया॥७६॥ उनका यश कहाँ तक फैला है, उसकी थाह ही नहीं है। पर्वतों पर, समुद्र-पार, पाताल में, नागों के देश में, आकाश में, सब दिशाओं में और भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान तीनों कालों में सर्वत्र उसका यश फैला हुआ है॥७७॥ जैसे देवराज इन्द्र के परम प्रतापी पुत्र जयन्त हुए थे, वैसे ही ये कुमार अज भी उन्हीं प्रतापी रघु के पुत्र हैं और अपने प्रतापी पिता के समान ही ये भी राज्य का सब काम सँभाले हुए हैं॥७८॥ इनका

तत सुनन्दावचनावसाने लज्जा तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमार प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव॥८०॥
सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्ध शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टि भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्या॥८१॥
तथागताया परिहासपूर्व सख्या सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्ये! व्रजामोऽन्यत इत्यथैना वधूरसूयाकुटिल ददर्श॥८२॥
सा चूर्णगौर रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्या करभोपमोरु।
आसञ्जयामास यथाप्रदेश कण्ठे गुण मूर्तमिवानुरागम्॥८३॥
तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्ष स्थललम्बया स।
अमस्त कण्ठार्पितबाहुपाशा विदर्भराजावरजा वरेण्य॥८४॥
शशिनमुपगतेय कौमुदी मेघमुक्त जलनिधिमनुरूप जह्नुकन्याऽवतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौरा श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्य विवव्रु॥८५॥
प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत् क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्म कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत्॥८६॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयवरवर्णनो नाम षष्ठ सर्ग॥६॥

कुल, इनका रूप, इनका यौवन और इनकी नम्रता—ये सब गुण ठीक तुम्हारे जैसे हैं। तुम इनसे अवश्य विवाह कर लो। जिससे रत्न और सोने का सही-सही सयोग हो जाय॥७९॥ इस प्रकार जब सुनन्दा कह चुकी, तब इन्दुमती ने नि सकोच भाव से अपनी हँसती हुई आँखे अज पर डालीं और आँखों ही आँखो से उन्हे वर लिया। जैसे वह दृष्टि ही स्वयवर की माला थी॥८०॥ लाज के मारे इन्दुमती अपने प्रेम की बात अज को तो नहीं जता सकी, परन्तु उस प्रेम के कारण उसे रोमाच हो आया। जिससे घुँघराले बालोवाली इन्दुमती के हृदय का वह प्रेम छिपाये नहीं छिप सका। जैसे उन खड़े रोगटों के रूप मे वह प्रेम ही शरीर फोड़कर बाहर निकल आया हो॥८१॥ जब सुनन्दा ने इन्दुमती की यह दशा देखी तो ठठोली करते हुए उसने कहा—आर्ये! चलिए, आगे बढ़िए। तब आँखे तरेरकर इन्दुमती ने सुनन्दा की ओर निहारा॥८२॥ तदनन्तर हाथी की सूँड जैसी जघाओंवाली इन्दुमती ने वह स्वयवर की माला सुनन्दा के हाथों रघुतनय अज के गले मे पहनवा दी। उस समय माला के डोरे मे लगी हुई रोली साक्षात् अनुराग के समान दीख रही थी॥८३॥ अज के गले मे जब वह फूलो की मगलमयी माला पड़ी और उनकी चौड़ी छाती पर झूलने लगी, तब उसे देखकर अज ने यही समझा कि मानो इन्दुमती ने मेरे गले में अपनी भुजाएँ ही डाल दी हैं॥८४॥ वहाँ के नगरवासियो ने जब देखा कि समान गुणवाले अज और इन्दुमती का सम्बन्ध हो गया, तब वे एक साथ बोल उठे। वे कहने लगे कि यह तो चाँदनी और चन्द्रमा का मेल हुआ है अथवा गगाजी समुद्र में जा मिली हैं। उनकी इन बातों को सुन-सुनकर अन्य राजा मन ही मन कुढ रहे थे॥८५॥ उस स्वयवर-मडप मे एक ओर अज के पक्षवाले लोग हँसते हुए खड़े थे और दूसरी ओर उदास मुँहवाले राजा थे। उस समय वह मण्डप प्रात काल के उस सरोवर सरीखा दीखने लगा, जिसमे एक ओर विकसित कमल हों और दूसरी ओर सम्पुटित कुमुदों का झुण्ड खड़ा हो॥८६॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य में स्वयवर-वर्णन नामक
छठा सर्ग समाप्त॥६॥

सप्तम सर्ग

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्।
स्वसारमादाय विदर्भनाथ पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥
सेनानिवेशान् पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभास ।
भोज्या प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूया ॥ २ ॥
सान्निध्ययोगात्किल तत्र शच्या स्वयवरक्षोभकृतामभाव ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोक ॥ ३ ॥
तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वर स वध्वा सह राजमार्ग प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥
ततस्तदालोकनतत्पराणा सौधेषु चामीकरजालवत्सु।
बभूवुरित्थ पुरसुन्दरीणा त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥
आलोकमार्ग सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्य ।
बद्धु न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाश ॥ ६ ॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्का पदवीं ततान ॥ ७ ॥
विलोचन दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसन्निकर्ष ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥

स्वयवर के बाद योग्य वर से युक्त अपनी बहिन इन्दुमती को लेकर विदर्भ-नरेश नगर की ओर चले। उस समय अपनी पत्नी इन्दुमती के साथ जाते हुए अज ऐसे दीख रहे थे, जैसे देवसेना के साथ साक्षात् कार्तिकेय जा रहे हों॥ १ ॥ अन्यान्य राजा भी प्रात कालीन तारों के समान अपना उदास मुँह लिये अपने-अपने डेरो पर चले गये। वे सब कह रहे थे कि जब इन्दुमती नहीं मिली, तब हमारा यह रूप और यह वेश व्यर्थ है॥ २॥ उस स्वयवर मे साक्षात् इन्द्राणी उपस्थित थीं, इसी से वहाँ किसी राजा का साहस नहीं हुआ कि कुछ गडबडी करे। यों तो वे हारे हुए सभी राजा अज से मन ही मन जलते थे, किन्तु इन्द्राणी की उपस्थिति से उनका भी क्रोध शान्त हो गया॥ ३॥ अज अपनी पत्नी के साथ उस समय नगर के बीच वाले राजपथ पर चल रहे थे। जगह-जगह उन पर सुन्दर ताजे फूल बरसाये जा रहे थे और इन्द्रधनुष जैसे रग-बिरगे तोरण उनके स्वागतार्थ सजाये गये थे। नगर में इतनी झण्डियाँ लगी थी कि उनसे धूप रुक गयी थी॥ ४॥ उन्हे देखने के लिए नगर की सुन्दरियाँ अपना सारा काम छोडकर अपने भवनों के झरोखों की ओर दौड पडीं॥ ५॥ उनमे से एक सुन्दरी उन्हें देखने के लिए जब झरोखे की ओर बढी, तब सहसा उसका जूडा खुल गया। किन्तु उस हडबडी मे उसे अपना जूडा बाँधने की भी सुधि नहीं रही और वह केश हाथ मे थामे ही खिडकी पर जा पहुँची। बालों के ढीले पड जाने से उनमें गुँथे हुए फूल बराबर गिरते जा रहे थे॥ ६ ॥ एक दूसरी स्त्री शृङ्गार करने वाली अपनी दासी से पैर मे महावर लगवा रही थी। वह पैर खींचकर गीले पैरों से ही झरोखे की ओर दौड पडी। जिससे झरोखे तक उसके लाल-लाल पैरों की छाप की पाँत-सी बन गयी॥ ७॥ एक तीसरी स्त्री आँखो में आँजन लगा रही थी। वह दाईं आँख में तो अजन लगा चुकी थी, परन्तु बाँई आँख में

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्ना न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वास ॥ ९ ॥
अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थिताया पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥
तासा मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तरा सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥
ता राघव दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासा सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥
स्थाने वृता भूपतिभि परोक्षै स्वयवर साधुममस्त भोज्या।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्त कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥
परस्परेण स्पृहणीयशोभ न चेदिद द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्न पत्यु प्रजाना वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥
रतिस्मरौ नूनमिमावभूता राज्ञा सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ १५ ॥
इत्युद्गता पौरवधूमुखेभ्य शृण्वन्कथा श्रोत्रसुखा कुमार ।
उद्भासित मङ्गलसविधाभि सम्बन्धिन सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

लगाये बिना सलाई हाथ मे लिये हुए ही झरोखे की ओर चली गयी॥८॥ एक और स्त्री झरोखे में आँखे गडाये खडी थी। सहसा उसका नारा खुल गया, परन्तु उसको बाँधने की उसे सुधि ही नहीं थी। वह कपडे हाथ मे थामे इस प्रकार खड़ी थी कि उसके हाथ के आभूषणो की चमक उसकी नाभि तक जा पहुँचती थी॥९॥ एक स्त्री बैठी-बैठी मणियों की तागडी गूँथ रही थी। सो उसका एक छोर उसने एक पैर के अँगूठे में बाँध रक्खा था। अभी आधी ही तागड़ी पिरो पायी थी कि सहमा उठकर अज को देखने के लिए झरोखे की ओर दौड़ी। जिसका फल यह हुआ कि वहाँ पहुँचते-पहुँचते मणियाँ तो निकल-निकल कर बिखर गयीं और केवल उसका डोराभर पाँव में बँधा रह गया॥१०॥ मदिरा की गन्ध से सुवासित मुखों वाली और झरोखों में उत्सुकता से झाँकती हुई वे स्त्रियाँ ऐसी लगती थीं, जैसे उन झरोखो मे बहुत-से कमल सजे हों और उन पर बहुत से भौंरें बैठे हुए हों। क्योंकि उनके सुन्दर मुखों पर आँखे ऐसी लगती थीं, जैसे कमलों पर भौंरें बैठे हों॥११॥ वे स्त्रियाँ टकटकी लगाकर अपने नेत्रो से अज का रूप इस तरह पी रही थीं कि उनका ध्यान किसी अन्य काम की ओर गया ही नहीं। जैसे उनकी सब इन्द्रियों की शक्ति एकमात्र आँखों मे ही जुट गया हो॥१२॥ वे स्त्रियाँ आपस मे कह रही थीं—वैसे तो बहुत-से राजाओं ने स्वत आकर इन्दुमती से विवाह की प्रार्थना की थी, किन्तु राजकुमारी ने स्वयवर करके ही अपना विवाह करना उचित समझा और यह ठीक भी था। जैसे स्वयवर मे लक्ष्मी ने नारायण को वरा था, वैसे ही इन्दुमती ने अज को वर लिया है। बिना स्वयवर के उसे ऐसा वर कैसे मिल सकता था॥१३॥ ब्रह्मा यदि परस्पर शोभा की होड़ करने वाली इस सुन्दर जोड़ी को न मिलाते तो इनको सुन्दर बनाने का उनका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता॥१४॥ पिछले जन्म मे ये दोनो रति और कामदेव ही रहे होंगे। तभी तो सहस्रों राजाओं के बीच मे इन्दुमती ने इन्हे पा लिया। क्योंकि मन पिछले जन्म के सम्बन्ध को भलीभाँति पहचानता है॥१५॥ नगर की उन महिलाओं के मुँह से ऐसी मीठी बाते सुनते हुए कुमार अज अपने सम्बन्धी भोज के उस राजमहल में पहुँचे, जो मगलमयी सामग्रियों की सजावट मे जगमगा रहा था॥१६॥ वहाँ पहुँचकर वे तुरन्त हथिनी से नीचे

ततोऽवतीर्याशु करेणुकाया स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
वैदर्भीनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥१७॥
महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम्।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥१८॥
दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥
तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाऽग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार॥२०॥
हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन॥२१॥
आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन॥२२॥
तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि॥२३॥
प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम्॥२४॥
नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ॥२५॥
हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे॥२६॥

उतरे और कामरूप के राजा के हाथ मे हाथ डालकर विदर्भराज के बतलाये भीतरी चौक में ऐसे पैठे, जैसे वे वहाँ की स्त्रियों के मन मे पैठ गये हों॥१७॥ वहा वे एक सुन्दर और बहुमूल्य सिंहासन पर जाकर बैठे। तब भोज ने उन्हे रेशमी वस्त्रों के एक जोडे के साथ जो दही, मधु और घी मिला हुआ मधुपर्क भेंट किया, उसे उन्होंने वहाँ की स्त्रियों की बाँकी चितवन के साथ-साथ ले लिया॥१८॥ चन्द्रमा की नयी किरणे जैसे समुद्र के उजले फेन वाली लहरो को किनारे तक खींच ले आती है, वैसे ही रनिवास के विनम्र सेवक युवराज अज को इन्दुमती के पास ले गये॥१९॥ वहाँ अग्नि के समान तेजस्वी विदर्भराज के पुरोहित ने घी आदि सामग्रियों मे हवन करने के बाद उसी अग्नि को साक्षी बनाकर वर और वधू का ग्रन्थिबन्धन कर दिया॥२०॥ जैसे आम्रवृक्ष अपनी पत्तियो के साथ अशोकलता की लाल पत्तियो के साथ मिल जाने से मनोहर लगता है, वैसे ही जब अज ने अपनी पत्नी इन्दुमती का हाथ थामा, तब वे बहुत सुन्दर दिखने लगे थे॥२१॥ पत्नी का हाथ थामने से अज के गट्टे पर रोमाच हो आया और इन्दुमती की उँगलियों मे पसीना आ गया। उस समय ऐसा लगा कि मानो कामदेव ने अपना प्रेमभाव उन दोनों मे समान रूप से बाँट दिया हो॥२२॥ वे दोनों कनखियो से एक-दूसरे को देखते थे और आँखे मिलते ही लज्जा से आँखें नीची कर लेते थे। उनका वह लाजभरा सकोच दर्शकों को बडा सुन्दर लग रहा था॥२३॥ जब अज और इन्दुमती हवन के अग्निकुण्ड का फेरा देने लगे, उस समय ऐसा लगा कि जैसे रात और दिन का जोडा मिलकर दोनों सुमेरु पर्वत की फेरी कर रहे हों॥२४॥ तदनन्तर बडे-बडे नितम्बो से युक्त एव मस्त चकोर जैसी आँखो वाली लजाली इन्दुमती ने ब्रह्मा के सदृश पूज्य पुरोहित के कहने से अग्नि में धान की खीलें डालीं॥२५॥ घी, शमी के पत्तों तथा धान की खीलो

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम्।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ २७ ॥
तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥
इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः सम्पाद्य पाणिग्रहणं स राजा।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ २९ ॥
लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥ ३० ॥
स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम्।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥
भर्ताऽपि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥
तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥
प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥
तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

की गन्ध से भरा पवित्र धुआँ अग्नि से निकलकर जब इन्दुमती के कपोल तक पहुँचा, तब ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो इन्दुमती ने नीलकमल का कर्णफूल पहन रक्खा हो॥ २६ ॥ उस विवाह की अग्नि का धुआँ लगने से इन्दुमती की आँखों से अंजनमिश्रित आँसू निकलने लगे, उनसे उनके कानों के कर्णफूल कुम्हला गये और गाले लाल हो गये॥ २७॥ फेरे हो चुकने के बाद सोने के सिंहासन पर बैठे हुए वर-वधू के ऊपर स्नातकों ने, कुटुम्बियों ने, भोजराज और पुरोहित ने बारी-बारी से गीले अक्षत छोड़कर आशीर्वाद दिये॥ २८ ॥ भोजकुल के दीपक लक्ष्मीवान् उस राजा ने अपनी बहन का विवाहसंस्कार पूरा करने के बाद सेवकों को आज्ञा दी कि वे अलग-अलग सभी राजाओं का आदर-सत्कार करें॥ २९ ॥ जिसके निर्मल जल में घड़ियाल छिपा बैठा हो, उस सरोवर के समान दूसरे राजा ऊपर से तो बड़े प्रसन्न दिखलाई देते थे, परन्तु मन ही मन कुढ़े हुए थे। अतः वे सब विदर्भराज से आज्ञा ले और उनकी दी हुई सामग्री भेंट के बहाने लौटाकर अपने-अपने देशों को लौट गये॥ ३० ॥ उन राजाओं ने पहले निश्चय कर लिया था कि अज इन्दुमती को लेकर चले तो उन्हें घेर लिया जाय और उनसे सुन्दरी इन्दुमती को छीन लिया जाय। सो वे सब अज का मार्ग रोककर बीच में रुक गये॥ ३१ ॥ इधर छोटी बहन का विवाह करके विदर्भराज ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार धन देकर रघु के पुत्र अज को विदा किया और उनके साथ कुछ दूर तक जाकर पहुँचाने गये॥ ३२ ॥ कुण्डिनपुर के राजा भोज ने त्रिलोकविख्यात अज के साथ मार्ग में तीन रातें बितायीं और उसके बाद वैसे ही लौटे, जैसे अमावस्या को सूर्य के पास से चन्द्रमा लौट पड़ता है॥ ३३ ॥ जो राजा मार्ग रोककर खड़े थे, उनका कोशलपति रघु ने दिग्विजय के समय सब धन ले लिया था। इसलिए वे पहले से ही उनसे वैर रखते थे। इसी कारण वे यह नहीं सह सके कि रघु का पुत्र हम लोगों के रहते स्त्रियों में रत्नस्वरूपा इन्दुमती को ले जाय॥ ३४॥ अज जब इन्दुमती को लिये जा रहे थे, उस समय उन अभिमानी राजाओं ने अज को उसी प्रकार रोक लिया,

तस्या स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्य सचिव कुमार ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं ता भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्ग ॥३६॥
पत्ति. पदाति रथिन रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम्।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थ तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम्॥३७॥
नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान्।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जित चापभृत शशसु ॥३८॥
उत्थापित सयति रेणुरश्वै सान्द्रीकृत स्यन्दनवशचक्रै ।
विस्तारित. कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम्॥३९॥
मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखै प्रवृद्धध्वजिनीरजासि।
बभु पिबन्त परमार्थमत्स्या पर्याविलानीव नवोदकानि॥४०॥
रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नाग ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोध ॥४१॥
आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाह ॥४२॥
स च्छिन्नमूल क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूत ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे॥४३॥
प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तृनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
ये सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नु ॥४४॥

जैसे इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर ने वामन के चरण को उस समय रोक लिया था, जब वलि की राज्य-लक्ष्मी लेकर चले जा रहे थे॥ ३५॥ तब अज ने अपने पिता के मन्त्री को आज्ञा दी कि आप थोड़े-से योद्धा लेकर इन्दुमती की रक्षा करें। स्वय उस राजसघ की सेना को रोककर उसी प्रकार खडे हो गये, जैसे बाढ़ के दिनों में ऊँची तरगों वाला शोणनद गङ्गाजी की धारा को रोक लिया करता है॥ ३६॥ बस, लड़ाई छिड़ गयी। पैदल पैदलों से, रथवाले रथवालों से, घुड़सवार घुडसवारों से और हाथीसवार हाथीसवारों से भिड़ गये। इस प्रकार बराबर जोड़े की लडाई होने लगी॥ ३७॥ उस समय वहाँ इतनी तुरहियाँ बज रही थीं कि कुछ सुनाई ही नहीं देता था। इसलिए धनुषधारीगण अपना कुल और नाम भी नहीं बतला पाते थे। वहाँ वे जो बाण चला रहे थे, उन पर खुदे हुए अक्षरों से उनके नामों का पता लग पाता था॥ ३८॥ उस युद्धक्षेत्र मे घोड़ों की टाप से जो धूल उड़ी थी, उसमे रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल मिलकर और भी घनी हो गयी। हाथियों के कानों के डुलाने से वह धूल चारों तरफ इस तरह फैल गयी कि जैसे सूर्य को कपडे से ढाँक दिया गया हो॥ ३९॥ वायु के झोंके से सेना की मछली के आकार वाली झण्डियों के मुँह खुल गये थे। उनमे जब धूल घुमने लगी, तब वे ऐसी जान पडती थीं कि मानो वर्षा का गँदला पानी पीने वाली सच्ची मछलिया हों॥ ४०॥ उस युद्ध मे इतनी धूल उडी कि वहाँ पर सैनिकों ने पहियों का शब्द सुनकर ही जाना था कि रथ आ रहा है। अपने-पराये का ज्ञान उन्हें तब होता था, जब दोनों ओर के सैनिक अपने-अपने राजाओं का नाम ले-लेकर लडते थे॥ ४१॥ आँखों के आगे अन्धेरा करने वाली और युद्धभूमि मे फैली हुई उस धूल के अँधियारे में शस्त्रों से घायल घोडों, हाथियों और योद्धाओं के शरीर से निकला हुआ रक्त प्रात कालीन सूर्य की लाली जैसा दिखने लगा॥ ४२॥ उस समय पृथ्वी पर इतना रक्त बहा कि नीचे की धूल दब गयी और जो धूल ऊपर उठ चुकी थी, वह वायु के सहारे इधर-उधर फैलकर उस धुएँ जैसी लगने लगी, जो अग्नि से उठकर फैल गयी हो और नीचे केवल अगारे भर बचे रह गये हों॥ ४३॥ जो योद्धा चोट लगने से मूर्च्छित हो गये थे, उनको

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृता हस्तवता पृषत्काः।
सम्प्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम्॥४५॥
आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः॥४६॥
पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष॥४७॥
तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः।
उद्यन्तमग्निं शमयाम्बभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण॥४८॥
शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥४९॥
उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार॥५०॥
कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श॥५१॥
अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित्।
व्यश्वौ गदाव्याहतसम्प्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ॥५२॥

उनके सारथी रथ मे डालकर लौटा लाये। परन्तु जब उनकी मूर्च्छा दूर हुई तो वे अपने सारथियों को बहुत बुरा-भला कहने लगे और जिनकी मार मे वे घायल हुए थे, उन्हें रथ के झण्डों से पहचान-पहचान कर मारने लगे॥४४॥ जिन धनुषधारियों के हाथ बाण चलाने मे मधे हुए थे, उनके बाण यद्यपि शत्रुओं के बाणों से बीच में ही दो टूक हो जाते थे, तथापि उनमें इतना वेग होता था कि फल लगा हुआ उनका अगला भाग लक्ष्य पर पहुँच ही जाता था ॥४५॥ हाथियों के युद्ध में पैने छुरे वाले चक्रों से जिन हाथीवानो के सिर कट जाते थे, वे सिर बहुत देर बाद पृथ्वी पर गिरते थे। क्योकि उनके लम्बे-लम्बे बाल बाजों के नखों मे उलझ जाने से बहुत देर तक ऊपर ही टँगे रह जाते थे॥४६॥ एक घुड़सवार ने अपने शत्रु घुडसवार पर चोट की। चोट खाते ही वह घोड़े के कन्धे पर झुक गया और उसमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गयी कि सिर उठा सके। जिस घुड़सवार ने प्रहार किया था, उसने यह देखकर फिर उस पर हाथ नहीं चलाया, बल्कि मन ही मन यह मनाने लगा कि वह फिर से जी जाय तो दो-दो हाथ युद्ध और हो॥४७॥ जो कवचधारी योद्धा हथेली पर प्राण लिये लड रहे थे, उन्होने जब नंगी तलवार से हाथियों के दाँतों पर चोटें कीं, तब उनमे आग निकलने लगी। उस आग मे हाथी डर गये और वे अपनी सूँड के जल से उस आग को बुझाने लगे॥४८॥ उस समय वह युद्धक्षेत्र मृत्युदेव के मदिरालय जैसा दिख रहा था। जिसमे बाण से कटे हुए सिर ही फल, उलटकर गिरे हुए लौहटोप ही प्याले और बहता हुआ रक्त ही मानो मदिरा थी॥४९॥ एक जगह किसी के बाँह का टुकड़ा पडा था, जिसे गिद्ध आदि पक्षियों ने नोच डाला था। उसे मांस के लोभ से एक सियारिन खींच ले गयी, किन्तु ज्यों ही उसने उस पर मुँह मारा त्यों ही बाँह मे बँधे भुजबन्ध की नोक से उसका तालू छिद गया और वह उसे वहीं छोडकर चली गयी॥५०॥ किसी योद्धा का सिर शत्रु की तलवार से कट गया। युद्ध मे मृत्यु होने से वह देवता बन गया और अपनी बाँयीं ओर एक अप्सरा लिये हुए विमान पर चढकर आकाश से अपना नाचता हुआ धड़ देखने लगा॥५१॥ दो योद्धाओं के सारथी मारे जा चुके थे। इसलिए वे स्वयं रथ चला रहे थे और लड़ भी रहे थे। परन्तु जब उनके घोडे भी मार डाले

परस्परेण क्षतयो प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वो समकालमेव।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सर प्रार्थितयोर्विवाद ॥५३॥
व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्ग जय चापतुरव्यवस्थम्।
पश्चात्पुरोमारुतयो प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी॥५४॥
परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावज प्रत्यरिसैन्यमेव।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्नि ॥५५॥
रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्त स राजन्यकमेकवीर ।
निवारयामास महावराह कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भ ॥५६॥
स दक्षिण तूणमुखेन वाम व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान्॥५७॥
स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भि ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषता शिरोभि ॥५८॥
सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानै सर्वायुधै कङ्कटभेदिभिश्च।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव॥५९॥
सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथ परेषा ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्य ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभाग किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव॥६०॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमार प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनु ।
गान्धर्वमस्त्र कुसुमास्त्रकान्त प्रस्वापन स्वप्ननिवृत्तलौल्य ॥६१॥

गये तब वे रथों से कूदकर पैदल ही गदा लेकर लडने लगे और जब उनकी गदाएँ भी टूट गयीं, तब वे मल्ल-युद्ध करने लगे॥५२॥ दो वीर एक-दूसरे के प्रभाव से एक साथ मारे गये। दोनो देवता बनकर जब स्वर्ग पहुँचे, तब वहाँ एक ही अप्सरा पर दोनो रीझ गये और वहाँ भी वे उसके लिए आपस मे लडने लगे॥५३॥ समुद्र की दो लहरे जैसे आगे-पीछे बहने वाली वायु के झोके से हटती-बढती रहती है, वैसे ही दोनो सेनाएँ भी कभी जीतती और कभी हारकर आगे-पीछे हटती-बढती रहती थीं॥५४॥ यद्यपि उन प्रबल शत्रुओं ने अज की सेना को मार भगाया था, परन्तु महापराक्रमी अज शत्रु की सेना मे बढते ही चले गये। क्योंकि वायु धुएँ को भले हा उडा दे, परन्तु आग को तो जहाँ तक घास-फूस मिलती है, वहाँ तक बढती ही चली जाती है॥५५॥ प्रलयकाल मे जैसे वाराह भगवान् समुद्र के बढे हुए जल को चीरते हुए आगे बढ रहे थे, वैसे ही घोडे पर चढे और तूणीर बाँधे स्वाभिमानी वीर अज अकेले ही शत्रुसेना को चीरते हुए चले जा रहे थे॥५६॥ उस समय वे इतनी फुर्ती से बाण चला रहे थे कि पता ही नहीं चलता था कि कब अपना हाथ तूणीर मे डालते और कब बाण निकालते थे। बल्कि ऐसा लगता था कि जब वे कान तक धनुष की डोरी खींचते थे, तब उसी मे से शत्रुओं का नाश करने वाले बाण स्वत निकलते जा रहे थे॥५७॥ जिन राजाओ ने होठो को क्रोध मे चबा-चबाकर लाल कर लिया था और जो भौंहे तानकर हुकार करते हुए आगे बढ रहे थे, उनके सिर काट-काटकर अज ने पृथ्वी ढाँक दी॥५८॥ उन राजाओं ने अज पर इतने अस्त्र बरसाये कि उनका रथ ढँक गया। कुहरे के दिन जैसे प्रभात होने का ज्ञान धुँधले सूर्य को देखकर होता है, वैसे ही उनके रथ की पताका के सिरे को देखकर ही अज का पता लगता था॥६०॥ तदनन्तर महाराज रघु के पुत्र, कामदेव के समान सुन्दर और सावधान अज ने प्रियंवद का दिया हुआ वह गान्धर्व अस्त्र उन राजाओं पर छोडा, जिससे निद्रा आ जाती थी॥६१॥ वह अस्त्र छोडते ही उन राजाओं की सेना के हाथ ऐसे बँध गये

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम्।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेह निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम्॥६२॥
तत प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलज कुमार ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीर पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे॥६३॥
शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्त सन्नशत्रु ददृशु ,स्वयोधा ।
निमीलितानामिव पङ्कजाना मध्ये स्फुरन्त प्रतिमाशशाङ्कम्॥६४॥
सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिता केतुषु पार्थिवानाम्।
यशो हृत सम्प्रति राघवेण न जीवित व कृपयेति वर्णा ॥६५॥
स चापकोटीनिहितैकबाहु शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलि ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीता प्रियामेत्य वचो बभाषे॥६६॥
इत परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि! पश्यानुमता मयाऽसि।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्व प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभि ॥६७॥
तस्या प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्त मुखमाबभासे।
नि श्वासबाष्पापगमात्प्रपन्न प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्श ॥६८॥
हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भि सखीना प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भ पृषताऽभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम्॥६९॥
इति शिरसि स वाम पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्या तामवद्यादपेत ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मी सैव मूर्ता बभूव॥७०॥

कि वे अपना धनुष तक नहीं खींच सके। उनकी पगड़ियाँ गिरकर कन्धों पर झूल गयीं और सारी सेना पताकाओं के डडों के सहारे सो गयी॥६२॥ इन्दुमती के चुम्बन का रस लेने वाले अपने होठों से शख फूँकते हुए अज उस समय ऐसे लग रहे थे कि जैसे अपने बाहुबल से अर्जित मूर्तिमान् यश को ही पी रहे हों॥६३॥ शख की ध्वनि पहचान कर अज के योद्धा लौट आये। सोते हुए शत्रुओं के बीच अज उन्हें ऐसे लगे, जैसे सम्पुटित कमलों के बीच में चन्द्रमा चमक रहा हो॥६४॥ उन मूर्च्छित पडे हुए राजाओं की ध्वजाओं पर रुधिर से सने बाणों की नोकों से यह वाक्य लिख दिया गया— हे राजाओ! इस समय राजकुमार अज ने तुम लोगो का यश तो ले लिया, परन्तु दया करके उन्होने तुम्हारे प्राण नहीं लिये हैं॥६५॥ उसके बाद जब अज ने अपने सिर का लौहटोप उतारा तो उनके बाल छितरा गये, उनके माथे पर पसीना छा गया और वे इन्दुमती के पास जा तथा धनुष के एक छोर पर हाथ टेककर भयभीत प्रिया से कहने लगे॥६६॥ इन्दुमती! चलो तुम्हे दिखाये कि इस समय उन राजाओं के शस्त्र बालक भी छीन सकते हैं, इस प्रकार वे सब युद्धभूमि मे सोये हुए हैं। देखो तो इसी बूते पर ये तुम्हें मेरे हाथों से छीनने को सन्नद्ध थे॥६७॥ जब इन्दुमती को विश्वास हो गया कि शत्रु हार गये, तब उसका विषादमुक्त मुँह उस दर्पण जैसा सुन्दर लगने लगा, जिस पर पड़ी हुई साँस की भाप पोंछ डाली गयी हो॥६८॥ अपने पति अज का पराक्रम देखकर इन्दुमती बहुत प्रसन्न हुई, परन्तु वह इतनी लजा गयी थी कि उसके मुँह से उनके अभिनन्दन के लिए शब्द ही नहीं निकल सके, परन्तु जैसे नये बादलों की बूँदों से भींगी हुई पृथ्वी मोर के शब्दों से मेघों का स्वागत करती है, वैसे ही उसकी सखियो ने जो अज की प्रशसा की, सो जैसे इन्दुमती ने ही उसका अभिनन्दन किया था॥६९॥ इस प्रकार पूतात्मा अज उन राजाओ के सिर पर अपना बाँयाँ पैर रख और सुन्दरी इन्दुमती को लेकर चले। उनके रथ के घोडों की टापों द्वारा उडी हुई धूल से इन्दुमती के केश भर गये थे और वह मूर्तिमती विजयलक्ष्मी

पथमपरिगतार्थस्त रघु सन्निवृत्त विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्ब शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्र हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥७१॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजस्वय-
वराभिगमनो नाम सप्तम सर्ग ॥७॥

जैसी दीख रही थी॥७०॥ महाराजा रघु को यह समाचार पहले ही मिल चुका था। इसलिए उन्होंने सुन्दरी पत्नी के साथ आये हुए विजयी अज का स्वागत किया। फिर उन्हें कुटुम्ब का भार सौंपकर वे मोक्ष की साधना में लग गये। क्योंकि सूर्यवंशी राजाओं का यह नियम था कि जब पुत्र कुल का भार सँभालने योग्य हो जाता था, तब वे घर में नहीं रहते थे॥७१॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में अज का इन्दुमती के साथ
पाणिग्रहण नामक सातवाँ सर्ग समाप्त॥७॥

अष्टम सर्ग

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम्॥ १॥
दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत्।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया॥ २॥
अनुभूय वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम्।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव॥ ३॥
स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा॥ ४॥
रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि॥ ५॥
अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम्॥ ६॥
सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव॥ ७॥
अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥ ८॥

जब कि अज ने अभी विवाह का सुन्दर मंगलसूत्र भी नहीं उतारा था, तभी रघु ने अज के हाथों मे सारी पृथ्वी इस प्रकार सौंप दी, जैसे वह भी दूसरी इन्दुमती हो॥ १॥ राजपुत्रजन जिस राज्य को पाने के लिए पापमय उपायों तक का प्रयोग करने में भी नहीं सकुचाते, उसी राज्य को अज ने दूसरे दिन केवल अपने पिता की आज्ञा मानकर स्वीकार कर लिया, भोग की इच्छा से उसे नहीं अपनाया॥ २॥ जब अज का राज्याभिषेक हुआ, उस समय वसिष्ठजी ने उनके ऊपर जो पवित्र जल छिड़का, वह पृथ्वी पर भी गिरा। उसके पड़ने पर पृथ्वी से जो भाप निकली, वह मानो यह सूचित कर रही थी कि वह भी अज के राजा होने से प्रसन्न है॥ ३॥ अथर्ववेद के विज्ञ वसिष्ठजी ने जब उनका राज्याभिषेक कर दिया, तब वे इतने तेजस्वी हो गये कि सहसा उनके सब शत्रु काँप उठे। क्योंकि जब क्षात्रतेज के साथ ब्रह्मतेज मिल जाता है, तब वह वैसा ही सशक्त हो जाता है, जैसे वायु का सहारा पाकर अग्नि भभक उठता है॥ ४॥ अयोध्या की प्रजा ने भी अज के राजा होने पर यही समझा कि मानो रघु ही फिर से युवा हो गये हों। क्योंकि अज ने रघु की केवल राज्यलक्ष्मी ही नहीं पायी थी, बल्कि रघु के सब गुण भी उन्होंने प्राप्त कर लिये थे॥ ५॥ संसार में उस समय केवल दो ही एक-दूसरे से मिलकर सुन्दर जँचे, एक तो पिता का भरा-पूरा राज्य पाकर अज और दूसरे अज की विनम्रता पाकर उनका नवयौवन॥ ६॥ महाबाहु अज ने यह समझकर दयालुता के साथ नवप्राप्त पृथ्वी का भोगना प्रारम्भ किया कि अधिक कठोरता का व्यवहार करने से कहीं वह नयी ब्याही हुई बहू के समान घबरा न उठे॥ ७॥ राजा अज अपनी प्रजा को बहुत प्यार करते थे। इससे सभी लोग यही सोचते थे कि वे हमें ही सबसे अधिक मानते हैं। जैसे समुद्र सैकड़ों नदियों से एक-सा व्यवहार करता है, वैसे ही वे भी किसी का बुरा नहीं

न खरो न च भूयसा मृदु पवमान पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन्॥ ९ ॥
अथ वीक्ष्य रघु प्रतिष्ठित प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि नि स्पृहोऽभवत्॥ १० ॥
गुणवत्सुतरोपितश्रिय परिणामे हि दिलीपवशजा ।
पदवीं तरुवल्कवाससा प्रयता सयमिना प्रपेदिरे॥ ११ ॥
तमरण्यसमाश्रयोन्मुख शिरसा वेष्टनशोभिना सुत ।
पितर प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मन ॥ १२ ॥
रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रिय ।
न तु सर्प इव त्वच पुन प्रतिपेदे व्यपवर्जिता श्रियम्॥ १३ ॥
स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद्बहि ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रिय श्रिया॥ १४ ॥
प्रशमस्थितपूर्वपार्थिव कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम्।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत्॥ १५ ॥
यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनै ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमशाविव धर्मयोर्गतौ॥ १६ ॥
अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरज ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तै समियाय योगिभि ॥ १७ ॥

चाहते थे और न किसी से वैर रखते थे॥ ८ ॥ वे न बहुत कठोर थे और न बड़े कोमल। उन्होंने बीच का मार्ग अपनाया था। अपने शत्रु राजाओं को उन्होंने राजगद्दी से उतारे बिना ही उसी प्रकार विनम्र बना दिया, जैसे मध्यम गति से बहने वाला वायु वृक्षों को उखाडता नहीं, परन्तु झुका तो देता ही है॥ ९ ॥ जब रघु ने देखा कि मेरे पुत्र अज का प्रजा मे बडा आदर है और वह भलीभाँति राज-काज कर रहा है, तब उन्हे इतना आत्मज्ञान हो गया कि स्वर्ग के उन सुखों की अभिलाषा भी उन्होंने छोड दी, जो कभी न कभी नष्ट हो ही जाते हैं॥ १० ॥ अब तक दिलीप के वंश मे जायमान सभी राजा वृद्धावस्था मे सब राज-काज अपने गुणवान् पुत्र को सौंपकर वन में चले जाते थे॥ ११ ॥ अतएव जब राजा रघु जगल को जाने लगे, तब अज ने सुन्दर पगडी वाला अपना सिर उनके चरणो पर रखकर प्रार्थना की कि 'आप मुझे छोडकर मत जाइए' ॥ १२ ॥ रघु अपने पुत्र अज को बहुत चाहते थे। इसलिए अज की आँखों मे आँसू देखकर वे रुक तो गये, परन्तु जैसे साप अपनी केचुली छोडकर फिर उसे नहीं धारण करता, वैसे ही उन्होंने जिस राज्य-लक्ष्मी को एक बार छोड दिया था, उसे फिर नहीं अपनाया॥ १३ ॥ अब सन्यास लेकर वे नगर के बाहर एक कुटिया मे रहने लगे। जिस भूमि पर उनके पुत्र राज्य कर रहे थे, वह जितेन्द्रिय रघु को फल-फूल देकर पतोहू के समान उनकी सेवा कर रही थी॥ १४ ॥ उस समय सूर्यवश उस आकाश जैसा लग रहा था, जिसमे एक ओर चन्द्रमा छिप रहे हों और दूसरी ओर सूर्य निकल रहे हो। क्योंकि एक ओर राजा रघु सन्यास लेकर शान्तिमय जीवन बिता रहे थे और दूसरी ओर ऐश्वर्यशाली अज नये राजा बनकर गद्दी पर विराजमान थे॥ १५ ॥ इस प्रकार सन्यासी बने हुए रघु और राजा बने हुए अज को देखकर लोगों ने समझा कि मोक्ष और ऐश्वर्य देने वाले धर्म के दो अश पृथ्वी पर एक साथ उतर आये हैं॥ १६ ॥ एक ओर अज नीतिज्ञ मन्त्रियों के साथ दिग्विजय का मसूबा बाँधने लगे, दूसरी ओर रघु मोक्ष पद पाने के लिए तत्त्वदर्शी योगियों के साथ शास्त्रचर्चा मे

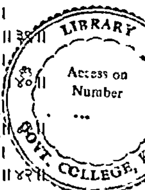
नृपति प्रकृतीरवेक्षितु व्यवहारासनमाददे युवा।
परिचेतुमुपाशु धारणा कुशपूत प्रवयास्तु विष्टरम्॥ १८॥
अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपर प्रणिधानयोग्यया मरुत पञ्च शरीरगोचरान्॥ १९॥
अकरोदचिरेश्वर क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात्।
इतरो दहने स्वकर्मणा विवृते ज्ञानमयेन वह्निना॥ २०॥
पणबन्धमुखान्गुणानज षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम्।
रघुरप्यजयद्गुणत्रय प्रकृतिस्थ समलोष्ठकाञ्चन ॥ २१॥
न नव प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मण ।
न च योगविधेर्नवेतर स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात्॥ २२॥
इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतु ॥ २३॥
अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शन समा ।
तमस परमापदव्यय पुरुष योगसमाधिना रघु ॥ २४॥
श्रुतदेहविसर्जन पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघव ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिक यतिभि सार्धमनग्निमग्निचित्॥ २५॥
अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिक पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित्।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिण ॥ २६॥

तल्लीन हो गये॥ १७॥ एक तरफ युवा राजा जनता के कामों की देखभाल के लिए न्याय के आसन पर बैठता था, उधर बूढे राजा रघु अपने मन को साधने का अभ्यास करने के लिए अकेले मे कुशा के पवित्र आसन पर बैठते थे॥ १८॥ अज ने अपने प्रभुत्व मे आस-पास के सभी शत्रु राजाओं को मुट्ठी मे कर लिया। उधर रघु ने अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया॥ १९॥ अज ने पृथ्वी पर के शत्रुओं की सब चाले नष्ट कर दीं और रघु ने ज्ञान की अग्नि से अपने सारे कर्मों को भस्म कर डाला॥ २०॥ अज सधि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय और द्वैधीभाव—इन छ नीतियों का परिणाम समझकर प्रयोग करते थे, दूसरी ओर मिट्टी और सोना बराबर समझने वाले रघु ने प्रकृति के सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणो पर विजय पा ली॥ २१॥ दृढप्रतिज्ञ अज जब किसी काम मे हाथ लगाते थे तो उसे तब तक नहीं छोडते थे, जब तक वह पूरा नहीं हो जाता था। वैसे ही स्थिरचित्त रघु ने भी तब तक योगक्रिया नहीं छोडी, जब तक उन्हे भगवान् का दर्शन नहीं मिल गया॥ २२॥ एक ओर राजा अज सारे ससार का ऐश्वर्य प्राप्त करने मे जागरूक थे और दूसरी ओर रघु मोक्ष प्राप्त करने में तन्मय थे। इस प्रकार अज ने अपने शत्रुओं का बढाव रोककर और रघु ने इन्द्रियों को काबू में करके दोनो ने अपनी-अपनी सिद्धियाँ प्राप्त कर लीं॥ २३॥ समदर्शी रघु ने अज के कहने से ससार मे कुछ वर्ष और बिताये। उसके बाद योगबल से सदा प्रकाशमान और अविनाशी परमात्मा मे विलीन हो गये॥ २४॥ इस तरह अपने पिता के देहान्त का समाचार पाकर अग्निहोत्री अज बहुत रोये। पिता के शरीर का दाहसस्कार उन्होने नहीं किया, बल्कि योगियों के साथ उनके शरीर को ले जाकर पृथ्वी मे समाधि दे दी॥ २५॥ रघु जैसे जो महात्मा अपने योगबल से शरीर को त्याग कर मुक्त हो जाते हैं, उन्हें यद्यपि अपने पुत्रो से पिण्डदान की आवश्यकता नहीं रहती, तथापि अज यह जानते थे कि पिता का सस्कार कैसे करना चाहिए। अत

स पराध्यर्गतेरशोच्यता पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभि ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुक कृतवानप्रतिशासन जगत्॥ २७॥
क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्रयपौरुषम्।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम्॥ २८॥
दशरश्मिशतोपमद्युति यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।
दशपूर्वरथ यमाख्यया दशकण्ठारिगुरु विदुर्बुधा ॥ २९॥
ऋषिदेवगणस्वधाभुजा श्रुतयागप्रसवै स पार्थिव ।
अनृणत्वमुपेयिवान् बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधिति ॥ ३०॥
बलमार्तभयोपशान्तये विदुषा सत्कृतये बहु श्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवल गुणवत्ताऽपि परप्रयोजना॥ ३१॥
स कदाचिदवेक्षितप्रज सह देव्या विजहार सुप्रजा ।
नगरोपवने शचीसखो मरुता पालयितेव नन्दने॥ ३२॥
अथ रोधसि दक्षिणोदधे श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितु ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारद ॥ ३३॥
कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवै स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्।
अहरत् किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुत ॥ ३४॥
भ्रमरै कुसुमानुसारिभि परिकीर्णा परिवादिनी मुने ।
ददृशे पवनावलेपज सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम्॥ ३५॥

उन्होने बडी भक्ति से अपने पिता के श्राद्ध आदि सस्कार सम्पन्न किये॥ २६॥ जब तत्त्वज्ञानी पण्डितो ने अज को समझाया कि तुम्हारे पिता ने मोक्ष पा लिया है, तब उन्हे धीरज बँधा और उनका शोक घटा। तदनन्तर हाथ मे धनुष-बाण लेकर वे सारे ससार पर एकछत्र राज्य करने लगे॥ २७॥ पृथ्वी और इन्दुमती दोनों ही अज जैसे महापराक्रमी को पति के रूप मे पाकर बहुत प्रसन्न हुई। अतएव पृथ्वी ने बहुत-से रत्न उत्पन्न किये और इन्दुमती ने एक वीर पुत्र को जन्म दिया॥ २८॥ ये अज के पुत्र दस सौ (हजारो) किरणों वाले सूर्य के समान तेजस्वी थे। जिनका यश दसो दिशाओ मे व्याप्त था, जो उन रामजी के पिता थे जिन्होंने दस सिर वाले रावण को मारा था और जिन्हे पडित लोग 'दशरथ' कहते हैं॥ २९॥ इस प्रकार वेदों का अध्ययन करके ऋषिऋण से, यज्ञ करके देवऋण से और पुत्र उत्पन्न करके पितृऋण से मुक्त होकर राजा अज वैसे ही शोभित हुए, जैसे मण्डल (ग्रहण) से छूटकर सूर्य शोभित होता है॥ ३०॥ राजा अज ने केवल अपने धन से ही दूसरो को लाभ नहीं पहुँचाया, बल्कि अपने गुणों से भी लोगों का उपकार किया। क्योकि अपने पराक्रम से तो उन्होंने दीनों और दुर्बलो का डर दूर किया और अपने शास्त्रज्ञान से विद्वानों का सत्कार किया॥ ३१॥ एक दिन की बात है, सुन्दर प्रजा (सन्तान) वाले तथा प्रजापालक राजा अज अपनी रानी इन्दुमती के साथ नगर के उपवन मे उसी प्रकार विहार कर रहे थे, जैसे देवताओं के राजा इन्द्र नन्दन वन मे इन्द्राणी के साथ विहार करते हैं॥ ३२॥ उसी समय दक्षिणी समुद्र के किनारे गोकर्णनिवासी शंकरजी को वीणावादन के साथ गाना सुनाने के लिए नारदजी आकाशमार्ग से चले जा रहे थे॥ ३३॥ उनकी उस वीणा के सिरे पर स्वर्गीय फूलो से गूँथी हुई एक माला लटकी थी। उस समय वेग से चलनेवाले वायु के कारण वह माला इस प्रकार खिसक कर नीचे गिर गयी, जैसे वायु ने ही सुगन्ध के लोभ से उसे वहाँ से उतार लिया हो॥ ३४॥ यद्यपि वह माला गिर गयी, परन्तु पुष्परस के लोभी भौंरें अब तक उस वीणा पर मँडरा रहे थे। उन्हे देखकर

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम्।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम्॥ ३६॥
क्षणमात्रसखीं सुजातयो स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी॥ ३७॥
वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्॥ ३८॥
उभयोरपि पार्श्ववर्तिना तुमुलेनार्तरवेण वेजिता।
विहगा कमलाकरालया समदु खा इव तत्र चुक्रुशु॥ ३९॥
नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता।
प्रतिकारविधानमायुष सति शेषे हि फलाय कल्पते॥ ४०॥
प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात्।
स निनाय नितान्तवत्सल परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम्॥ ४१॥
पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविला मृगलेखामुषसीव चन्द्रमा॥ ४२॥
विललाप स बाष्पगद्गद सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दव भजते कैव कथा शरीरिषु॥ ४३॥
कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितु यदि।
न भविष्यति हन्त साधन किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधे॥ ४४॥



ऐसा लगता था कि मानो वायु से अपमानित होकर वह वीणा काजल मिले हुए आँसू बहा रही थी॥ ३५॥ उस स्वर्गीय माला में इतना अधिक मधु और इतनी अधिक सुगन्ध थी कि उसके आगे वसन्त के वृक्षो और लताओं का मधु और सुवास लजा जाता था। सहसा वह माला रानी इन्दुमती के बडे-बडे स्तनो के बीच में आ गिरी॥ ३६॥ अज की प्रियतमा इन्दुमती ने क्षणभर के लिए अपने स्तनो की सखी उस माला को देखा और देखते ही उसने व्याकुल होकर उसी तरह आँखे मूँद लीं, जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो॥ ३७॥ प्राणहीन होने से इन्दुमती धरती पर गिर पड़ी और उसके साथ-साथ अज भी गिर पडे। क्योंकि गिरते हुए तेल की बूँदो के साथ दीपक की लौ भी तो पृथ्वी पर गिर पडती है॥ ३८॥ *यह देखकर उन दोनों के जिन सेवकों ने रोना-चिल्लाना प्रारम्भ कर दिया था, उनसे डरकर* तालाबों में रहने वाले पक्षी भी इस प्रकार चिल्ला उठे, जैसे वे भी उनके दु ख से दु खी हो गये हो॥ ३९॥ पखा डुलाने आदि उपायो से किसी प्रकार अज की मूर्च्छा तो दूर हो गयी, परन्तु रानी इन्दुमती वैसे ही पडी रही। क्योंकि उपचार तो तभी काम करता है कि जब आयु शेष हो॥ ४०॥ तदनन्तर उस अत्यन्त प्यारे राजा ने अपनी मृत पत्नी इन्दुमती को अपनी गोद मे उठाकर वैसे ही रख लिया, जैसे तार मिलाने के लिए वीणा गोद में रख ली जाती है॥ ४१॥ प्राण निकल जाने से इन्दुमती के शरीर का रग पीला पड गया था। उसे गोदी मे लिटाये राजा अज उस प्रात कालीन चन्द्रमा के समान दीख रहे थे, जिसकी गोद मे मृग की धुँधली छाया विद्यमान हो॥ ४२॥ शोक से उनका स्वाभाविक धीरज जाता रहा, गला भर आया और वे घिघियाकर रोने लगे। क्योंकि तपने पर लोहा भी नरम हो जाता है, तब देहधारियों की बात ही क्या है॥ ४३॥ वे रोते हुए कह रहे थे— हाय! यदि फूल भी शरीर को छूकर प्राण ले सकते हैं, तब तो दैव जब किसी को मारना चाहे तब किसी भी वस्तु से मार सकता है॥ ४४॥ यह भी सभव है कि कोमल वस्तु को मारने के लिए दैव कोमल वस्तु का ही उपयोग करता

अथवा मृदु वस्तु हिंसितु मृदुनैवारभते प्रजान्तक ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शन मता॥४५॥
स्रगिय यदि जीवितापहा हृदये कि निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृत क्वचिद्भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया॥४६॥
अथवा मम भाग्यविप्लवादशनि कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातित क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता॥४७॥
कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिर मयि।
कथमेकपदे निरागस जनमाभाष्यमिम न मन्यसे॥४८॥
ध्रुवमस्मि शठ शुचिस्मिते! विदित. कैतववत्सलस्तव।
परलोकमसन्निवृत्तये• यदनापृच्छ्य गताऽसि मामित ॥४९॥
दयिता यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्त किमिद तया विना।
सहता हतजीवित मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम्॥५०॥
सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमा देहभृतामसारताम्॥५१॥
मनसाऽपि न विप्रिय मया कृतपूर्व तव कि जहासि माम्।
ननु शब्दपति क्षितेरह त्वयि मे भावनिबन्धना रति ॥५२॥
कुसुमोत्खचितान् वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु! करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मन ॥५३॥
तदपोहितुमर्हसि प्रिये! प्रतिबोधेन विषादमाशु मे।
ज्वलितेन गुहागत तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधि ॥५४॥

हो। क्योंकि पहले ही देखा गया है कि कमलिनी को नष्ट करने के लिए पाला ही पर्याप्त होता है॥४५॥ यदि यह माला ही प्राण लेने वाली हो तो मैं भी इसे छाती पर रख लेता हूँ, परन्तु यह हमें क्यो नहीं मार डालती। ईश्वर की इच्छा ही तो है। कहीं विष भी अमृत और अमृत विष बन जाता है॥४६॥ अथवा यह मेरा दुर्भाग्य है कि विधाता ने इस माला को वह वज्र बनाकर भेजा है, जिसने पेड को तो छोड दिया, किन्तु उसके साथ लिपटी हुई लता को नष्ट कर डाला॥४७॥ हे इन्दुमती! मैंने बहुत अपराध किये, परन्तु तुमने कभी मेरा तिरस्कार नहीं किया। फिर आज एकाएक बिना अपराध के ही तुम मुझे बात करने योग्य भी क्यों नहीं समझती?॥४८॥ हे मीठी हँसी हँसने वाली प्रिये! क्या तुमने सचमुच यह समझ लिया है कि मैं तुमसे झूठा प्रेम करता हूँ? इसीसे तो मुझसे बिना पूछे तुम सदा के लिए परलोक चली गयी॥४९॥ मेरे ये नीच प्राण जब प्रिया के साथ चले गये थे, तब फिर लौट क्यों आये? जब इनकी करनी ही ऐसी है, तब ये दारुण दुःख भोगेंगे। मैं कर ही क्या सकता हूँ॥५०॥ हे प्रिये! अभी तुम्हारे मुँह पर से सम्भोगकालीन थकावट के पसीने की बूँदे भी नहीं सूखीं और तुम चल बसी। मनुष्य की ऐसी नश्वरता को धिक्कार है॥५१॥ मैंने कभी मन मे भी तुम्हारी बुराई नहीं की, फिर तुम मुझे क्यो छोड रही हो? मैं पृथ्वी का पति तो नाम मात्र का हूँ, मेरा सच्चा प्रेम तुमसे ही है॥५२॥ हे सुजघने! फूलों से गुँथी और भौरों जैसी काली तुम्हारी लटें जब वायु से हिलती हैं, तब मेरे मन को यह आशा होने लगती है कि अब तुम अवश्य ही उठ बैठोगी॥५३॥ अतएव हे प्रिये! जैसे रात मे चमकने वाली बूटियाँ हिमालय की अँधेरी गुफा में भी प्रकाश कर देती हैं, वैसे ही तुम भी फिर से जागकर मेरा दुःख दूर कर दो॥५४॥ मौन भौरा से भरे और रात मे मुँदे अकेले

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम्।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम्॥५५॥
शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम्।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः॥५६॥
नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम्।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्॥५७॥
इयमप्रतिबोधशायिनीं रशना त्वां प्रथमा रहःसखी।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानु मृतेव लक्ष्यते॥५८॥
कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥५९॥
त्रिदिवोत्सुकयाऽप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥६०॥
मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम्॥६१॥
कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम्॥६२॥
स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम्।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि! शोच्यसे॥६३॥
तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि! सुप्यते॥६४॥

कमल जैसा तथा बिखरी अलकों से ढँका तुम्हारा मौन मुख देखकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है॥५५॥ चन्द्रमा को रात्रि फिर मिल जाती है और चकवे को चकवी प्रातःकाल मिलती है। इसलिए उन्हें बिछोह का दुःख थोड़ी ही देर रहता है, परन्तु तुम तो सदा के लिए चली जा रही हो। फिर बतलाओ, मुझे विरह की आग जलाकर क्यों न भस्म कर देगी?॥५६॥ कोमल पल्लवों का बिछौना भी जिस शरीर में गड़ता था, हे सुन्दर जघाओं वाली! तुम्हीं बतलाओ कि तुम्हारा वही शरीर चिता पर कैसे रक्खा जा सकेगा?॥५७॥ क्या तुम नहीं देखती कि तुम्हारी भावभरी चाल के बन्द हो जाने से तुम्हारी प्रिय सखी यह करधनी भी तुम्हें सदा के लिए सोती देखकर तुम्हारे शोक में मरी-सी दीख रही है॥५८॥ तुम्हारी मीठी बोली कोयलों ने और तुम्हारी मन्दगति कलहंसिनियों ने ले ली। तुम्हारी चचल चितवन हरिणियों को मिल गयी और तुम्हारा चुलबुलापन वायु से हिलती हुई लताओं में जा पहुँचा है॥५९॥ यद्यपि स्वर्ग जाने की उतावली में मुझे बहलाने के लिए तुम अपने गुण यहीं छोड़ गयी हो, परन्तु तुम्हारे बिछोह से मैं इतना अधीर हो गया हूँ कि इन सबसे मेरे हृदय को तनिक भी सन्तोष नहीं मिलेगा॥६०॥ हे प्रिये! तुमने इस आम और प्रियगुलता का विवाह ठीक किया था। सो इन दोनों का विवाह किये बिना तुम्हारा जाना उचित नहीं है॥६१॥ देखो, जिस अशोक को तुमने अपने चरणों की ठोकर लगायी थी, वह जब आगे चलकर फूलेगा, तब तुम्हारे केशों को सजाने वाले उन फूलों को मैं तुम्हारे लिए जलदान की अञ्जलि में कैसे ले पाऊँगा॥६२॥ हे सुन्दरी! तुम्हारे झुनझुनाते बिछुओं वाले चरण की ठोकर किसी को नहीं मिलती थी, परन्तु तुमने बड़ी कृपा करके उस अशोक को ठोकर लगाई थी। अब उन तुम्हारे चरणों की कृपा का स्मरण करके यह अशोक वृक्ष फूलों के आँसू बरसाकर तुम्हारे लिए रो रहा है॥६३॥ हे किन्नरों जैसी मधुरभाषिणी! अपने श्वास सदृश सुगन्धवाले मौलसिरी के फूलों

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥
धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥
गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥
मदिराक्षि! मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ ६८ ॥
विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥ ६९ ॥
विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि सुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥
अथ तस्य कथञ्चिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥ ७१ ॥
प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात् सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥
अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥

की जो सुन्दर माला तुम मेरे साथ गूँथ रही थी, उसे अधगूँथी ही छोडकर इस तरह क्यों सो रही हो? ॥ ६४ ॥ तुम्हारे सुख-दुःख की साथिन ये सखियाँ खडी हैं, शुक्लपक्ष के चन्द्रमा जैसा प्रसन्न मुख वाला तुम्हारा पुत्र भी यहीं है और तुम्हारा अनन्य प्रेमी मैं भी तुम्हारे पास हूँ। तब हम लोगो को छोडकर चले जाने की जो तुमने ठान ली है, यह तुम्हारी बडी निर्दयता है ॥ ६५ ॥ आज मेरा धीरज छूट गया, आनन्द जाता रहा, गाना-बजाना दूर हो गया, ऋतुएँ फीकी पड गयीं, पहनना-ओढना बेकार हो गया और मेरी शय्या सूनी हो गयी ॥ ६६ ॥ एकमात्र तुम्हीं मेरी स्त्री थी, सम्मति देने वाली मित्र थी, एकान्त की सखी थी और गानविद्या आदि ललित कलाओं मे मेरी शिष्या थी। बतलाओ तो सही, तुम्हे मुझसे छीनकर निर्दयी विधाता ने मेरा क्या नहीं छीन लिया ॥ ६७ ॥ हे मदभरे नयनोवाली! तुमने मेरे मुँह से छूटा हुआ स्वादिष्ट आसव पिया है, तो अब तुम परलोक मे आँसुओं के जल मे मिली हुई गँदली जलाञ्जलि को कैसे पी पाओगी ॥ ६८ ॥ इतना विशाल ऐश्वर्य होने पर भी तुम्हारे बिना अज का सारा सुख जाता रहा। क्योंकि मुझे और किसी वस्तु से प्रेम नहीं है, मेरे तो सब सुखों का केन्द्र केवल तुम्हीं थी ॥ ६९ ॥ कोसलनरेश अज जब अपनी प्रिया के लिए इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर उपवन के वृक्ष भी मानो अपनी शाखाओं से रस बहा-बहाकर रुदन करने लगे ॥ ७० ॥ कुटुम्बियो ने किसी प्रकार अज की गोद से इन्दुमती के शरीर को हटाया और उसी पुष्पमाला से उनका शृंगार करके अगर तथा चन्दन की लकडियों मे उसका दाह-संस्कार सम्पन्न किया ॥ ७१ ॥ अपनी पत्नी के वियोग से राजा अज इतने दुःखी हो गये कि उन्हे जीने की साध नहीं रह गयी, किन्तु वे इन्दुमती के साथ चिता पर इसलिए नहीं चढे कि कहीं लोग यह न कहने लगे कि राजा अज विद्वान् होकर भी अपनी स्त्री के शोक मे मर गये ॥ ७२ ॥ शास्त्रज्ञ अज ने जिस इन्दुमती के केवल गुण शेष रह गये थे, उस प्रिया के सब क्रिया-कर्म दस दिन बीत जाने पर उसी उपवन मे बडे धूम-धाम से पूर्ण किये ॥ ७३ ॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शन ।
परिवाहमिवावलोकयन् स्वशुच पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥
अथ त सवनाय दीक्षित प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थित ।
अभिषङ्गजड विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥
असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
न भवन्तमुपस्थित स्वय प्रकृतौ स्थापयितु पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥
मयि तस्य सुवृत्त ! वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार ! ता हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥
पुरुषस्य पदेष्वजन्मन, समतीत च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितय ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥
चरत किल दुश्चर तपस्तृणबिन्दो परिशङ्कित पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥
स तप प्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति ता शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ ८० ॥
भगवन्परवानय जन प्रतिकूलाचरित क्षमस्व मे ।
इति चोपनता क्षितिस्पृश कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥
क्रथकैशिकवशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
उपलब्धवती दिवश्च्युत विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥

इन्दुमती के वियोग में महाराज अज ऐसे उदास लगने लगे, जैसे रात बीत जाने पर चन्द्रमा मन्द पड जाता है। जब वे नगर मे घुमे, तब उन्हे देखकर नगरभर की स्त्रियाँ इस तरह फूट-फूटकर रोने लगीं जैसे अज का सारा शोक उनकी आँखों मे बह रहा हो ॥ ७४ ॥ उन दिनों महर्षि वसिष्ठ यज्ञ कर रहे थे। आश्रम मे ही उन्होंने योगबल से राजा के शोक का कारण जान लिया और एक शिष्य द्वारा शोकाकुल अज के पास सन्देश भेजा। तदनुसार शिष्य ने आकर अज से कहा— ॥ ७५ ॥ वसिष्ठ *मुनि का यज्ञ समाप्त नहीं हुआ था, इसलिए आपके दु ख को जानते हुए भी न तो वे यहाँ आ सके* और न शोक से पथभ्रष्ट आपको धीरज ही बँधा सके ॥ ७६ ॥ हे सदाचारिन् ! मैं उनका एक छोटा-सा सन्देश लाया हूँ, उसे आप धीरज धर के सुनिए, समझिए और हृदयङ्गम करिए ॥ ७७ ॥ वे अपने ज्ञान के अप्रतिहत नेत्रों से तीनों कालों की बीती हुई, होती हुई और होने वाली सभी बातों को जानते हैं ॥ ७८ ॥ एक समय तृणबिन्दु मुनि कठोर तप कर रहे थे। उनकी तपस्या से डरकर इन्द्र ने उनका तप भग करने के लिए हरिणी नाम की एक अप्सरा उनके पास भेजा ॥ ७९ ॥ प्रलयकाल की लहर जैसे समुद्र के तट को ढहा देती है, वैसे ही ऋषि का तप डिगाने के लिए वह अप्सरा वहाँ गयी। उसे देखते ही मुनि ने क्रुद्ध होकर शाप देते हुए कहा कि जा, तू ससार मे मनुष्य की स्त्री हो जा ॥ ८० ॥ शाप सुनते ही वह घबरा उठी और धरती पर लोट तथा गिड़गिड़ाकर बोली— भगवन् ! मैं पराधीन हूँ और मैंने दूसरो के कहने से यह काम किया है। मेरा इसमें कुछ भी दोष नहीं है, मुझे क्षमा कीजिए। तब ऋषि ने कहा— जब तक तुझे स्वर्गीय पुष्प नहीं दीखेंगे, तब तक तुझको पृथ्वी पर रहना ही होगा ॥ ८१ ॥ वह हरिणी अप्सरा क्रथकैशिक (विदर्भ) राजा के वश मे जन्म लेकर तुम्हारी रानी हुई थी—और इतने दिनों पर जैसे ही उसे स्वर्गीय पुष्प दिखलायी दिया, तैसे ही वह शापमुक्त हो तथा शरीर छोड़कर

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥८३॥
उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् ॥८४॥
रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥८५॥
अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥८६॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥८७॥
अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥८८॥
स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥८९॥
न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम! गन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥
स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम्।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥९१॥

देवलोक चली गयी॥८२॥ इसलिए अब आप उसकी मृत्यु का शोक न करें। क्योंकि जो जन्म लेता है, वह मरता ही है। अतएव अब शोक का त्याग तथा सावधान होकर आप पृथ्वी का पालन करिए। क्योंकि राजाओं की सच्ची सहधर्मचारिणी तो पृथ्वी ही होती है॥८३॥ ऐश्वर्य पाकर कितने ही राजा मतवाले हो जाते हैं, किन्तु आप सुख के दिनों में भी इस अपयश से बचे रहे और अभिमान छोड़कर आपने अपने आत्मज्ञान का परिचय दिया था। उसी तरह इस दुःख के समय भी धीरज धर के आप फिर उसी ज्ञान का प्रकाश कीजिए॥८४॥ रोने की बात ही क्या, यदि आप मर जायँ तब भी इन्दुमती अब आपको नहीं मिल सकती। क्योंकि मरने के बाद सब प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार अलग-अलग मार्ग में जाते हैं॥८५॥ सो अब आप शोक त्यागकर पिण्डदान आदि के द्वारा अपनी पत्नी का परलोक सुधारिए। क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि जिसके कुटुम्बी बहुत रोते हैं, उस प्रेतात्मा को बड़ा सन्ताप होता है॥८६॥ जिसने देह धारण किया है, उसका मरना तो स्वाभाविक है। विद्वानों का तो कहना है कि जीना ही बड़ा भारी विकार है। अतः प्राणी जितने क्षण जी जाय, उतने में ही वह सन्तोष कर ले॥८७॥ मूर्ख लोग प्रियजन की मृत्यु को वैसा ही कष्टकारक मानते हैं, जैसे छाती में कील गड़ गयी हो। किन्तु विद्वान् लोगों की समझ में मृत्यु वैसा ही सुख देती है, जैसे हृदय में गड़ी हुई कील निकल जाने पर सुख होता है॥८८॥ जब कि शरीर और आत्मा भी बिछुड़ने वाले माने गये हैं, तब पुत्र-स्त्री आदि बाहरी सम्बन्धियों के बिछोह से विद्वानों को क्यों दुःख होगा॥८९॥ और फिर आप तो जितेन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। तब साधारण लोगों के समान शोक मत कीजिए। यदि पर्वत भी वृक्ष के समान आँधी से हिल उठें तो उन दोनों में अन्तर ही क्या रहेगा?॥९०॥ उदारबुद्धि एवं विद्वान् शिक्षक गुरु वसिष्ठ का उपदेश राजा ने स्वीकार किया और उनके शिष्य को इस तरह विदा दी, जैसे अज के शोकभरे

तेनाष्टौ परिगमिता समा कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनो ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनै प्रियाया स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ९२ ।
तस्य प्रसह्य हृदय किल शोकशङ्कु प्लक्षप्ररोह इव सौधतल बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि त भिषजामसाध्य लाभ प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ९३ ॥
सम्यग्विनीतमथ वर्महर कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसति मुमुक्षु प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥
तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्य ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गत कान्तयाऽसौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये
अजविलापो नामाष्टम सर्ग ॥ ८ ॥

हृदय मे स्थान न पाने मे उनका उपदेश ही लौटकर चला गया हो ॥ ९१ ॥ प्रिय तथा सत्यभाषी राजा अज ने अपने पुत्र के बचपन का ध्यान करके और प्रियतमा के चित्र को देख-देख तथा स्वप्न मे उसमे क्षणभर के समागम का आनन्द ले-लेकर किसी प्रकार आठ वर्ष काटे ॥ ९२ ॥ जैसे वटवृक्ष की जटाएँ भवन की तलहटी को छेदकर नीचे घुम जाती हैं, वैसे ही शोक की बर्छी ने राजा अज के हृदय को बलपूर्वक आरपार बींध दिया था। परन्तु अपनी प्रिया के लिए प्राण दे देने को वे इतने उतावले थे कि उन्होने प्राण लेने वाली और वैद्यों मे अच्छी न होनेवाली उस शोक की बर्छी को भी अपना सहायक ही माना ॥ ९३ ॥ तदनन्तर सुशिक्षित तथा कवचधारी कुमार दशरथ को शास्त्रानुसार प्रजा-पालन करने का उपदेश देकर वे उस रुग्ण शरीर मे छुटकारा पाने के लिए उपवास करने लगे ॥ ९४ ॥ थोडे ही दिनो बाद गगा और सरयू के सगम पर उन्होने अपना तन त्याग दिया और तत्काल देवता बनकर पहले से भी अधिक सुदरी भार्या के साथ नन्दन वन के विलासमय भवनो म रमण करने लगे ॥ ९५ ॥

इस प्रकार रघुवश महाकाव्य में अज-विलाप नामक आठवा सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम्॥ ९ ॥
अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥१०॥
अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥११॥
शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥१२॥
चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम्॥ १३ ॥
निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन्।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम्॥ १४॥
उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥१५॥
तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु॥ १६ ॥

को भी कभी कोई कठोर बात नहीं कही॥८॥ उन रघुवंश में श्रेष्ठ राजा दशरथ के हाथों अनेक राजा बने और अनेक बिगडे। क्योंकि जो उनका कहना मान लेते थे तो वे दया करके उन्हें छोड देते थे, पर जो ऐंठकर उनसे टक्कर लेने के लिए सामना करते थे, उन्हें वे मिटाकर ही दम लेते थे॥९॥ केवल धनुष लेकर तथा अकेले ही एक रथ पर चढकर उन्होंने समुद्र तक फैली हुई सारी पृथ्वी जीत ली। वेग से चलनेवाले हाथी-घोड़ों वाली उनकी सेना तो जय-जयकार मात्र करती चलती थी॥१०॥ जब अकेले रथ पर चढ़े हुए कुबेर के समान सम्पत्तिशाली एवं धनुषधारी दशरथजी पृथ्वी को जीतते हुए चलते थे, तब बादल के जैसा गरजता हुआ समुद्र उनकी विजय-दुदुंभी बजाता था॥११॥ इन्द्र ने जैसे नोकोंवाले वज्र से पर्वतों के पंख काटे थे, वैसे ही नवीन कमल जैसे सुन्दर मुखवाले दशरथजी ने बाणवर्षा करने वाले अपने धनुष से शत्रुपक्ष को मार दिया॥१२॥ देवता लोग जैसे इन्द्र के चरण छूते हैं, वैसे ही सैकडो राजाओं ने दशरथ के चरणों पर अपने उन मुकुटों से सुशोभित सिर रख दिये, जिनके मुकुटमणि दशरथजी के पैर के नखों की लाल कान्ति से चमक उठे थे॥१३॥ जिन-जिन देशों के राजाओं को उन्होंने मार डाला था, उनकी रानियाँ अपने पुत्रों को लेकर राजा दशरथ के आगे आयीं और उन देशों के मन्त्रियों ने उन राजपुत्रों को राजा दशरथ के आगे हाथ जोडवाकर खडा कर दिया। उन खुले केशों वाली शत्रुओं की रानियों के साथ दशरथजी ने बहुत ही दयापूर्ण व्यवहार किया और उस महासमुद्र के तट से वे अपनी उस अयोध्या राजधानी को लौट आये, जो कुबेर की राजधानी अलकापुरी से किसी तरह कम नहीं थी॥१४॥ इस प्रकार चारों ओर के राजाओं का मण्डल उनकी मुट्ठी में आ गया, जिससे वे अग्नि और चन्द्रमा जैसे तेजस्वी लगने लगे। उनका प्रताप इतना बढ गया कि उनके आगे कोई भी दूसरा राजा श्वेत छत्र नहीं लगाता था। किन्तु चक्रवर्ती हो जाने पर भी वे आलस्य को अपने पास नहीं फटकने देते थे। क्योंकि वे जानते थे कि अपने में जहाँ एक भी दोष आया कि लक्ष्मी हमें छोडकर चली जायगी॥१५॥ फिर भगवान् विष्णु तथा दशरथ को छोडकर दूसरा राजा ही कौन ऐसा था कि जिसके यहाँ हाथ में कमल धारण करने वाली एवं पतिव्रता लक्ष्मी जाकर निवास करती॥१६॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवता. शिखरिणामिव सागरमापगा ।
मगधकोसलकेकयशासिना दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥
प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभि ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षण ॥ १८ ॥
स किल सयुगमूर्ध्नि सहायता मघवत. प्रतिपद्य महारथ. ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रित सुरवधूरवधूतभया शरैः ॥ १९ ॥
क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृता. ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटा ॥ २० ॥
अजिनदण्डभृत कुशमेखला यतगिर मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वर ॥ २१ ॥
अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचित. ।
नमयति स्म स केवलमुन्नत वनमुचे नमुचेररये शिर· ॥ २२ ॥
असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥
अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणा समधुर मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥
जिगमिषुर्धनदाध्युषिता दिश रथयुजा परिवर्तितवाहन ।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलय नगमत्यजत् ॥ २५ ॥

पर्वतों से निकलने वाली नदियाँ जैसे समुद्र को पा लेती हैं, वैसे ही कोसल, मगध और केकय देश के राजाओं की कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी नाम की राजकन्याओं ने शत्रुओं पर बाण बरसाने वाले दशरथजी को पति के रूप मे पा लिया ॥ १७ ॥ शत्रुओ को नष्ट करने वाले दशरथ अपनी तीनों रानियों के साथ ऐसे लगते थे, जैसे स्वर्ग पर राज्य करने वाले स्वय इन्द्र ही प्रभाव, उत्साह और मत्र नाम की अपनी तीनों शक्तियों के साथ अवतरित हो गये हों ॥ १८ ॥ महारथी दशरथ ने युद्ध में इन्द्र की सहायता करते हुए अपने बाणों मे उनके शत्रुओं का नाश करके देवताओ की स्त्रियों का सब डर दूर कर दिया था। इसीलिए वे सब दशरथजी के बाहुबल के गीत ऊँचे स्वरों से गाने लगी थीं ॥ १९ ॥ अपने बाहुबल से उन्होंने चारों ओर का धन लाकर एकत्र कर लिया था और उनमे नाम को भी तामसी भाव नहीं था। उन्हीं महाराज दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ करते समय अपना मुकुट उतारकर तमसा और सरयू के तट पर सोने के अनेक यज्ञस्तम्भ खडे कर दिये ॥ २० ॥ जब वे मृगछाला पहनकर, हाथ में दण्ड लेकर, कुश की मेखला बाँधकर चुपचाप हरिण की सींग हाथ मे लिये यज्ञ की दीक्षा लेकर बैठे, उस समय अष्टमूर्ति महादेव उनके शरीर मे प्रविष्ट हो गये, जिससे उनकी शोभा बहुत बढ गयी ॥ २१ ॥ जब यज्ञ समाप्त हो गया और वे स्नान करके पवित्र हुए, तब देवताओं के साथ बैठने योग्य सयमी राजा दशरथ ने केवल नमुचि राक्षस के शत्रु एव जल बरसाने वाले देवराज इन्द्र के आगे ही अपना उन्नत मस्तक झुकाया ॥ २२ ॥ रथ पर चढकर एकाकी युद्ध करने वाले, पराक्रमी, धनुर्धर और युद्ध में इन्द्र से भी आगे चलने वाले दशरथ ने सूर्य पर छायी हुई युद्ध की धूल को कई-कई बार राक्षसों के रक्त से सींच-सींचकर दबाया था ॥ २३ ॥ यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र सदृश पराक्रमी उन एकछत्र राजा दशरथ का अभिनन्दन करने के लिए वसन्त ऋतु भी नये-नये फूलों की भेट लेकर आ उपस्थित हुई ॥ २४ ॥ उस समय सूर्य उत्तर की ओर घूम जाना चाहते थे, अतएव उनके सारथी अरुण ने घोडों की रास उधर

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम्॥ २६॥
नयगुणोपचितामिव भूपते सदुपकारफला श्रियमर्थिन।
अभिययु सरसो मधुसम्भृता कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिण॥ २७॥
कुसुममेव न केवलमार्तव नवमशोकतरो स्मरदीपनम्।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिना मदयिता दयिताश्रवणार्पित.॥ २८॥
विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषका।
मधुलिहा मधुदानविशारदा कुरवका रवकारणता ययु॥ २९॥
सुवदनावदनासवसम्भृतस्तदनुवादिगुण कुसुमोद्गम।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभि॥ ३०॥
उपहित शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डन प्रमदया मदयापितलज्जया॥ ३१॥
व्रणगुरुप्रमदाधरदु सह जघननिर्विषयीकृतमेखलम्।
न खलु तावदशेषमपोहितु रविरल विरल कृतवान्हिमम्॥ ३२॥
अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा।
अमदयत्सहकारलता मन सकलिका कलिकामजितामपि॥ ३३॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिता प्रविरला इव मुग्धवधूकथा।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिर कुसुमितासु मिता वनराजिषु॥ ३४॥

ही मोड़ दी। तदनन्तर सर्दी दूर करके प्रात काल का पाला हटा तथा उसे और भी अधिक चमकाते हुए सूर्य ने मलय पर्वत से विदा ली॥ २५॥ पहले फूल खिले, फिर नयी कोपले फूटीं, फिर भौंरें गूँजने लगे और तब कोयल की कूक सुनायी देने लगी। इस क्रम से धीरे-धीरे वनस्थली में वसन्त छाया हुआ दीखने लगा॥ २६॥ राजा दशरथ की चतुराई से उनके पास बहुत धन एकत्र हो गया था और उस धन से वे अपनी प्रजा का बहुत उपकार करते थे। अत जैसे उनकी लक्ष्मी के समक्ष अनेक याचक हाथ फैलाया करते थे, वैसे ही वसन्त की शोभा से सम्पन्न तालाब की कमलिनी के भी आस-पास भौंरें और हस मँडराने लगे॥ २७॥ उस समय वसन्त मे फूले हुए अशोक के फूल ही कामोद्दीपन नहीं करते थे, बल्कि कामियों को मस्त बना देने वाले जिन कोमल कोपलों के गुच्छों को स्त्रियो ने अपने कानों पर रख लिया था, उन्हें देखकर लोगो का मन भी विचलित हो जाता था॥ २८॥ वन मे खड़े कुरबक के पेड ऐसे लगते थे कि जैसे वसन्त ने वनश्री के शरीर पर बेल-बूटे बनाकर उसका शृगार किया हो। उन वृक्षों से इतना मधु बह रहा था कि भौंरें मस्त होकर उन्हीं पर गुञ्जार रहे थे॥ २९॥ वकुल (मौलसिरी) के जो वृक्ष सुन्दरी स्त्रियों के मदिरा के कुल्ले से फूल उठे थे और जिनमे उन्हीं स्त्रियों जैसे गुण भरे थे, उन्हें झुण्ड बनाकर उडते हुए मधु के लोभी भौंरों ने बहुत तग किया॥ ३०॥ वसन्त के आगमन से पलास मे भी कलियाँ फूट पड़ीं। वे ऐसी लगती थीं कि मानो काम के आवेश में आकर तथा लाज छोडकर किसी प्रणयिनी ने अपने प्रियतम के शरीर पर नखक्षत करके उसकी शोभा बढा दी हो॥ ३१॥ जब पतियों के दाँतों से घायल स्त्रियों के ओंठ दु खा करते हैं और ठडी होने के कारण स्त्रियाँ अपनी कमर की करधनी भी उतार डालती हैं, वह ठड अभी भली प्रकार दूर नहीं हुई थी। हाँ, सूर्य ने अपने तेज से कुछ जाडा अवश्य कम कर दिया था॥ ३२॥ सहसा नये बौर हुए आम के वृक्षों की डालियाँ मलय वायु से ऐसी झूम उठीं, जैसे उन्होने अभिनय सीखना प्रारम्भ कर दिया हो। उन्हें देखकर राग-द्वेष से दूर रहने वाले योगियों का मन भी मस्त हो गया॥ ३३॥ जब मनोहर सुगन्धमयी

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतय कुसुमकोमलदन्तरुचो बभु ।
उपवनान्तलता पवनाहतै किसलयै सलयैरिव पाणिभि ॥ ३५ ॥
ललितविभ्रमबन्धविचक्षण सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गना स्मरसख रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥
शुशुभिरे स्मितचारुतरानना स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखला ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमा ॥ ३७ ॥
उपययौ तनुता मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छवि ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृति वनितयाऽनितया रजनीवधू ॥ ३८ ॥
अपतुषारतया विशदप्रभै सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभि ।
कुसुमचापमतेजयदशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥
हुतहुताशनदीप्ति वनश्रिय प्रतिनिधि कनकाभरणस्य यत् ।
युवतय कुसुम दधुराहित तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥
अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरै कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कित ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलक प्रमदामिव ॥ ४१ ॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मन ।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२ ॥
अरुणरागनिषेधिभिरशुकै श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरै ।
परभृताविरुतैश्च विलासिन स्मरबलैरबलैकरसा कृता ॥ ४३ ॥

कुसुमित वन की लताओं पर बैठकर कोयल कूकी तो ऐसा लगा कि जैसे कहीं कोई मुग्धा नायिका बोल रही हो॥ ३४॥ वन के किनारे बढ़ी हुई लताएँ ऐसी सजीव दीखती थीं कि मानो कानों को सुखदायी भौंरों की गुंजार ही उनके गीत हों और विकसित कोमल फूल ही उनकी हँसी के दाँत हों तथा वायु से हिलती हुई शाखाओं वाले हाथों से वे तरह-तरह के हाव-भाव दिखाती हो॥ ३५॥ कटाक्ष आदि मधुर हाव-भाव करने को उकसाने और बकुलों को भी अपनी सुगन्ध से हरा देने वाले कामदेव के साथी मद्य को स्त्रियो ने पति के प्रेम में बिना कोई बाधा डाले ही पी लिया॥ ३६॥ नागरिकों के घरों मे बनी हुई बावलियों मे जो कमल खिले हुए थे और वहाँ मधुर शब्द करते हुए जो जल-पक्षी तैर रहे थे, उनसे वे बावलियाँ ऐसी सुन्दर लगती थीं कि मानो उनमे मुस्कुराती हुई सुन्दर मुखवाली और ढीली होने से बजती हुई करधनी वाली स्त्रियाँ सुशोभित हो॥ ३७॥ अपने प्रियतम से समागम न होने के कारण जैसे खंडिता नायिका दुबली होती जाती है, वैसे ही रात्रिरूपिणी नायिका भी वसन्त के आगमन से छोटी होती चली गयी और उसका चन्द्रमुख भी पीला पड़ता गया॥ ३८॥ तुषार (पाला) दूर हो जाने से चन्द्रमा निर्मल हो गया और सभोग की थकावट दूर करने वाली उसकी ठंढी किरणों से कामदेव के पुष्पमय धनुष को जैसे और भी अधिक बल मिल गया॥ ३९॥ आहुति-प्राप्त अग्नि के समान दमकते हुए कनैर के फूल वनलक्ष्मी के कानो के कर्णफूल जैसे लगते थे। अपने प्रियतमो के हाथों जूड़ों में लगाये हुए वे सुन्दर पखुड़ी तथा पराग वाले फूल स्त्रियो के केशों मे बड़े ही सुन्दर लग रहे थे॥ ४०॥ उस समय तिलक के वृक्ष ने भी वनस्थली की शोभा कम नहीं बढ़ायी। जैसे किसी युवती के शृगार के लिए उसका मुँह चित्रित किया जाता है, वैसे ही तिलक वृक्ष के फूलों पर मँडराते हुए काजल की बुँदकियो जैसे सुन्दर भौंरे ऐसे जान पड़ते थे कि जैसे वनस्थली का मुख चित्रित कर दिया गया हो॥ ४१॥ वृक्षों की सुन्दर नायिका नवमल्लिका लता थी। वह अपने मकरन्दरूपी मद्य के गन्ध से भरी लाल-लाल पत्तों रूपी होठों पर फूलों की मुसकान देखने वालो को आत्मविभोर बना देती थी॥ ४२॥ उस समय

उपचितावयवा शुचिभि कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजालकजालकमौक्तिकै ॥४४॥
ध्वजपट मदनस्य धनुर्भृतश्छविकर मुखचूर्णमृतुश्रिय ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजा सपवनोपवनोत्थितमन्वयु ॥४५॥
अनुभवन्नवदोलमृतूत्सव पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलता जलतामबलाजन ॥४६॥
त्यजत मानमल बत विग्रहैर्न पुनरेति गत चतुर वय ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजन ॥४७॥
अथ यथासुखमार्तवमुत्सव समनुभूय विलासवतीसख ।
नरपतिश्चकमे मृगयारति स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभ ॥४८॥
परिचय चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम्।
श्रमजयात्प्रगुणा च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमत सचिवैर्ययौ॥४९॥
मृगवनोपगमक्षमवेषभृद् विपुलकण्ठनिषक्तशरासन ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत्॥५०॥
ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छद ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु॥५१॥

प्रात काल की लाली से भी अधिक लाल वस्त्रों ने, कान पर रखे हुए जौ के अकुरो ने और कोयल की कूकों की सेना लेकर कामदेव ने ऐसा जाल बिछाया कि सभी विलासी पुरुष युवती स्त्रियों के प्रेम मे अपनी सुध-बुध खो बैठे॥४३॥ उजले पराग मे भरे तिलक वृक्ष के फूलों के जो गुच्छे बहुत बढ़ चुके थे, अपने ऊपर मँडराते हुए भौंरों के झुण्ड मे वे ऐसे सुन्दर लगने लगे कि जैसे किसी स्त्री ने अपने सिर पर मोतियों की जाली ओढ ली हो॥४४॥ जब वायु ने उपवन के फूलों का पराग उड़ाया तो भौंरों के झुण्ड भी उसके पीछे-पीछे उड़ने लगे। वह उडता हुआ पराग ऐसा लगता था कि मानो धनुर्धारी कामदेव की पताका हो अथवा वसतश्री के मुख पर लगाने का शृगारचूर्ण हो॥४५॥ वसन्तोत्सव मे जो स्त्रियाँ नये झूलो पर सावधानी के साथ झूला झूल रही थीं, वे भी अपने हाथ की रस्सी को इसलिए छोड़ देती थीं कि हाथ छूटने पर हमारे प्रियतम हमको थाम ही लेगे और इसी बहाने हम उनके गले से लग जायेगी॥४६॥ *उन दिनों कूकती हुई कोयल जैसे कामदेव का यह आदेश सुना रही थी कि* 'हे स्त्रियो ! अब रूठना छोड दो। लडाई-झगडा मत करो, बीता हुआ चतुर यौवन फिर हाथ नहीं आयेगा'। यह सन्देश सुनकर सभी स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के साथ फिर विहार करने लगीं॥४७॥ भगवान् विष्णु जैसे पराक्रमी, वसत ऋतु के सदृश प्रसन्न और कामदेव के समान सुन्दर दशरथजी ने भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ वसत ऋतु का आनन्द लिया। फिर उनके मन में आखेट करने की इच्छा जाग गयी॥४८॥ क्योंकि आखेट से बडे लाभ होते हैं। उससे चलते हुए लक्ष्य को बींधने का अभ्यास हो जाता है, जीवों के भय और क्रोध आदि भाव पहचाने जाते हैं और परिश्रम करने से शरीर भी खूब बन जाता है। अतएव मन्त्रियों से सलाह करके वे आखेट के लिए चल पडे॥४९॥ जब शिकारी का वेष बनाकर अपने ऊँचे कन्धे पर धनुष टाँगे हुए तेजस्वी राजा दशरथ घोडे पर चढकर चले, तब उनके घोडो की टापो से इतनी धूल उडी कि उससे आकाश मे चँदोवा-सा तन गया॥५०॥ उनके केशों मे वनमाला गुँथी थी। वे वृक्ष के पत्तों जैसा गहरे हरे रग का कवच पहने थे और घोडे के वेग से चलने के कारण उनके कानों के कुण्डल हिल रहे थे। इस वेष मे चलते हुए वे उस जगल मे जाकर पहुँचे, जहा रुरु जाति

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसङ्क्रमितेक्षणवृत्तय ।
ददृशुरध्वनि त वनदेवता सुनयन नयनन्दितकोसलम्॥५२॥
श्वगणिवागुरिकै प्रथमास्थित व्यपगतानलदस्यु विवेश स ।
स्थिरतुरङ्गमभूमिनिपानवन्मृगवयोगवयोपचित वनम्॥५३॥
अथ नभस्य इव त्रिदशायुध कनकपिङ्गतडिद्गुणसयुतम्।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी॥५४॥
तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमन पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुख मृगाणा यूथ तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम्॥५५॥
तत्प्रार्थित जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रै ॥५६॥
लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभाव प्रेक्ष्य स्थिता सहचरीं व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाण कृपामृदुमना प्रतिसञ्जहार॥५७॥
तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षो कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टि ।
त्रासातिमात्रचटुलै स्मरत सुनेत्रै प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि॥५८॥
उत्तस्थुष सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्ग सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभि ॥५९॥

के हरिण घूमा करते थे॥५१॥ कोमल लताओं का रूप धारण करके वनदेवता भी भौंरो की आँखो जैसे सुन्दर नेत्रवाले और अपनी नीति मे कोसल की प्रजा को सदा सुख पहुँचाने वाले राजा दशरथ को देखने के लिए वहाँ जा पहुँचे॥५२॥ तदनन्तर वे उस जगल मे पहुँचे, जहाँ उनके सेवक पहले से ही जालो और शिकारी कुत्तो को लेकर पहुँच चुके थे। वहाँ न अग्नि का भय था, न चोरों का। वहाँ की पृथ्वी घोडों के लिए अच्छी थी। वहाँ बहुत-से ताल थे, जिनके चारो ओर बहुत-से हरिण, पक्षी और नीलगाएँ चरा करती थीं॥५३॥ तब उस सुन्दर तथा स्वस्थ राजा ने अपना वह चढा हुआ धनुष उठाया, जिसकी टकार सुनकर सिंह भी गरज उठे। उस समय वे उस भादो के महीने जैसे लग रहे थे, जिसमे इन्द्रधनुष निकला हुआ हो और *उसमे सोने के रग की पीली बिजली की डोरी बँधी* हुई हो॥५४॥ तभी उन्होंने देखा कि हरिणों का एक झुण्ड चला आ रहा है, जिसमे बहुत-सी हरिणियाँ भी हैं। जो अपने उन बच्चो के कारण रुकती चलती हैं, जो कुशा का अकुर चबाते-चबाते अपनी माँ के स्तनो का दूध पीने के लिए बीच-बीच मे रुक जाते हैं। उस झुण्ड के आगे-आगे एक गर्वीला काला हरिण भी चल रहा था॥५५॥ राजा दशरथ ने ज्यो ही अपने द्रुतगामी घोडों पर चढ और तूणीर मे से बाण निकाल कर उसका पीछा किया कि वह झुण्ड छितरा गया और उनकी घबरायी हुई आँखो से भरा हुआ वह सारा जगल ऐसा लगने लगा कि जैसे वायु ने वहाँ नीले कमलों की भीगी पखुडियाँ बिखेर दी हो॥५६॥ तभी इन्द्र के समान शक्तिशाली एव चतुर धनुर्धर राजा दशरथ ने देखा कि वे जिस हरिण को मारना चाहते थे, *उसकी स्त्री हरिणी बीच में आकर खडी हो गयी।* वे स्वय भी प्रेमी थे। अतएव अपने हरिण के प्रति हरिणी का यह प्रेम देखकर उनका हृदय दया से भर आया और उन्होंने कान तक खींचा हुआ अपना बाण उतार कर तूणीर मे रख लिया॥५७॥ उसके बाद वे दूसरे हरिणों पर बाण चलाना चाहते थे और उन्होंने बाण की चुटकी कान तक खींच भी ली थी, परन्तु जब उन्होंने उन हरिणों की डरी हुई आँखे देखी तो उन्हे अपनी युवती प्रियतमा के चचल नेत्रों का स्मरण हो आया और उनके हाथ ढीले पड गये॥५८॥ अब उन्हें छोडकर राजा दशरथ उधर घूम पड़े, जिधर आधे

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद् विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ ६० ॥
तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥ ६१ ॥
प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूतमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥ ६२ ॥
व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात् तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद् वीर्योदग्रे राजशब्दो मृगेषु ॥ ६४ ॥
तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥ ६५ ॥
चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितवालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥

चाबे हुए मोथे की घास के मुट्ठे स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े थे और पैर की गीली छापों की पाँत देखकर ऐसा जान पड़ता था कि तालों के कीचड़ में निकल-निकलकर बनैले सुअरों का झुण्ड उधर ही गया है॥५९॥ ज्यों ही उन्होंने घोड़े पर स्थित अपना शरीर आगे झुकाकर उन सुअरों पर बाण चलाया, त्यों ही वे सूअर भी अपने कड़े बाल खड़े करके राजा दशरथ पर झपटे। किन्तु राजा ने तत्काल ऐसे कसकर बाण मारे कि उन सूअरों का पता ही नहीं चला कि कब वे बाण के साथ उन पेड़ों में चिपक गये, जिनके सहारे खड़े थे॥ ६०॥ सहसा उन्होंने देखा कि एक जंगली भैंसा उनकी ओर दौड़ता चला आ रहा है। तत्काल उन्होंने उसकी आँख में एक ऐसा बाण मारा कि वह भैंसे के शरीर में से बड़ी फुर्ती से पार हो गया। किन्तु बाण के पुंख में तनिक-सा भी रक्त नहीं लगा। विशेषता यह थी कि बाण तो देर में गिरा, किन्तु भैंसा पहले ही धराशायी हो गया॥ ६१॥ इतने में उन्हें गैंडों का झुण्ड दिखलाई पड़ा। तुरन्त राजा दशरथ ने अपने अर्द्धचन्द्र बाणों से उनकी सींग काटकर उनके सिर का बोझ हलका कर दिया। क्योंकि वे सिर उठाकर चलने वालों का दमन अवश्य करते थे। इसी से उन्होंने अकड़कर चलने के साधन उनकी सींगों को काट डाला और उन्हें उनके दीर्घायु प्राणों से तो कोई वैर था ही नहीं॥ ६२॥ बाघ जब अपने माँदों में से निकल कर उनकी ओर झपटे, तब निर्भय राजा दशरथ ने इतनी शीघ्रता से उन पर बाण चलाये कि उनके खुले हुए मुँह बाणों का तूणीर बन गये और वे ऐसे दीखने लगे कि जैसे आँधी से उखड़े और फूले हुए असन (सर्ज) वृक्ष की शिखर की टहनियाँ हों॥ ६३॥ तदुपरान्त झाड़ियों में लेटे हुए सिंहों को मारने के लिए उन्होंने पहले वज्रपात के समान भयकर शब्द करने वाले अपने धनुष की डोरी से टंकार किया। उसे सुनते ही वे सिंह भड़क उठे। क्योंकि राजा दशरथ को उन अत्यन्त शक्तिशाली सिंहों की इस बात से चिढ़ थी कि वे मृग आदि वन्य जीवों के राजा क्यों कहे जाते हैं॥ ६४॥ बस, हाथियों से वैर रखने वाले उन सिंहों को उन्होंने मार डाला, जिनके नुकीले नखों में अब तक गजमुक्ताएँ अटकी हुई थीं। इस प्रकार उन ककुत्स्थवंशी राजा दशरथ ने अपने बाणों से उन हाथियों का ऋण चुका दिया, जो उनकी सेना में युद्ध के समय काम कर रहे थे॥ ६५॥ चमरमृगों के चारों ओर अपना घोड़ा दौड़ाते हुए राजा ने भाले की नोकवाले बाण बरसाकर उन मृगों की चँवर वाली पूँछें काट लीं। इससे उन्हें ऐसा सन्तोष हुआ कि जैसे चँवरधारी राजाओं के श्वेत चँवर ही उन्होंने छीन लिये हों॥ ६६॥ उनके पास से कभी-कभी सुन्दर और चमकीली पूँछों वाले मोर भी उड़ जाते

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७॥
तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननविलग्नजालकम्।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८॥
इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बिधुरं धराधिपम्।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी॥ ६९॥
स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम्।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम्॥ ७०॥
उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि॥ ७१॥
अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण॥ ७२॥
कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज॥ ७३॥
नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४॥
हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तः शल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि॥ ७५॥

थे। परन्तु वे उन पर बाण नहीं चलाते थे। क्योंकि उन्हें देखकर राजा दशरथ को रंग-बिरंगी मालाओं में गुँथे और सभोग के कारण खुले हुए अपनी प्रियतमा के केशों का स्मरण हो आता था॥ ६७॥ कठोर परिश्रम से उनके मुँह पर जो पसीना आ गया था, उसे उस वन्य वायु ने सुखा दिया, जो जल के कणों से शीतल होकर पत्तों और कलियों को गिराता हुआ बह रहा था॥ ६८॥ इस प्रकार अपना सब काम भूल और राज्य का भार मंत्रियों पर छोड़कर वन में आये हुए राजा दशरथ का मन आखेट के व्यसन ने वैसे ही लुभा लिया, जैसे कोई स्त्री अपने पति की सेवा करके उसे अपनी मुट्ठी में कर लेती है॥ ६९॥ आखेट का व्यसन उन्हें ऐसा लगा कि कभी-कभी उनको सारी रात फूल-पत्तों की शय्या पर रात को चमकने वाली बूटियों के प्रकाश में बिना किसी सेवक के अकेले ही काटनी पड़ जाती थी॥ ७०॥ सबेरे जब नगाड़ों के समान शब्द करने वाले हाथियों के कानों की फट-फट ध्वनि होती थी, तब उनकी नींद खुलती थी। उस समय वन के पक्षी चारणों के समान जो मंगलगीत गाते थे, उन्हें सुनकर वे मस्त हो जाते थे॥ ७१॥ एक दिन राजा दशरथ जंगल में एक रुरु मृग का पीछा करते हुए अपने साथियों से दूर निकल गये। थकावट के कारण उनका घोड़ा मुँह से फेन फेंकने लगा। उसी पर चढ़े हुए वे तमसा नदी के तट पर जा पहुँचे, जहाँ बहुत-से तपस्वियों के आश्रम थे॥ ७२॥ उस समय वहाँ कोई जल में घड़ा भर रहा था। सो सुनकर उन्होंने समझा कि यह हाथी है। बस, बाण निकाला और शब्द पर लक्ष्य करके राजा ने तुरन्त शब्दबेधी बाण चला दिया॥ ७३॥ हाथी को मारना शास्त्रविरुद्ध है। इसलिए दशरथ ने जो किया, वह उनके लिए अनुचित था, परन्तु कभी-कभी विद्वान् लोग भी आवेश में आकर अंधे हो जाते हैं और उलटा काम कर डालते हैं॥ ७४॥ तत्काल कोई चिल्ला पड़ा—'हाय पिता!' यह सुनकर राजा का माथा ठनका और वे उसे ढूँढने चले। आगे जाकर उन्होंने देखा कि नरकट की झाड़ियों में बाणों से बिंधा और घड़े पर झुका हुआ एक मुनिपुत्र पड़ा हुआ है। उसे देखकर उनको ऐसा कष्ट हुआ कि मानो अपने ही तन में बाण चुभ गया हो॥ ७५॥ जब श्रेष्ठवंशज

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वय स जलकुम्भनिषण्णदेह ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुत स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदे कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥
तच्चोदित स तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रो सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय।
ताभ्या तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानत स्वचरित नृपति शशस ॥ ७७ ॥
तौ दम्पती बहु विलप्य शिशो प्रहर्त्रा शल्य निखातमुदहारयतामुरस्त ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपति शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्ध ॥ ७८ ॥
दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोकादन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविष भुजङ्ग प्रोवाच कोसलपति प्रथमापराद्ध ॥ ७९ ॥
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्या दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलन करोति ॥ ८० ॥
इत्थङ्गते गतघृण किमय विधत्ता वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन।
एधान्हुताशनवत स मुनिर्ययाचे पुत्र परासुमनुगन्तुमना सदार ॥ ८१ ॥
प्राप्तानुग सपदि शासनमस्य राजा सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्त ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतु शाप दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशि ॥ ८२ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये
मृगयावर्णन नाम नवम सर्ग ॥ ९ ॥

राजा दशरथ ने घोड़े से उतरकर घड़े पर झुके मुनिपुत्र से उसका वश-परिचय पूछा, तब उसने लड़खडाती वाणी में बतलाया कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मेरे पिता वैश्य और माता शूद्रा है ॥ ७६ ॥ तदनन्तर उसने राजा दशरथ से कहा कि मुझे मेरे अधे माता-पिता के पास ले चलो। तब राजा दशरथ ने उस बाण से बिधे मुनिपुत्र को उठाया और उसके माता-पिता के पास ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनको सब बात बता दी कि मैंने भूल से आपके इकलौते पुत्र पर किस प्रकार बाण चला दिया है ॥ ७७ ॥ यह सुनते ही वे दोनों अन्धी-अन्धे विलाप कर रोने लगे और उन्होंने अपने पुत्र के हत्यारे को आज्ञा दी कि मेरे पुत्र की छाती में से बाण निकाल लो। बाण निकलते हा उस मुनिकुमार के प्राण निकल गये। इस पर उस बूढ़े तपस्वी ने अपने आँसुओं से ही अजली भरकर राजा दशरथ को शाप देते हुए कहा— ॥ ७८ ॥ हे राजन्! जाओ, तुम भी हमारे ही समान बुढापे मे पुत्रशोक मे मरोगे। जैसे पैर मे दबने पर सर्प विष उगल कर शान्त हो जाता है, वैसे ही शाप देकर जब वे बूढे मुनि शान्त हो गये, तब पहले-पहल के अपराधी राजा दशरथ ने उनसे कहा— ॥ ७९ ॥ हे मुनि! मुझे तो आज तक पुत्र के मुखकमल का दर्शन ही नहीं मिला है। इसलिए मैं आपके शाप को भी वरदान समझता हूँ। क्योंकि इसी बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा। जगल की लकडी की आग चाहे तो एक बार पृथ्वी को भले ही जला दे, किन्तु वह पृथ्वी को इतनी उर्वरा बना देती है कि आगे चलकर उसमे बडी अच्छी उपज होती है ॥ ८० ॥ तदनन्तर राजा ने फिर उनसे कहा—मैं तो इसी योग्य हूँ कि आप मेरा वध कर दे। अब मुझ नीच के लिए आपकी क्या आज्ञा होती है? यह सुनकर उस मुनि ने कहा कि अब हम और हमारी स्त्री दोनों ही अपने पुत्र के साथ मर जायेंगे। अतएव हमारे लिए तुम ईंधन और अग्नि जुटा दो ॥ ८१ ॥ तब तक राजा दशरथ के अनुचर भी वहाँ पहुँच चुके थे। मुनि के आज्ञानुसार तत्काल ईंधन और अग्नि जुटा दी गयी। तदुपरान्त जैसे समुद्र के उदर मे वड़वानल जला करता है, वैसे ही अपने पाप से अधीर हृदय में मुनि का शाप लिये हुए अवधेश अपने घर लौटे ॥ ८२ ॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य में मृगया-वर्णन नामक
नवाँ सर्ग समाप्त ॥ ९ ॥

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः । भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥
प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् । अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने ॥ १६ ॥
रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते । देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ १७ ॥
अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः । अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ १८ ॥
हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् । दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ १९ ॥
सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः । सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ २० ॥
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् । सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ २१ ॥
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः । चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥ २२ ॥
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् । ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥ २३ ॥
अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः । स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥
शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः । पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ २५ ॥

धारण किये हुए गरुड़जी बड़ी नम्रता से हाथ जोड़कर उनके समक्ष खड़े थे॥ १३ ॥ योगनिद्रा से उठकर वे अपनी स्वच्छ और पवित्र दृष्टि से उन भृगु आदि ऋषियों को अनुगृहीत कर रहे थे, जो उनसे पूछ रहे थे—'भगवन्! आप सानन्द सो चुके?'॥ १४॥ तब देवताओं ने दैत्यों को नष्ट करने वाले विष्णु भगवान् को प्रणाम किया और उन प्रशंसनीय विष्णु की स्तुति करने लगे, जिन तक न वाणी की पहुँच होती है और न मन ही वहाँ पहुँच सकता है। वे बोले—॥ १५॥ हे प्रभो! पहले विश्व को बनाने वाले, फिर उसका पालन करने वाले और अंत में उसका संहार करने वाले— ये तीन रूप आप धारण किये रहते हैं। आपको हमारा प्रणाम है॥ १६॥ एक ही स्वाद वाला वर्षा का जल अलग-अलग देशों में बरस कर जैसे अलग-अलग स्वादवाला हो जाता है, वैसे ही आप सब प्रकार के विकारों से दूर रहते हुए भी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों के सहारे अनेक रूप धारण कर लेते हैं॥ १७॥ हे भगवन्! आप कितने बड़े हैं, यह कोई नहीं नाप सकता। किन्तु आपने सब लोक नाप डाले हैं। आपको कोई नहीं जीत सकता, परन्तु आपने सबको जीत लिया है। आप किसी को नहीं दीखते, परन्तु आपने ही इस दृश्यमान संसार को उत्पन्न किया है॥ १८॥ हे भगवन्! विद्वानों का कहना है कि आप सबके हृदय में रहते हुए भी सबसे दूर हैं। आपकी कोई इच्छा नहीं है, फिर भी नर-नारायण के रूप से बदरिकाश्रम में तपस्या करते हैं। आप दयालु हैं, परन्तु आपको शोक नहीं होता। आपको लोग पुराणपुरुष कहते हैं, परन्तु आप कभी भी बूढ़े नहीं होते॥ १९॥ आप सबको जानते हैं, परन्तु आपको कोई नहीं जानता। आपने सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न की है, परन्तु आपको किसी ने नहीं उत्पन्न किया है। आप सबके स्वामी हैं, परन्तु आपका कोई भी स्वामी नहीं है और एक रूप होते हुए भी आप सारे संसार के सब रूप धारण किये हुए हैं॥ २०॥ विद्वानों का कथन है कि सामवेद के सातों प्रकार के गीतों में आपके ही गुण गाये गये हैं। आप ही सातों समुद्रों के जल में निवास करते हैं। सातों प्रकार की अग्नियाँ आपके ही मुख हैं और सातों लोकों के आधार एकमात्र आप ही हैं॥ २१॥ आपके ही चारों मुखों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष देने वाला ज्ञान उत्पन्न हुआ है। चारों युगों में बँटा हुआ समय भी आपने ही उत्पन्न किया है और चार वर्णों वाला यह संसार भी आपका ही बनाया हुआ है॥ २२॥ प्राणायाम आदि के द्वारा मन को वश में करके मुक्ति पाने के लिए योगी लोग अपने हृदय में बैठे हुए ज्योतिस्वरूप आपकी ही सदा खोज करते रहते हैं॥ २३॥ हे भगवन्! आप अजन्मा कहलाते हुए भी जन्म लेते हैं और अकर्मा होकर भी शत्रुओं का संहार करते हैं। योगनिद्रा में सोते हुए भी आप जागते रहते हैं। तब आपका यथार्थ स्वरूप भला कौन जान सकता है?॥ २४॥ कृष्ण आदि के रूपों में आप शब्द,

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः । त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् । गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः सन्निवृत्तये ॥ २७ ॥
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव । आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥
केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः । अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥
उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः । स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥
अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते । लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ ३१ ॥
महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः । श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥
इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् । भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥ ३३ ॥
तस्मै कुशलसम्प्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः । भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥ ३४ ॥
अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना । स्वरेणोवाच भगवान् परिभूतार्णवध्वनिः ॥ ३५ ॥
पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता । बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥ ३६ ॥
बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता । निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ३७ ॥

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का भोग करते हैं। नर-नारायण रूप से कठोर तप करते हैं। राम आदि का रूप धारण करके प्रजा का पालन करते हैं और शान्त रूप धारण करके आप उन सबसे उदासीन भी बन जाते हैं॥ २५॥ जैसे गंगाजी की सभी धाराएँ समुद्र में जा गिरती हैं, उसी प्रकार सिद्धि (परमानन्द) पाने के जितने मार्ग बतलाये गये हैं, अलग-अलग शास्त्रों ने अलग-अलग रूप से बतलाये जाने पर भी वे सब मार्ग आपके ही पास जाते हैं॥ २६॥ जो लोग सदा आपका ही ध्यान धरते हैं, जिन्होंने अपने सब कर्म आपको ही अर्पित कर दिये हैं और जो राग-द्वेष से दूर हैं, उनको आप ही जन्म-मरण के बन्धन से छुड़ाते हैं॥ २७॥ यद्यपि पृथ्वी आदि को देखने से आपकी महिमा प्रकट होती है, परन्तु उतने से ही आपका वर्णन नहीं किया जा सकता। तब वेदों के वर्णन तथा अनुमान से आपका ज्ञान कैसे हो सकेगा?॥ २८॥ आपके स्मरणमात्र से लोग पवित्र हो जाते हैं। फिर यदि उन्हें आपका दर्शन मिल जाय, वे आपका चरण छूकर तथा आपकी वाणी सुनकर जो उन्हें पुण्य होगा, उसका वर्णन कौन कर सकता है?॥ २९॥ जैसे समुद्र के रत्न और सूर्य की किरणें नहीं गिनी जा सकतीं, वैसे ही स्तुति करके आपके पूरे चरित्र का वर्णन नहीं किया जा सकता॥ ३०॥ संसार में प्राप्त करने योग्य ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो आपके हाथ में न हो। फिर भी आप जो जन्म लेते और कर्म करते हैं, उसका उद्देश्य यही है कि आप संसार पर कृपा करना चाहते हैं॥ ३१॥ आपके महत्त्व की प्रशंसा करके जो हम चुप हो रहे हैं, सो इसलिए नहीं कि हमने आपके सब गुण बखान डाले, बल्कि इसलिए कि हम अब थक गये और आगे बोलने की शक्ति हममें नहीं रह गयी है॥ ३२॥ जो भगवान् किसी भी इन्द्रिय से नहीं प्राप्त होते, उनकी स्तुति करके देवताओं ने उन्हें प्रसन्न कर लिया। वह स्तुति भी उनकी झूठी प्रशंसा नहीं थी, अपितु सब बातें यथार्थ थीं॥ ३३॥ तब विष्णु भगवान् ने प्रसन्न होकर उनसे कुशल-मंगल पूछा। जिसके उत्तर में देवताओं ने कहा कि आजकल ऐसे-ऐसे राक्षसरूपी समुद्र उत्पन्न हो गये हैं, जिन्होंने बिना प्रलयकाल के ही सारे संसार की मर्यादा भंग करके चारों ओर हाहाकार मचा रखा है॥ ३४॥ यह सुना तो समुद्र से भी बढ़कर गंभीर ध्वनि में भगवान् बोले। तब क्षीरसागर के तट पर विद्यमान पहाड़ों की गुफाओं में पहुँचकर उनके शब्द गूँज उठे॥ ३५॥ भगवान् विष्णु तो सबसे पुराने कवि हैं। इसलिए जब उनके कण्ठ, तालु, दाँत तथा होठ आदि उच्चारण के स्थानों से भली-भाँति वाणी निकली, तब जैसे सरस्वतीजी अपने जन्म लेने का फल पा गयीं॥ ३६॥ उनके दाँतों की द्युति में जगमगाती हुई उनकी वाणी जब मुख से निकली, तब वह ऐसी सुन्दर लगी कि जैसे उनके चरणों से निकलकर गंगाजी ऊपर आकाश को चली जा रही हों॥ ३७॥ विष्णु भगवान् ने कहा—हे देवताओ! जैसे संसार

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ । अङ्गिना तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ ३८ ॥
विदित तप्यमान च तेन मे भुवनत्रयम् । अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥
कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा । स्वयमेव हि वातोऽग्ने सारथ्य प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥
स्वासिधारापरिहृत काम चक्रस्य तेन मे । स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्याश इव रक्षसा ॥ ४१ ॥
स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मन । अत्यारूढ रिपो सोढ चन्दनेनेव भोगिन ॥ ४२ ॥
धातार तपसा प्रीत ययाचे स हि राक्षस । दैवात्सर्गादवध्यत्व मर्त्येष्वास्थापराङ्मुख ॥ ४३ ॥
सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् । करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिर कमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥
अचिराद्यज्वभिर्भाग कल्पित विधिवत्पुन । मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरै ॥ ४५ ॥
वैमानिका पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुता पथि । पुष्पकालोकसङ्क्षोभ मेघावरणतत्परा ॥ ४६ ॥
मोक्ष्यध्वे स्वर्गबन्दीना वेणीबन्धानदूषितान् । शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहै ॥ ४७ ॥
रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन स । अभिवृष्य मरुत्सस्य कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ ४८ ॥
पुरुहूतप्रभृतय सुरकार्योद्यत सुरा । अशैरनुययुर्विष्णु पुष्पैर्वायुमिव द्रुमा ॥ ४९ ॥
अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्मण । पुरुष प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ ५० ॥

के जीवों के सतोगुण और रजोगुण को उनका तमोगुण दबा देता है, वैसे ही आपके तेज और बल को रावण ने दबा दिया है ॥ ३८ ॥ जैसे अनजान में किये हुए पाप से सज्जन का मन घबरा जाता है, वैसे ही रावण के अत्याचारों से तीनों लोक घबरा उठे हैं ॥ ३९ ॥ अतएव रावण को मिटा डालने का काम जैसे इन्द्र का है, वैसा ही मेरा भी है। एतदर्थ इन्द्र ने जो मेरा प्रार्थना की है, उसकी मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता। क्योंकि आग की सहायता के लिए वायु से कहना नहीं पडता, वह तो स्वय आग को भड़का देता है ॥ ४० ॥ शिवजी को प्रसन्न करने के लिए रावण ने पूर्वकाल में अपने नौ सिर काटकर चढ़ा दिये थे। अब ऐसा लगता है कि उस राक्षस ने अपना दसवाँ सिर मेरे चक्र से कटने के लिए ही बाकी रख छोड़ा है ॥ ४१ ॥ ब्रह्माजी ने जो उसे वरदान दे दिया था, उसी से मैंने उस दुष्ट का दिन-प्रतिदिन ऊपर चढ़ना उसी प्रकार सह लिया है जैसे अपने ऊपर चढते हुए साँप को चन्दन का पेड़ सह लिया करता है ॥ ४२ ॥ ब्रह्माजी जब उसकी तपस्या से प्रसन्न हुए, तब उसने यही वरदान माँगा था कि मैं देवताओं के हाथ से न मारा जा सकूँ। क्योंकि मनुष्यों को वह कुछ समझता ही नहीं है ॥ ४३ ॥ इसीलिए मैं राजा दशरथ के यहाँ पुत्ररूप से जन्म लेकर अपने तीखे बाणों से उसके सिरों को कमल के सदृश उतार कर रणभूमि में भेंट चढ़ाऊँगा ॥ ४४ ॥ हे देवताओ ! यजमानों द्वारा विधि से तुम्हें दिया हुआ यज्ञभाग अब राक्षस लोग नहीं खा सकेंगे। वह आप ही लोग पायेंगे ॥ ४५ ॥ अब निडर होकर आप लोग अपने-अपने विमानों पर चढ़कर आकाश में घूमिए और रावण का पुष्पक विमान देख और उससे डरकर बादलों में छिपना छोड़ दीजिए ॥ ४६ ॥ स्वर्ग की जिन स्त्रियों को रावण ने अपने यहाँ बन्दी बना लिया है, उनके जूड़ों पर नल-कूबर के शाप के डर से उसने हाथ नहीं लगाया है। अब आप ही लोग उन स्त्रियों के पवित्र जूड़े अपने हाथों से खोलिएगा ॥ ४७ ॥ जैसे सूखे के समय कोई बादल धान के खेत पर जल बरसाकर चला जाय, वैसे ही रावण के डर से सूखे हुए देवताओं पर अपना मधुर वचनामृत बरसाकर विष्णु भगवान् अन्तर्धान हो गये ॥ ४८ ॥ वायु के चलने पर जैसे वन के वृक्ष स्वय उसके पीछे न जाकर अपने फूल उसके साथ भेज देते हैं, वैसे ही जब भगवान् विष्णु देवताओं का कार्य करने को चले, तब इन्द्र आदि देवताओं ने भी अपने-अपने अंश उनके साथ भेज दिये ॥ ४९ ॥ इधर जैसे राजा दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ समाप्त हुआ, वैसे ही यज्ञ के अग्निकुण्ड से एक पुरुष प्रकट हुआ, जिसे देखकर यज्ञ करने वाले सभी ऋत्विक् बड़े आश्चर्य में पड़ गये ॥ ५० ॥ उस पुरुष के हाथों

हेमपात्रगत दोर्भ्यामादधान पयश्चरुम् । अनुप्रवेशादाद्यस्य पुसस्तेनापि दुर्वहम् ॥५१॥
प्राजापत्योपनीत तदन्न प्रत्यग्रहीन्नृप । वृषेव पयसा सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥५२॥
अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभा । प्रसूति चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥५३॥
स तेजो वैष्णव पत्न्योर्विभेजे चरुसज्ञितम् । द्यावापृथिव्यो प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥५४॥
अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवशजा । अत सम्भाविता ताभ्या सुमित्रामैच्छदीश्वर ॥
ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षित । चरोरर्धार्धभागाभ्या तामयोजयतामुभे ॥५६॥
सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि । भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयो ॥५७॥
ताभिर्गर्भ प्रजाभूत्यै दध्रे देवाशसम्भव । सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मय ॥५८॥
सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विष । अन्तर्गतफलारम्भा सस्यानामिव सम्पद ॥५९॥
गुप्त ददृशुरात्मान सर्वा स्वप्नेषु वामनै । जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभि ॥६०॥
हेमपक्षप्रभाजाल गगने च वितन्वता । उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥६१॥
बिभ्रत्या कौस्तुभन्यास स्तनान्तरविलम्बिनम् । पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥६२॥
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभि । ब्रह्मर्षिभि पर ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥६३॥
ताभ्यस्तथाविधान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिव । मेने परार्ध्यमात्मान गुरुत्वेन जगद्गुरो ॥
विभक्तात्मा विभुस्तासामेक कुक्षिष्वनेकधा । उवास प्रतिमाचन्द्र प्रसन्नानामपामिव ॥६५॥

में खीर से भरा हुआ स्वर्णपात्र था। उस खीर मे सारे ब्रह्माण्ड को सँभालने वाले विष्णु भगवान् समाये हुए थे। इसलिए वह दिव्य पुरुष उस पात्र को बडी कठिनाई से सँभाले हुए था॥५१॥ इन्द्र ने जैसे समुद मे से निकले अमृतकलश को ले लिया था, वैसे ही राजा दशरथ ने भी उस दिव्य पुरुष के हाथ से वह खीर ले ली॥५२॥ उस पुरुष ने राजा के असाधारण गुणो की ऐसी प्रशसा की कि त्रिलोकी के जनक विष्णु को भी उनके यहा जन्म लेने की इच्छा हो गयी॥५३॥ सूर्यनारायण जैसे अपनी नयी धूप पृथ्वी और आकाश दोनों मे बाँट देते हैं, वैसे ही खीर के रूप मे पाये हुए विष्णु के तेज को राजा दशरथ ने कौसल्या और कैकेयी में बराबर-बराबर बाँट दिया॥५४॥ कौसल्या उनकी बडी रानी और कैकेयी उनकी प्यारी थी। अतएव वे चाहते थे कि दोनों रानियाँ स्वय अपने-अपने भाग में से कुछ अश देकर सुमित्रा का सम्मान करे॥५५॥ तदनुसार सर्वज्ञ राजा दशरथ की इच्छा जानकर उन दोनो रानियों ने अपनी-अपनी खीर का कुछ भाग सुमित्रा को दे दिया॥५६॥ हाथी के दोनों कपोलो से बहने वाले मद की दोनों धाराओ से जैसे भ्रमरी प्रेम करती है, वैसे ही सुमित्रा भी अपनी दोनों सौतों से बराबर प्रेम करती थी॥५७॥ जैसे जल बरसाने वाली अमृता नाम की सूर्य की किरणे ससार के कल्याणार्थ जल धारण किये रहती हैं, वैसे ही उन तीनो रानियों ने लोककल्याणार्थ विष्णु के अशस्वरूप गर्भ को धारण किया॥५८॥ एक साथ गर्भ धारण करने वाली वे रानिया गर्भ से पीली पडकर दानाभरे अनाज की बालों जैसी पीली लगती थीं॥५९॥ वे यह स्वप्न देखती थीं कि कमल, तलवार, गदा, शार्ङ्ग धनुष और चक्र लिये हुए कोई बौना-सा पुरुष उनकी रक्षा कर रहा है॥६०॥ अपने स्वर्णपखों से प्रकाश फैलाता और वेग के कारण बादलों को भी साथ खींचकर ले जाता हुआ गरुड हमे आकाश मे उड़ाये लिये जा रहा है॥६१॥ अपने वक्ष स्थल पर लटकने वाला कौस्तुभमणि पहने हुए लक्ष्मी हाथ मे कमल का पखा लेकर हमारी सेवा कर रही हैं॥६२॥ उनके अतिरिक्त आकाशगङ्गा मे स्नान करके सप्तर्षि भी वेद-पाठ करते हुए हमारी ही उपासना करते हैं॥६३॥ रानियों ने जब राजा को अपने ये स्वप्न सुनाये, तब वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने समझ लिया कि अब ससार मे मुझसे बढ़कर भाग्यवान् कोई नहीं है। क्योंकि मैं विष्णु भगवान् का भी पिता बनूँगा॥६४॥ यद्यपि विष्णु भगवान् का

अथाग्रमहिषी राज्ञ प्रसूतिसमये सती । पुत्र तमोपह लेभे नक्त ज्योतिरिवौषधि ॥६६॥
राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदित । नामधेय गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम्॥६७॥
रघुवशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा । रक्षागृहगता दीपा प्रत्यादिष्टा इवाभवन्॥६८॥
शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ । सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा॥६९॥
कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् । जनयित्रीमलञ्चक्रे य प्रश्रय इव श्रियम्॥७०॥
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ । सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव॥७१॥
निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुण जगत् । अन्वगादिव हि स्वर्गो गा गत पुरुषोत्तमम्॥७२॥
तस्योदये चतुर्मूर्ते पौलस्त्यचकितेश्वरा । विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव॥७३॥
कृशानुरपधूमत्वात् प्रसन्नत्वात् प्रभाकर । रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव॥७४॥
दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षण राक्षसश्रिय । मणिव्याजेन पर्यस्ता पृथिव्यामश्रुबिन्दव ॥७५॥
पुत्रजन्मप्रवेश्याना तूर्याणा तस्य पुत्रिण । आरम्भ प्रथम चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि॥७६॥
सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी । सन्मङ्गलोपचाराणा सैवादिरचनाऽभवत्॥७७॥
कुमारा कृतसस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिन । आनन्देनाग्रजेनेव सम ववृधिरे पितु ॥७८॥
स्वाभाविक विनीतत्व तेषा विनयकर्मणा । मुमूर्च्छ सहज तेजो हविषेव हविर्भुजाम्॥७९॥

एक ही रूप है, परन्तु जैसे निर्मल जल मे चन्द्रमा के बहुत-से प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वैसे ही वे भगवान् भी तीनों रानियों के गर्भो मे अलग-अलग रह रहे थे॥६५॥ जैसे पर्वत की अनेक जडी-बूटियों मे रात को अँधेरा दूर करने वाला प्रकाश आ जाता है, वैसे ही राजा की पटरानी कौसल्या ने तमोगुण को दूर करने वाला एक तेजस्वी पुत्र उत्पन्न किया॥६६॥ उस बालक के सुन्दर शरीर को देखकर वसिष्ठजी ने उसका ससार में प्रथम मङ्गलकारी 'राम' नाम रख दिया॥६७॥ रघुवश को उजागर करने वाले उस बालक का इतना प्रखर तेज था कि उसके समक्ष सौरीघर के दीपकों की ज्योति मन्द पड़ गयी॥६८॥ प्रसव मे दुबली माता कौसल्या नन्हे-से राम को लिये पलग पर लेटी हुई ऐसी सुन्दर दीखती थी, जैसे शरद् ऋतु में पतली धारावाली गङ्गाजी के तट पर पूजारूप मे चढाया हुआ नीलकमल रखा हो॥६९॥ उधर कैकेयी ने भरत को जन्म दिया। उन्हे पाकर वह ऐसी सुन्दर लग रही थी, जैसे लक्ष्मी के साथ विनय शोभित होता है॥७०॥ जैसे अभ्यास से प्राप्त विद्या द्वारा ज्ञान और विनय दोनों मिल जाते हैं, वैसे ही सुमित्रा के लक्ष्मण और शत्रुघ्न नाम के दो जुडवाँ पुत्र उत्पन्न हुए॥७१॥ उस समय सारे ससार के दोष भाग गये और चारों ओर गुण ही गुण फैल गये। जैसे विष्णु भगवान् के साथ-साथ स्वर्ग भी पृथ्वी पर उतर आया हो॥७२॥ दसों दिशाओं में बिना धूल की जो स्वच्छ हवा चलने लगी, वह ऐसी लगती थी कि जैसे रावण से भयभीत कुबेर आदि दिक्पालों ने पृथ्वी पर चार रूपों में अवतरित भगवान् को पाकर सन्तोष की साँस ली हो॥७३॥ रावण द्वारा सताये हुए अग्नि का धुआँ निकल गया और सूर्य भी निर्मल हो गये। जैसे उन दिनों उनका शोक दूर हो गया हो॥७४॥ उसी समय सहसा रावण के मुकुट से निकल कर कुछ मणि पृथ्वी पर ऐसे गिर पडे जैसे राक्षसो की राजलक्ष्मी के आँसू चू पडे हों॥७५॥ पुत्रवान् दशरथ के घर पुत्र-जन्म के समय नगाडे आदि बाजे बाद मे बजे, उसके पहले देवताओं ने स्वर्ग में बधाई की दुदुभी बजा दी॥७६॥ उनके राजमहल पर आकाश से कल्पवृक्षो के फूलों की जो वर्षा हुई, उसी से उन चारो पुत्रों के माङ्गलिक सस्कारों का श्रीगणेश हुआ॥७७॥ जातकर्म आदि सस्कार हो जाने पर धाय का दूध पी-पीकर जैसे-जैसे वे राजकुमार बढने लगे, वैसे ही वैसे राजा का आनन्द भी बढने लगा। जैसे वह आनन्द भी उन चारों भाइयों का बडा भाई हो॥७८॥ जैसे घी आदि की आहुति पड़ने से हवन की अग्नि का तेज बढ जाता है, वैसे ही शिक्षा पाने से उन

परस्परविरुद्धास्ते तद्रघोरनघ कुलम् । अलमुद्द्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तव ॥८०॥
समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ । तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्व बभूवतु ॥८१॥
तेषा द्वयोर्द्वयोरैक्य बिभिदे न कदाचन । यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयो ॥८२॥
ते प्रजाना प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च । मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥८३॥
स चतुर्धा बभौ व्यस्त प्रसव पृथिवीपते । धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक् ॥८४॥
गुणैराराधयामासुस्ते गुरु गुरुवत्सला । तमेव चतुरन्तेश रत्नैरिव महार्णवा ॥८५॥
सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायै ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयै पतिरवनिपतीना तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥८६॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रामावतारो नाम दशम सर्ग ॥१०॥

चारों राजकुमारों की स्वाभाविक विनम्रता और भी अधिक बढ़ गयी॥७९॥ जैसे छहों ऋतुएँ नन्दन वन को देदीप्यमान कर देती हैं, वैसे ही पारस्परिक प्रेम मे उन चारों कुमारो ने पवित्र रघुकुल को जगमगा दिया॥८०॥ यद्यपि चारो भाइयों मे परस्पर बहुत प्रेम था, फिर भी विशेष प्रेम के कारण जैसे राम और लक्ष्मण की एक जोडी बन गयी थी, वैसे ही भरत और शत्रुघ्न की भी जोडी बन गयी॥८१॥ जैसे वायु और अग्नि का तथा चन्द्रमा और समुद्र का जोडा कभी नहीं बिछुडता, वैसे ही राम और लक्ष्मण का तथा भरत और शत्रुघ्न का साथ कभी नहीं छूटता था॥८२॥ प्रजाजनों के स्वामी उन राजकुमारों ने अपने तेज और नम्र व्यवहार मे अपनी प्रजा का मन उसी प्रकार हर लिया, जैसे गर्मी के अंत में काले बादल लोगों का मन हर लेते हैं॥८३॥ राजा की वे चारों सताने ऐसी सुन्दर लग रहीं थीं जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–– ये चारो पदार्थ अवतरित हो गये हो॥८४॥ उन चारो *पितृभक्त राजकुमारों ने राजा दशरथ को अपने गुणों से उसी प्रकार मोह लिया, जैसे चारों समुद्रो ने* विविध रत्न देकर चारो दिशाओं के स्वामी राजा दशरथ को मोह लिया था॥८५॥ असुरों की तलवारों की धार कुंठित करने वाले अपने चार दातो मे जैसे ऐरावत शोभित होता है, जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद––इन चार उपायो से राजनीति शोभित होती है और रथ के जुए के समान अपनी लम्बी-लम्बी चार भुजाओ से जैसे विष्णु भगवान् शोभित होते हैं, वैसे ही दशरथ भी अपने चारों सुयोग्य पुत्रो से सुशोभित हुए॥८६॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य मे रामावतार नामक
दशवा सर्ग समाप्त॥१०॥

एकादश सर्ग

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसा हि न वय समीक्ष्यते॥ १॥
कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् त दिदेश मुनये सलक्ष्मणम्।
अप्यसुप्रणयिना रघो कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता॥ २॥
यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसत्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखै सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनै ॥ ३॥
तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततु ।
भूपतेरपि तयो प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दव ॥ ४॥
तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावुभौ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छता पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ॥ ५॥
लक्ष्मणानुचरमेव राघव नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृप ।
आशिष प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयो क्षमा॥ ६॥
मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजस ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव॥ ७॥
वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गत शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृश विचेष्टितम्॥ ८॥

तदनन्तर एक दिन विश्वामित्रजी राजा दशरथ के पास आये और उन्होंने कहा कि मेरे यज्ञ की रक्षा के लिए आप काकपक्षधारी राम को हमारे साथ भेज दे। क्योंकि जो तेजस्वी होते हैं, उनके लिए यह नहीं सोचा जाता कि वे उम्र मे छोटे हैं या बडे॥ १॥ यद्यपि राजा दशरथ ने राम और लक्ष्मण को बड़ी तपस्या मे पाया था, किन्तु वे विद्वानों के इतने भक्त थे कि उन्होंने तत्काल राम-लक्ष्मण को मुनि के साथ भेज दिया। क्योंकि रघुकुल की सदा मे यह रीति रही है कि यदि कोई उनमे प्राण भी मांगे तो उसे विमुख नहीं करते थे॥ २॥ राजा दशरथ उनकी विदाई के लिए सडक सजाने की आज्ञा दे ही रहे थे कि इतने मे वायु ने फूल और बादलों ने जल लाकर उन सडको पर बरसा दिया॥ ३॥ अपने पिता की आज्ञा का पालन करने को प्रस्तुत होकर दोनों धनुर्धर राजकुमार राम-लक्ष्मण अपने पिता के चरणों मे प्रणाम करने को झुके, वैसे ही दशरथजी की आखों मे उन दोनों पर आँसुओ की बूंदें टपक पडीं॥ ४॥ उन आँसुओं से दोनो राजकुमारों की चोटियाँ भीग गयीं। धनुष लेकर जब दोनो भाई विश्वामित्रजी के पीछे-पीछे चले, उस समय उन्हे देखते हुए पुरवासियो की आँखे ऐसी लग रहीं थीं, जैसे उन नेत्रों की बदनवारें बाँध दी गयी हों॥ ५॥ महर्षि विश्वामित्र केवल राम और लक्ष्मण को ही ले जाना चाहते थे। अतएव राजा ने उनकी सहायता के लिए केवल अपना आशीर्वाद दिया, सेना नहीं। क्योंकि उनका आशीर्वाद ही उनकी रक्षा के लिए पर्याप्त था॥ ६॥ अपनी माताओं के चरण छूकर दोनों राजकुमार उन तेजस्वी मुनि के पीछे चलते हुए ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसे सूर्य के पीछे-पीछे चैत्र और वैशाख मास चले जा रहे हों। बचपन के कारण लहरो के समान चचल बाँहों वाले उन दोनो

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥
पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥
तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥
नाम्भसा कमलशोभिना तथा शाखिना च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥
स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥
तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥
ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी ॥ १५ ॥
तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ १६ ॥

राजकुमारों का चुलबुलापन ऐसा सुन्दर लग रहा था, जैसे वर्षा ऋतु में दो उद्धव और भिद्य नदियाँ लहराती, इठलाती और तटों को ढाती हुई बहती चली जा रही हों॥७-८॥ अब तक उन बालकों ने कभी घर से बाहर पैर नहीं रखा था। अतएव विश्वामित्रजी ने मार्ग में ही उन्हें बला और अतिबला नाम की दोनों विद्याएँ सिखा दीं। जिससे ऊबड़-खाबड़ वन्य मार्ग में चलते समय उन्हें वैसा ही सुख हो रहा था, जैसे वे अपने मणिजटित भवनों में अपनी माता के आस-पास घूम रहे हों॥९॥ जो राम और लक्ष्मण सदा दिव्य रथों पर चढ़कर चलते थे, उन्हें पैदल चलने में तनिक भी थकावट नहीं हुई। क्योंकि उनके पिता के मित्र विश्वामित्रजी उन्हें मार्ग में अनेक पुरानी कथाएँ सुनाते चलते थे॥१०॥ मार्ग के सरोवरों ने अपना मीठा जल पिलाकर, पक्षियों ने मधुर गीत सुनाकर, वायु ने सुगन्धित पराग फैलाकर और बादलों ने शीतल छाया देकर उन दोनों की बहुत बड़ी सेवा की॥११॥ कमलों से भरे सरोवरों तथा थकावट हरने वाले वृक्षों की छाया को देख करके भी आश्रम के तपस्वी उतने हर्षित कभी नहीं हुए थे, जितने इन दोनों राजकुमारों को देखकर हर्षित हुए॥१२॥ शिवजी ने जिस तपोवन में कामदेव को भस्म किया था, वहाँ सुन्दर शरीर वाले राम धनुष लिये हुए जब पहुँचे, तब ऐसा लगा कि जैसे वे वहाँ कामदेव की केवल सुन्दरता के प्रतिनिधि बनकर आये हों, उसके कार्यों के प्रतिनिधि नहीं॥१३॥ मार्ग में उन्हें सुकेतु की कन्या वह ताड़का राक्षसी मिली, जिसने सारा मार्ग उजाड़ बना डाला था और विश्वामित्र ने जिसके शाप की कथा पहले ही राम को सुना दी थी। उसे देखा तो उन दोनों भाइयों ने अपने धनुषों को पृथ्वी पर टेक कर प्रत्यंचा चढ़ा ली॥१४॥ उनके धनुष की प्रत्यंचा की टंकार सुनते ही कानों में लटकती हुई मनुष्य की खोपड़ियों का कुण्डल हिलाती हुई और अमावास्या की रात्रि के समान काली-कलूटी ताड़का उनके समक्ष आकर इस तरह खड़ी हो गयी, जैसे बगुलों की पाँतों से भरी काली बदली छा गयी हो॥१५॥ बड़े वेग से मार्ग के वृक्षों को ढाती, प्रेतों के वस्त्र पहने, भयंकर गर्जन करने वाली तथा श्मशान में उठे हुए बवंडर के समान आकृति वाली ताड़का राम पर सहसा टूट पड़ी॥१६॥ वृक्ष की शाखा जैसी अपनी बाँह उठाये और कमर में आँतों की करधनी

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम्।
ता विलोक्य वनितावधे घृणा पत्त्रिणा सह मुमोच राघव ॥ १७॥
यच्चकार विवर शिलाघने ताडकोरसि स रामसायक ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसा द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८॥
बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुव न केवलाम्।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरा रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९॥
राममन्मथशरेण ताडिता दु सहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसति जगाम सा ॥ २०॥
नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुने प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तक ॥ २१॥
वामनाश्रमपद तत पर पावन श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मना प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघव ॥ २२॥
आससाद मुनिरात्मनस्तत शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम्।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुम दर्शनोन्मुखमृग तपोवनम् ॥ २३॥
तत्र दीक्षितमृषि ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरै ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभि शशिदिवाकराविव ॥ २४॥
वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभि प्रदूषिताम्।
सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजा च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥ २५॥

पहले उस ताडका को देखकर राम ने स्त्री को मारने की घृणा और अपना बाण दोनों एक साथ छाड दिया ॥ १७॥ राम के उस बाण ने पत्थर की चट्टान जैसी कठोर ताडका की छाती मे जो छेद किया, वह मानो राक्षसों के उस देश मे यमराज को प्रविष्ट होने के लिए द्वार खोल दिया, जहाँ अभी वे जा नहीं सके थे ॥ १८॥ रामबाण के आघात मे ताडका की छाती फट गयी और वह जब नीचे गिरी, तब उसके गिरने मे वह जङ्गल ही नहीं, बल्कि तीनों लोकों को जीतकर प्राप्त रावण की राजलक्ष्मी भी काँप उठी ॥ १९॥ राम के बाण मे बिधकर दुर्गन्धित रुधिर मे लिपटी ताडका इस प्रकार मीधे यमलोक चली गयी, जैसे काम के बाण से घायल कोई अभिसारिका चन्दन का लेप करके अपने प्रेमी के घर जा पहुँची हो ॥ २०॥ सूर्य जैसे लकडी जलाने का तेज सूर्यकान्त मणि को दे देता है, वैसे ही ताडका के मरने से प्रसन्न महर्षि विश्वामित्र ने राक्षसों का सहार करने वाला मन्त्रसहित दिव्य अस्त्र राम को दे दिया ॥ २१॥ वहाँ से चलकर रामचन्द्र भगवान् वामन के उस पवित्र आश्रम मे गये, जिसके विषय में विश्वामित्रजी ने उन्हे पहले ही सब बता दिया था। वहाँ अपने पूर्वजन्म के वामनावतार की लीलाओ का ठीक-ठीक स्मरण न होने पर भी वे कुछ उत्कठित जैसे हो उठे ॥ २२॥ वहाँ से विश्वामित्र अपने आश्रम पहुँचे, जहाँ शिष्यो ने पूजा की सब सामग्री इकट्ठी कर रखी थी। वहाँ के वृक्ष पत्तों की अञ्जली बाँधे खडे थे और मृग बड़ी उत्सुकता से उन्हे निहार रहे थे ॥ २३॥ सूर्य और चन्द्रमा जैसे बारी-बारी से अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी का अँधेरा दूर करते हैं, वैसे ही आश्रम मे राम और लक्ष्मण बारी-बारी से यज्ञ करने वाले ऋषि विश्वामित्र के विघ्नो को दूर कर रहे थे ॥ २४॥ उसी समय यज्ञ की वेदी पर दुपहिया के फूल के जैसी बडी-बडी रक्त की बूँदे देखकर ऋषियो को बडा आश्चर्य हुआ। उन्होंने यज्ञ बन्द करके अपने-अपने खैर के स्रुवे धरती पर रख दिये ॥ २५॥ तत्काल राम ने अपने तूणीर से बाण निकाला और ऊपर मुँह करके आकाश की ओर देखा तो गिद्ध के पखों की वायु मे हिलती हुई

उन्मुख सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन्।
रक्षसा बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम्॥ २६॥
तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान्।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुड प्रवर्तते॥ २७॥
सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविद सन्दधे धनुषि वायुदैवतम्।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत् पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम्॥ २८॥
य सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया।
त क्षुरप्रशकलीकृत कृती पत्त्रिणा व्यभजदाश्रमाद्बहि ॥ २९॥
इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयो सायुगीनमभिनन्द्य विक्रमम्।
ऋत्विज कुलपतेर्यथाक्रम वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रिया ॥ ३०॥
तौ प्रणाममचलकाकपक्षकौ भ्रातरावभृथाप्लुतो मुनि ।
आशिषामनुपद समस्पृशद् दर्भपाटिततलेन पाणिना॥ ३१॥
त न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिल स मिथिला व्रजन्वशी।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनु श्रवणज कुतूहलम्॥ ३२॥
तै शिवेषु वसतिर्गताध्वभि सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत।
येषु दीर्घतपस परिग्रहो वासवक्षणकलत्रता ययौ॥ ३३॥
प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधू शिलामयी।
स्व वपु स किल किल्बिषच्छिदा रामपादरजसामनुग्रह ॥ ३४॥

ध्वजाओं वाली राक्षसों की सेना खडी दिखलायी दी॥ २६॥ तब राम ने और सबको छोडकर उन्हीं दो राक्षसों को बाण मारे, जो उस सेना के सेनापति थे और यज्ञ से घृणा करते थे। बडे-बडे सर्पो पर आक्रमण करने वाला गरुड क्या कभी जल के छोटे-छोटे साँपों पर आक्रमण करता है?॥ २७॥ दिव्य अस्त्रों को चलाने मे राम का हाथ ऐसा सधा हुआ था कि उन्होंने तुरन्त अपने धनुष पर वायव्य अस्त्र चढाया और पर्वत से भी बडे ताडका के पुत्र मारीच को उस बाण से इस तरह उडा दिया, जैसे कोई सूखा पत्ता उडा दे॥ २८॥ सुबाहु नाम का दूसरा राक्षस अपनी माया से इधर-उधर घूम रहा था। उसे राम ने अपने बाणों से टुकडे-टुकडे करके आश्रम के बाहर फेंक दिया, जिसे पक्षियों ने आपस में बाँटकर खा लिया॥ २९॥ यज्ञ करने वाले ऋषियों ने जब देखा कि थोडे ही समय मे राम ने सारे विघ्न दूर कर दिये तो उन्होंने राम और लक्ष्मण के पराक्रम की भूरि-भूरि प्रशसा की और मौन धारण किये हुए महामुनि विश्वामित्र ने विधिवत् अपना यज्ञ सम्पन्न कर लिया॥ ३०॥ यज्ञ समाप्त हो जाने पर अवभृथ स्नान करके महर्षि विश्वामित्र ने उन राम और लक्ष्मण को बहुत बडा आशीर्वाद दिया, जिनके बालो की लटे प्रणाम करते समय हिल रही थीं। कुशा से छिली हुई अपनी हथेली उनके सिर पर रखकर ऋषि ने अपना स्नेह दिखलाया॥ ३१॥ उन्हीं दिनों मिथिलेश जनक ने धनुषयज्ञ का आयोजन कर रखा था। उसमें उन्होंने मुनियों को भी आमन्त्रित किया। धनुषयज्ञ की बात सुनकर दोनो राजकुमारों को बडा कुतूहल हुआ। अतएव विश्वामित्रजी उन दोनो को साथ लेकर मिथिलापुरी की ओर चल पडे॥ ३२॥ वे कुछ ही दूर चले थे कि साँझ हो गयी, जिससे वे उस आश्रम के सुन्दर वृक्षों के नीचे टिक गये, जहाँ महान् तपस्वी गौतम की स्त्री अहल्या थोडी देर के लिए इन्द्र की पत्नी बन गयी थी॥ ३३॥ राम के चरणों की धूल सब पापो को हरने वाली थी। इसलिए उसके छूते ही पति के शाप से पत्थर बनी हुई अहल्या को इतने दिनो बाद फिर वही पहले वाला सुन्दर शरीर प्राप्त हो गया॥ ३४॥

राघवान्वितमुपस्थित मुनि त निशम्य जनको जनेश्वर ।
अर्थकामसहित सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात्॥ ३५॥
तौ विदेहनगरीनिवासिना गा गताविव दिव पुनर्वसू।
मन्यते स्म पिबता विलोचनै पक्ष्मपातमपि वञ्चना मन ॥ ३६॥
यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवशवर्धन ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुक मैथिलाय कथयाम्बभूव स ॥ ३७॥
तस्य वीक्ष्य ललित वपु शिशो पार्थिव प्रथितवशजन्मन ।
स्व विचिन्त्य च धनुर्दुरानम पीडितो दुहितृशुल्कसस्थया॥ ३८॥
अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम्।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम्॥ ३९॥
ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात[1] धनुषा धनुर्भृत ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे॥ ४०॥
प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यता सारतोऽयमथवा गिरा कृतम्।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव॥ ४१॥
एवमाप्तवचनात् स पौरुष काकपक्षकधरेऽपि राघवे।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि॥ ४२॥
व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिल ।
तैजसस्य धनुष. प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचन ॥ ४३॥

राजा जनक को जब यह समाचार मिला कि विश्वामित्रजी के साथ राम और लक्ष्मण भी आये हुए हैं, तब वे पूजा की सामग्री लेकर उनकी अगवानी करने चले। जनकजी को वे दोनो भाई ऐसे लगे, मानो मूर्तिमान् धर्म के साथ अर्थ और काम भी चले आये हो॥ ३५॥ वे दोनों राजकुमार ऐसे सुन्दर लग रहे थे, जैसे दो पुनर्वसु नक्षत्र पृथ्वी पर उतर आये हों। जनकपुर के निवासी तो ऐसे मगन होकर अपनी आँखों से उनका रूपामृत पी रहे थे कि पलकों का गिरना भी उन्हे बहुत अखर रहा था॥ ३६॥ धनुषयज्ञ की यज्ञसम्बन्धी सब क्रियाएँ जब समाप्त हो गयीं, तब ठीक अवसर समझकर मुनि विश्वामित्र ने जनक से कहा कि राम भी वह धनुष देखना चाहते हैं॥ ३७॥ किन्तु जनक ने जब एक ओर प्रसिद्ध वश में उत्पन्न बालक राम का कोमल शरीर देखा और दूसरी ओर अपने उस धनुष पर दृष्टि डाली, जिसे बड़े-बडे वीर भी नहीं झुका सके थे, तब उन्हे इस बात का बडा पछतावा हुआ कि मैंने अपनी कन्या के विवाह के निमित्त यह धनुष तोडने की प्रतिज्ञा क्यों की॥ ३८॥ उन्होंने विश्वामित्रजी से कहा—भगवन्! बडे-बडे मतवाले गजराज जो काम नहीं कर सकते, उसे हाथी के बच्चे से कराना व्यर्थ की बात है। अतएव मेरा मन तो नहीं चाहता कि इनसे धनुष उठवाया जाय॥ ३९॥ इस धनुष को उठाने मे बड़े-बड़े धनुर्धारी राजा भी लजाकर रह गये और अपनी उन भुजाओं को धिक्कारते हुए चले गये, जिन पर धनुष की डोरी के बड़े-बडे घट्ठे पड़े हुए थे॥ ४०॥ यह सुनकर मुनि बोले— राजन्! इनकी शक्ति मैं आपको बतलाऊँगा, परन्तु कहने से क्या होता है। जैसे वज्र की शक्ति की परीक्षा पहाड पर होती है, वैसे ही इनकी शक्ति की परीक्षा उस धनुष पर ही हो लेने दी जाय॥ ४१॥ मुनि के कथन से जनकजी को कुछ-कुछ विश्वास हो चला कि जैसे वीरबहूटी के बराबर छोटी-सी चिनगारी में भी जलाने की महती शक्ति छिपी रहती है, वैसे ही काकपक्षधारी राम मे भी धनुष उठाने की शक्ति हो सकती है॥ ४२॥ अतएव जनकजी ने उसी प्रकार अपने सेवकों को धनुष लाने की आज्ञा

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषण वीक्ष्य दाशरथिराददे धनु ।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिण येन बाणमसृजद् वृषध्वज ॥४४॥
आततज्यमकरोत् स ससदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षित ।
शैलसारमपि नातियत्नत पुष्पचापमिव पेशल स्मर ॥४५॥
भज्यमानमतिमात्रकर्षणात् तेन वज्रपरुषस्वन धनु ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुन क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत्॥४६॥
दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिल ।
राघवाय तनयामयोनिजा रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत्॥४७॥
मैथिल सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान्॥४८॥
प्राहिणोच्च महित महाद्युति कोसलाधिपतये पुरोधसम्।
भृत्यभावि दुहितु परिग्रहाद्दिश्यता कुलमिद निमेरिति॥४९॥
अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषा प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विज ।
सद्य एव सुकृता हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम्॥५०॥
तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधे शुश्रुवान् वचनमग्रजन्मन ।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुपितार्कदीधिति ॥५१॥
आससाद मिथिला स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपा बलै ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम्॥५२॥

दी, जैसे देवराज इन्द्र बादलो को अपना धनुष प्रकट करने की आज्ञा देते हैं॥४३॥ तदनुसार धनु लाया गया। वह ऐसा दीखता था कि मानो कोई बडा भारी अजगर सोया हुआ हो। राम ने देखते-देखते उस शिवधनुष को उठा लिया, जिसे हाथो मे लेकर शङ्करजी ने मृग का रूप धरकर भागने वाले यज्ञदेवता के ऊपर बाण बरसाये थे॥४४॥ यह देखकर सभी सभासदो को बडा आश्चर्य हुआ कि राम ने इस पर्वत जैसे विशाल धनुष पर वैसी ही सरलता से डोरी चढा दी, जैसे कामदेव अपने फूलों के धनुष पर डोरी चढाता है॥४५॥ तदनन्तर राम ने धनुष को इतनी जोर से ताना कि वह वज्र के समान भयङ्कर शब्द करके कडकडाता हुआ टूट गया। ऐसा करके जैसे उसने महाक्रोधी परशुराम को यह सूचना दे दी कि क्षत्रिय लोग अब फिर सिर उठाने लगे हैं॥४६॥ जब राजा जनक ने देखा कि धनुष तोडकर राम ने अपना पराक्रम दिखला दिया है, तब उन्होंने उनका बडा आदर किया और पृथ्वी से उत्पन्न अपनी कन्या जानकी उसी प्रकार राम के हाथों सौंप दी, मानो साक्षात् अपनी राज्यलक्ष्मी ही उन्हे दे डाली हो॥४७॥ अपनी प्रतिज्ञा सत्य करने वाले जनक ने विश्वामित्रजी को ही विवाह का साक्षी अग्नि समझ लिया और उन्हीं के आगे राम को सीता समर्पित कर दी॥४८॥ तब राजा जनक ने अपने पूज्य पुरोहित द्वारा दशरथजी के पास यह सन्देश भेजा कि मेरी पुत्री सीता को स्वीकार करके आप इस निमि-कुल पर वैसी ही कृपा कीजिये, जैसे अपने सेवकों पर कृपा करते हैं॥४९॥ उधर राजा दशरथ यह सोच ही रहे थे कि योग्य पतोहू मेरे घर में आये। इतने मे ही जनकजी के पुरोहित उनकी इच्छा पूर्ण होने का समाचार लेकर जा पहुँचे। ठीक ही है, पुण्यवानो की अभिलाषा कल्पवृक्ष के समान तत्काल फल देती है॥५०॥ इन्द्र के मित्र और जितेन्द्रिय दशरथ ने जनक के पुरोहित का बडा सत्कार किया। उनकी बाते सुनकर वे अपने साथ इतनी बडी सेना लेकर चले कि उससे उठी हुई धूल ने सूर्य को भी ढक दिया॥५१॥ वे ऐसे ठाट-बाट से मिथिला पहुँचे कि मानो उसे घेरते हुए आये हो। मिथिला

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ।
कन्यकातनयकौतुकक्रिया स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥५३॥
पार्थिवीमुदवहद् रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम्।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे॥५४॥
ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः॥५५॥
ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद् वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः॥५६॥
एवमात्तरतिरात्मसम्भवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत॥५७॥
तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम्॥५८॥
लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः॥५९॥
श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः॥६०॥
भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः॥६१॥

के उपवनों को तो उनकी सेना ने रौंद ही डाला। परन्तु इस प्रेम के घेरे को उस नगरी ने वैसे ही सह लिया, जैसे स्त्री अपने प्रियतम के कठोर सम्भोग को सह लेती है॥५२॥ तदनन्तर वरुण और इन्द्र के समान प्रतापी उन दोनों राजाओं ने मिलकर शास्त्रीय विधि से ऐश्वर्य के अनुरूप अपने-अपने पुत्रों और कन्याओं का विवाह सम्पन्न कर दिया॥५३॥ राम का सीता से और लक्ष्मण का सीता की छोटी बहन उर्मिला से विवाह हुआ। जनकजी के छोटे भाई कुशध्वज की माण्डवी और श्रुतकीर्ति नाम की कन्याओं से भरत और शत्रुघ्न का विवाह हो गया॥५४॥ वे चारों भाई उन नयी बहुओं के साथ ऐसे सुशोभित हुए, जैसे राजा दशरथ को साम, दाम, दण्ड और भेद— इन चारों उपायों की सिद्धियाँ मिल गयी हों॥५५॥ उन चारों राजकुमारों को पाकर राजकन्याएँ और राजकन्याओं को पाकर वे राजकुमार निहाल हो गये। वरों और वधुओं का वह मिलन ऐसा जँचा कि जैसे शब्द के मूलरूप से प्रत्यय जुड़ गये हों॥५६॥ इस प्रकार महाराज दशरथ ने चारों बेटों का विवाह करके मार्ग में तीन पड़ाव आगे पहुँच कर वहाँ से जनकजी को लौटा दिया और स्वयं बड़े प्रसन्न मन से अयोध्या की ओर चल पड़े॥५७॥ बढ़ी हुई नदी की धारा जैसे आस-पास की भूमि को उजाड़ देती है, वैसे ही एक दिन मार्ग में सेना के ध्वजारूपी वृक्षों को झकझोर देने वाली वायु ने सारी सेना को बहुत क्लेश दिया॥५८॥ तदनन्तर सूर्य के चारों ओर एक बड़ा भारी मण्डल बन गया। वह ऐसा लगने लगा कि जैसे गरुड़ द्वारा मारा हुआ कोई साँप अपने सिर से गिरे हुए मणि के चारों ओर कुण्डली मारकर बैठा हुआ हो॥५९॥ जैसे रूखे और मैले बालों तथा रक्त से लाल कपड़ों वाली रजस्वला स्त्री देखने में अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार उस समय वे चारों दिशाएँ भी आँखों को अच्छी नहीं लग रही थीं, जिनमें मटमैले बाजों के पंख उड़ रहे थे और सन्ध्या के लाल बादल छाये हुए थे॥६०॥ सहसा सूर्य की ओर मुख करके सियारिनें रोने लगीं। जैसे वे क्षत्रियों के रक्त से अपने पिता का तर्पण करनेवाले परशुराम को पुकार रही हों॥६१॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित्।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम्॥ ६२॥
तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात्॥ ६३॥
पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत्।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः॥ ६४॥
येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही॥ ६५॥
अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन्॥ ६६॥
तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम्।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः॥ ६७॥
नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद् रत्नजातमिव हारसर्पयोः॥ ६८॥
अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम्॥ ६९॥
तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना॥ ७०॥

विपरीत वायु आदि अशकुन देखकर उसकी शान्ति के लिए दशरथजी ने अपने गुरु से पूछा—"अब क्या करना चाहिए?" गुरुजी ने कहा—"चिन्ता की कोई बात नहीं है। इसका फल अच्छा ही होगा।" यह सुनकर दशरथजी के मन को कुछ ढाढस बँधा॥ ६२॥ उसी समय सहसा एक ऐसा प्रकाशपुञ्ज सेना के आगे उठता दिखलाई दिया, जिसे देखकर सब सैनिकों की आँखें चौंधिया गयीं। जब उन्होंने आँखें मलकर देखा, तब वह प्रकाशपुञ्ज एक पुरुष के रूप में परिवर्तित दीखा॥ ६३॥ उस तेजस्वी पुरुष के शरीर पर ब्राह्मण पिता के अंश का सूचक यज्ञोपवीत और कन्धे पर क्षत्रिय माता का अंशसूचक धनुष लटका हुआ था। इस वेश में वह ऐसा लगता था कि जैसे सूर्य के साथ चन्द्रमा हो या चन्दन के पेड़ में साँप लिपटे हों॥ ६४॥ उन्होंने जब क्रोध में कठोरहृदय और उचित-अनुचित का विचार छोड़ देने वाले पिता की आज्ञा मानकर अपनी काँपती हुई माता का सिर काट लिया था, उस समय उन्होंने पहले घृणा को जीता और फिर सम्पूर्ण पृथ्वी जीत ली॥ ६५॥ उनके दाहिने कान पर इक्कीस दाने की रुद्राक्ष की माला लटक रही थी। जैसे इक्कीस बार क्षत्रियों के विनाश की गिनती करने के लिए ही उन्होंने वह माला पहन ली हो॥ ६६॥ दशरथजी ने जब उन परशुराम को देखा, जिन्होंने अपने पिता के मारे जाने पर क्रोध से क्षत्रियों का नाश करने की प्रतिज्ञा कर ली थी, तब उन्हें अपनी दशा देखकर बड़ी चिन्ता हुई। क्योंकि उनके पुत्र अभी निरे बच्चे ही थे॥ ६७॥ उनके पुत्र राम और परशुराम दोनों में राम नाम विद्यमान था। इसलिए जैसे गले के हार और सर्प दोनों में रहने वाला मणि आनन्द भी देता है और भय भी, वैसे ही अपने पुत्र और परशुराम दोनों में आये हुए राम नाम से उन्हें भय भी हुआ और आनन्द भी॥ ६८॥ यद्यपि दशरथजी कहते ही रह गये कि आपके सत्कार के लिए यह अर्घ्य है, किन्तु परशुरामजी ने उधर ध्यान न देकर क्षत्रियों को जलाने वाली अपनी टेढ़ी नजर से राम को देखा॥ ६९॥ युद्ध के लिए उद्यत और मुट्ठी में धनुष पकड़कर उँगलियों में बाण नचाते हुए परशुरामजी

क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुश शम गत ।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात्॥७१॥
मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्व किलानमितपूर्वमक्षणो ।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यभृङ्गमिव भग्नमात्मन ॥७२॥
अन्यदा जगति राम इत्यय शब्द उच्चरित एव मामगात्।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि॥७३॥
बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठित द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्व च कीर्तिमपहर्तुमुद्यत ॥७४॥
क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि य ॥७५॥
विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वर धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयै पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम्॥७६॥
तन्मदीयमिदमायुध ज्यया सङ्गमय्य सशर विकृष्यताम्।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यह तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया॥७७॥
कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जित परशुधारया मम।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा वध्यतामभययाचनाञ्जलि ॥७८॥

ने अपने आगे निडर खडे राम से कहा—॥७०॥ मेरे पिता का वध करके क्षत्रियों ने मुझसे शत्रुता मोल ले ली है। उन्हे बहुत बार मारकर मुझे कुछ शान्ति मिली थी। परन्तु जैसे डडे से छेड़ देने पर साँप फुफकार उठता है, वैसे ही तुम्हारे पराक्रम का हाल सुनकर मेरे शरीर में क्रोध की आग भडक उठी है॥७१॥ राजा जनक के जिस धनुष को कोई राजा झुका भी नहीं सका था, उसी को तुमने तोड़ डाला है। यह सुनकर मैने यही समझा है कि आज तक जो मैं सबसे बढकर बलवान् समझा जाता था, वह मेरा यश आज नष्ट हो गया॥७२॥ ससार मे पहले राम कहने से लोग मुझे ही समझते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों तुम ऊँचे चढते चले जा रहे हो, त्यो-त्यों वह अर्थ तुम्हारे नाम के साथ लगता चला जा रहा है। यह देखकर मुझे लज्जा आने लगी है॥७३॥ जिस परशुराम के अस्त्र पहाडों से टकरा करके भी कुण्ठित नहीं होते, उसके दो ही शत्रु आज तक समान अपराधी हुए है। उनमे से पहला तो था सहस्रबाहु, जो मेरे पिता से कामधेनु का बछड़ा छीन ले गया था और दूसरे तुम हो, जो मेरी कीर्ति छीनने को उद्यत हो॥७४॥ अत क्षत्रियों को नष्ट करने वाला मेरा पराक्रम तब तक मुझे अच्छा नहीं लगेगा, जब तक मैं तुम्हे न जीत लूँ। क्योंकि आग का प्रताप तभी सराहनीय होता है, जब वह समुद्र में भी वैसे ही भडककर जले, जैसे सूखी घास के ढेर मे जलती है॥७५॥ और फिर शिवजी के जिस धनुष को तोड़कर तुम इतरा रहे हो, उसकी कठोरता तो भगवान् विष्णु ने पहले ही हर ली थी, उसे तोडकर तुमने कोई वीरता नहीं की है। क्योकि जिस वृक्ष की जड नदी की प्रचण्ड धारा ने पहले ही खोखली कर दी हो, वह तो वायु के तनिक-से झोंके मे ही ढह जाता है॥७६॥ देखो राम! युद्ध तो बाद में होगा, पहले तुम मेरे धनुष पर डोरी चढा तथा बाण रखकर इसे खींचो। यदि तुम इतना भी कर लोगे तो मैं समझूँगा कि तुम मेरे ही समान बलवान् हो। बस, मैं इतने मे ही हार मान लूँगा॥७७॥ और यदि तुम मेरे फरसे की चमकती हुई धार को देखकर डर गये होओ तो अपने उन हाथो को जोडकर मुझसे अभय की भीख माँगो, जिनकी उँगलियो मे धनुष की डोरी चढाने से व्यर्थ घट्ठे पड़े हुए हैं॥७८॥ भयङ्कर वेश वाले परशुरामजी ने जब यह कहा तो राम ने हँसते-हँसते

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधर ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघव प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥
पूर्वजन्मधनुषा समागत सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुद कि पुनस्त्रिदशचापलाञ्छित ॥ ८० ॥
तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुक च बलिनाऽधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृता धूमशेष इव धूमकेतन ॥ ८१ ॥
तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ ८२ ॥
त कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गव राघव स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्व च सहितममोघमाशुग व्याजहार हरसूनुसन्निभ ॥ ८३ ॥
न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दय विप्र! इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शस कि गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥
पत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वा न वेद्मि पुरुष पुरातनम् ।
गा गतस्य तव धाम वैष्णव कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥
भस्मसात्कृतवत पितृद्विष पात्रसाच्च वसुधा ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥
तद्गति मतिमता वरेप्सिता पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मा खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥

इस तरह वह धनुष हाथ मे ले लिया, मानो परशुरामजी के वचनो का वही उचित उत्तर हो ॥ ७९ ॥ जैसे ही राम ने वह अपने पिछले जन्म वाला धनुष हाथ में लिया, वैसे ही उनकी शोभा और भी बढ गयी। क्योकि एक तो नया बादल यो ही सुन्दर लगता है फिर यदि उसमे इन्द्र-धनुष भी उदित हो जाय, तब तो उसकी शोभा का कहना ही क्या है ॥ ८० ॥ पराक्रमी राम ने उस धनुष की एक छोर पृथ्वी पर टेककर जैसे ही उस पर डोरी चढायी, वैसे ही क्षत्रियों के शत्रु परशुरामजी उस अग्नि के समान निस्तेज हो गये, जिसमे केवल धुआँ भर शेष रह गया हो ॥ ८१ ॥ आमने सामने खडे राम और परशुराम मे से एक का तेज बढा और दूसरे का घट गया। इस प्रकार वे दोनो ऐसे दीखने लगे, *जैसे सन्ध्याकालीन चन्द्रमा और सूर्य हो ॥ ८२ ॥ कार्तिकेय के समान तेजस्वी एव दयालु रामचन्द्रजी ने* एक बार उन निस्तेज परशुरामजी को और उसके बाद धनुष पर चढे हुए अपने अचूक बाण को देखकर फिर बोले— ॥ ८३ ॥ यद्यपि आपने हमारा बहुत बडा अपमान किया है, परन्तु आप ब्राह्मण है, अतएव मैं निर्दयी होकर आपको मारूँगा नहीं। किन्तु यह तो बताइए कि अब इस बाण से मैं आपकी गति रोकूँ या आपके उन दिव्य लोकों को नष्ट कर दूँ, जो आपने यज्ञ कर-करके जीते हैं ॥ ८४ ॥ परशुरामजी बोले—ऐसी बात नहीं है कि आपको देखते ही मैंने न पहचाना हो कि आप ही साक्षात् पुरातन पुरुष हैं, किन्तु मैंने यह जानने के लिए आपको कुपित किया था कि देखूँ, आप विष्णु भगवान् का कितना तेज लेकर पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं ॥ ८५ ॥ पिता के शत्रुओं को नष्ट करने और सागर तक फैली हुई पृथ्वी ब्राह्मणों को दान देने वाले मुझ परशुराम के लिए आप परम पुरुष के हाथो हारना भी बड़े महत्त्व की बात है ॥ ८६ ॥ अतएव आप मेरा गति न रोकिए, जिससे मैं पवित्र तीर्थों में आ जा सकूँ। मुझे भोग की इच्छा नहीं है। अतएव यदि स्वर्ग न भी मिले तो मुझे कुछ भी दुःख नहीं होगा ॥ ८७ ॥ यह सुना तो राम ने परशुरामजी का कहना मानकर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके वह बाण छोड दिया।

प्रत्यपद्यत तथेति राघव प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम्।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्यय ॥८८॥
राघवोऽपि चरणौ तपोनिधे क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत्।
निर्जितेषु तरसा तरस्विना शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये॥८९॥
राजसत्त्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमित शमं यदा।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृत ॥९०॥
साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यत ।
ऊचिवानिति वच सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे॥९१॥
तस्मिन्गते विजयिन परिरभ्य रामं स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम्।
तस्याभवत्क्षणशुच परितोषलाभ कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपात ॥९२॥
अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये कतिचिदवनिपाल शर्वरी शर्वकल्प ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम्॥९३॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीता-
विवाहवर्णनं नामैकादश सर्ग ॥११॥

यद्यपि परशुरामजी ने बहुत पुण्य किये थे, तथापि वह बाण सदा के लिए परशुरामजी के द्वारा अर्जित स्वर्ग का मार्ग रोककर खड़ा हो गया॥८८॥ तदनन्तर राम ने परशुराम से क्षमा माँगते हुए उनके श्रीचरणो का स्पर्श किया। क्योंकि कोई भी पराक्रमी जब अपने बल से शत्रु को जीत लेता है, तब वह यदि नम्रता भी दिखलावे तो उसकी कीर्ति ही बढ़ती है॥८९॥ परशुराम ने कहा—मुझे यह दण्ड देकर आपने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है। इससे मेरा सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि आपने क्षत्रिय माता से प्राप्त मेरे रजोगुण को दूर करके मुझे मेरे पिता का सतोगुण दे दिया है॥९०॥ अब मैं जाता हूँ। आप देवताओं का जो कार्य करने धरती पर आये हैं वह बिना विघ्न के पूरा हो। राम और लक्ष्मण से यह कहकर परशुरामजी तत्काल अन्तर्धान हो गये॥९१॥ इस प्रकार परशुराम के चले जाने पर विजयी राम को दशरथजी ने गले से लगा लिया और वे स्नेहसिक्त होकर यह समझने लगे कि राम का दूसरा जन्म हुआ है। इस अल्पकालीन दुःख के पश्चात् उन्हें ऐसा सतोष मिला, जैसे जङ्गल की आग से झुलसे हुए वृक्ष को वर्षा का जल मिल जाय॥९२॥ तब शिव के समान राजा दशरथ ने कुछ रातें तो उस मार्ग में ही बितायीं, जहाँ उनके लिए सुन्दर डेरे बने हुए थे। तदनन्तर वे उस अयोध्या नगरी में पहुँचे, जहाँ सीताजी को देखने के लिए उत्सुक नगर की सुन्दरी स्त्रियों की आँखें झरोखों में कमल जैसी दीख रही थीं॥९३॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में सीताविवाह-वर्णन नामक
ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त॥११॥

द्वादश सर्ग

निर्विष्टविषयस्नेह स दशान्तमुपेयिवान् । आसीदासन्ननिर्वाण प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥
त कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति। कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा॥ २ ॥
सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुति । प्रत्येक ह्लादयाञ्चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥
तस्याभिषेकसम्भार कल्पित क्रूरनिश्चया । दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभि ॥ ४ ॥
सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्सश्रुतौ वरौ । उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥
तयोश्चतुर्दशैकेन राम प्राव्राजयत्समा । द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफला श्रियम् ॥ ६ ॥
पित्रा दत्ता रुदन्राम प्राड्महीं प्रत्यपद्यत । पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञा मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥
दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले । ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखराग सम जना ॥ ८ ॥
स सीतालक्ष्मणसख सत्याद्गुरुमलोपयन् । विवेश दण्डकारण्य प्रत्येक च सता मन ॥ ९ ॥
राजाऽपि तद्वियोगार्त स्मृत्वा शाप स्वकर्मजम् । शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥
विप्रोषितकुमार यद्राज्यमस्तमितेश्वरम् । रन्ध्रान्वेषणदक्षाणा द्विषामामिषता ययौ ॥ ११ ॥
अथानाथा प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् । मौलैरानाययामासुर्भरत स्तम्भिताश्रुभि ॥ १२ ॥

जब राजा दशरथ ने सब सुख भोग लिये और बूढ़े हो चले, तब उनकी दशा प्रात काल के उस दीपक जैसी हो गयी, जिसका तेल चुक गया हो और वह बुझने ही वाला हो॥ १ ॥ उनकी कनपटी के पासवाले बाल पक गये थे, जिससे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो बुढापा कैकेयी से सशक होकर राजा के कान में कह रहा था कि अब राम को राज्य सौंप दीजिए॥ २ ॥ जैसे पानी की गूल से सिचकर पूरे उद्यान के वृक्ष हरे-भरे हो जाते हैं, वैसे ही लोकप्रिय राम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर अयोध्या का प्रत्येक निवासी फूला नहीं समाया ॥ ३ ॥ किन्तु निष्ठुर कैकेयी ने ऐसा चक्र रचा कि राज्याभिषेक का सारा उत्साह शोकसन्तप्त राजा दशरथ के आसुओं मे बह गया ॥ ४ ॥ उस कठोर स्वभाववाली कैकेयी को जब राजा दशरथ ने बहुत समझाया, तब उसने वे दो वर माँगे, जिनके लिए राजा दशरथ पहले से ही वचन दे चुके थे। वे दोनों वर ऐसे ही थे, जैसे वर्षा मे भीगी हुई पृथ्वी के छेदो मे से सहसा दो साँप निकल आये हों॥ ५ ॥ उनमे से कैकेयी ने एक वर तो यह माँगा कि चौदह वर्ष के लिए राम वन को चले जायँ। दूसरा यह कि मेरे बेटे भरत को राज्य मिले। किन्तु ये वर माँगने का एकमात्र फल यही हुआ कि कैकेयी विधवा हो गयी॥ ६ ॥ दशरथजी राम को जब राजगद्दी दे रहे थे, तब राम ने आँखो मे आँसू भरके उसे स्वीकार किया था, किन्तु जब उनसे कहा गया कि 'वन चले जाओ', तब उन्होंने इस आज्ञा को हँसते-हँसते अगीकार कर लिया ॥ ७ ॥ यह देखकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि राम के मुँह का भाव राज्याभिषेक के रेशमी वस्त्र पहनते समय जैसे था, ठीक वैसा ही भाव वन जाने के लिए पेड की छाल के वस्त्र पहनते समय भी था ॥ ८ ॥ अपने पिता की बात सत्य करने के लिए वे सीता और लक्ष्मण के साथ केवल दण्डक वन मे ही नहीं, बल्कि अपने इस शुभ व्यवहार से सज्जनों के मन मे भी पैठ गये ॥ ९ ॥ उनके वियोग में राजा दशरथ को बडा दु ख हुआ। उसी समय उन्हें श्रवण के पिता का शाप स्मरण हो आया और उन्होंने समझ लिया कि अब प्राण देकर ही मेरी आत्मा की शुद्धि होगी॥ १० ॥ उनके शत्रु तो ऐसे अवसर की ताक मे थे ही। जब उन्होने देखा कि अवधेश स्वर्ग चले और राजकुमार भी राज्य छोडकर चल दिये तो उन्होने झट अयोध्या पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया ॥ ११ ॥ तब अयोध्या की अनाथ प्रजा ने उन कुल-मत्रियों को भेजकर भरत

श्रुत्वा तथाविध मृत्यु कैकेयीतनय पितु । मातुर्न केवल स्वस्या श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुख ॥
ससैन्यश्चान्वगाद्राम दर्शितानाश्रमालयै । तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४॥
चित्रकूटवनस्थ च कथितस्वर्गीतर्गुरो । लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा॥ १५॥
स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे । परिवेत्तारमात्मान मेने स्वीकरणाद्भुव ॥ १६॥
तमशक्यमपाक्रष्टु निदेशात्स्वर्गिण पितु । ययाचे पादुके पश्चात्कर्तु राज्याधिदेवते॥ १७॥
स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम्। नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्य न्यासमिवाभुनक्॥ १८॥
दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुख । मातु पापस्य भरत प्रायश्चित्तमिवाकरोत्॥ १९॥
रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन्। चचार सानुज शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रत युवा॥ २०॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रित स वनस्पतिम्। कदाचिदङ्के सीताया शिश्ये किञ्चिदिव श्रमात॥
ऐन्द्रि किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विज । प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्॥ २२॥
तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्र रामो रामावबोधित । आत्मान मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन स ॥ २३॥
रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्भरतागमन पुन । आशङ्क्योत्सुकसारङ्गा चित्रकूटस्थली जहौ॥ २४॥

को उनके ननिहाल से बुलवाया, जिन्होंने अपने आँसू रोक रखे थे॥ १२॥ भरतजी को जब अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला, तब वे केवल अपनी माँ से ही नहीं, बल्कि अयोध्या की राजलक्ष्मी तक से उदासीन हो गये॥ १३॥ अपने साथ सेना लेकर वे राम को ढूंढने निकल पड़े। मार्ग के आश्रमवासियो ने जब उन्हें वे वृक्ष दिखलाये, जिनके नीचे राम और लक्ष्मण जाते समय टिके थे, तब उनकी आँखों में आँसू उमड़ पड़े॥ १४॥ उन दिनों राम चित्रकूट के वन मे रहते थे। वहाँ पहुचकर भरतजी ने उन्हें दशरथजी की मृत्यु का समाचार सुनाया और कहा कि अयोध्या की राजलक्ष्मी का मैंने स्पर्श भी नहीं किया है। अब आप ही चलकर उसे सम्हालिए॥ १५॥ क्योंकि बडे भाई ने जिस राज्य को स्वीकार नहीं किया, उसे लेना मैं उतना ही बड़ा पाप समझता हूँ, जितना कि बडे भाई के अविवाहित रहने पर छोटे भाई का अपना विवाह कर लेना॥ १६॥ किन्तु राम अपने स्वर्गीय पिता की आज्ञा से तनिक भी विचलित नहीं हुए। तब भरतजी ने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे अपनी खड़ाऊँ दे दीजिए, जिन्हें मैं अयोध्या का अधिदेवता बनाकर राज्य का काम चलाऊँगा॥ १७॥ तब राम ने अपनी खड़ाऊँ दे दी। उसे लेकर भरतजी लौट पड़े, परन्तु वे अयोध्या नहीं आये। उन्होने नन्दिग्राम मे डेरा डाला और वहीं से अयोध्या के राज्य की उसी प्रकार रक्षा की, जैसे अपने भाई की धरोहर सम्हाल रहे हों॥ १८॥ इस प्रकार अपने बड़े भाई में भक्ति करके और राजपद ठुकराकर भरतजी ने अपनी माता के पाप का प्रायश्चित्त कर लिया॥ १९॥ उधर राम भी सीता तथा लक्ष्मण के साथ कन्द-मूल खाते हुए युवावस्था में ही व्रत को करने लगे, जिसे इक्ष्वाकुवंशवाले राजा बुढ़ापे मे लिया करते थे॥ २०॥ एक दिन थके हुए राम सीताजी की गोद में सिर रखकर एक ऐसे वृक्ष के नीचे लेटे थे, जिसकी छाया को उन्होंने अपने अलौकिक प्रभाव से बाँध दिया था॥ २१॥ उसी समय इन्द्र का पुत्र जयन्त कौवा बनकर आया और उसने अपने नखों से सीताजी के स्तनों पर चोंच मारी, जैसे वह सीताजी के स्तनों पर राम के हाथ से निर्मित नखक्षतों को प्रकट करके अपनी यह आदत बतला रहा हो कि मेरा काम दूसरों का दोष ढूँढना ही है॥ २२॥ तब तुरन्त सीताजी ने राम को जगाया, उसी समय राम ने उस पर सींक का एक बाण छोड़ा। उससे बचने के लिए उस कौवे ने इधर-उधर बहुत चक्कर काटा, परन्तु जब तक उसने अपनी एक आँख नहीं दे दी तब तक वह विपत्ति से नहीं छूटा॥ २३॥ थोडे ही दिन बाद राम ने चित्रकूट का वह आश्रम छोड दिया, जहाँ के हरिण राम से इतने हिल-मिल गये थे कि दिन-रात उन्हें ही देखा करते थे। राम ने इस डर से चित्रकूट छोडा था कि अयोध्या पास में ही है, कहीं ऐसा न

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु स । दक्षिणा दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्कर ॥ २५ ॥
बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपते सुता । प्रतिषिद्धाऽपि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥
अनसूयाऽतिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् । सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ २७ ॥
सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षस । अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रह ॥ २८ ॥
स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषण । नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ २९ ॥
त विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् । गन्धेनाशुचिना चेति वसुधाया निचख्नतु ॥
पञ्चवट्या ततो राम शासनात्कुम्भजन्मन । अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रि प्रकृताविव ॥
रावणावरजा तत्र राघव मदनातुरा । अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥
सा सीतासन्निधावेव त वव्रे कथितान्वया । अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभव ॥ ३३ ॥
कलत्रवानह बाले ! कनीयास भजस्व मे । इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्ध शशास ताम् ॥ ३४ ॥
ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिताम् । साऽभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ ३५ ॥
सरम्भ मैथिलीहास क्षणसौम्या निनाय ताम् । निवातस्तिमिता वेला चन्द्रोदय इवोदधे ॥ ३६ ॥
फलमस्योपहासस्य सद्य प्राप्स्यसि पश्य माम् । मृग्या परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥

हो कि भरत फिर यहाँ आ पहुँचे ॥ २४ ॥ जैसे वर्षा के दस नक्षत्रो मे ठहरता हुआ सूर्य दक्षिण को घूम जाता है, वैसे ही अतिथि-सत्कार करनेवाले ऋषियो के आश्रमों में टिकते हुए राम भी वहाँ से दक्षिण दिशा की ओर मुड पडे ॥ २५ ॥ यद्यपि राम को कैकेयी ने राजलक्ष्मी से हटा दिया था, तथापि उनके पीछे-पीछे चलनेवाली सीता ऐसी जान पडती थीं कि जैसे गुणो के पीछे चलनेवाली साक्षात् लक्ष्मी ही चल रही हो ॥ २६ ॥ जब वे अत्रि ऋषि के आश्रम पर पहुँचे, तब उनकी पत्नी अनसूया ने सीताजी के शरीर मे ऐसा सुगन्धित अङ्गराग लगाया कि उसकी पवित्र सुगन्ध पाकर भौंरें भी जगली फलो मे उड-उडकर उधर ही दौड आये ॥ २७ ॥ जैसे राहु चन्द्रमा का मार्ग रोक लेता है, वैसे ही सन्ध्या के बादल के समान लाल रगवाला विराध राक्षस एकाएक राम का मार्ग रोककर खडा हो गया ॥ २८ ॥ जैसे कोई खोटा ग्रह सावन और भादों महीनों की वर्षा ले बीतता है, वैसे ही उस राक्षस ने राम और लक्ष्मण के बीच से सीताजी का अपहरण कर लिया ॥ २९ ॥ तब राम-लक्ष्मण ने उसे तुरन्त मार डाला और यह सोचकर उसे पृथ्वी मे गाड दिया कि कहीं इसके शरीर की दुर्गन्धि इस प्रदेशभर मे न फैल जाय ॥ ३० ॥ अगस्त्यजी की आज्ञा से जैसे विन्ध्याचल अपनी मर्यादा में रह गया था, वैसे ही राम भी मर्यादापूर्वक पञ्चवटी में रहने लगे ॥ ३१ ॥ कोई नागिन जैसे धूप से घबराकर चन्दन के पेड के पास पहुँच जाय वैसे ही काम से पीडित रावण की छोटी बहन शूर्पणखा एक दिन राम के पास जा पहुँची ॥ ३२ ॥ उसने पहले तो अपने कुल का परिचय दिया, फिर सीताजी के सामने ही वह राम से कहने लगी कि 'मैं तुम्हें अपना पति मानती हूँ।' क्योंकि जब स्त्रियाँ बहुत अधिक कामासक्त हो जाती हैं, तब उन्हें समय का ध्यान नहीं रहता कि कब क्या करना चाहिए ॥ ३३ ॥ कामासक्ता शूर्पणखा की बाते सुनकर साड के जैसे ऊँचे कन्धोंवाले राम बोले—बाले ! मैं विवाहित हूँ, तुम मेरे छोटे भाई से मिलो ॥ ३४ ॥ तब वह लक्ष्मण के पास पहुँची। लक्ष्मण ने कहा—तू पहले मेरे बडे भाई के पास विवाह की इच्छा से जा चुकी है। अत तू मेरी माता के समान है। मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता। यह सुनकर वह फिर राम के पास लौटी। इस प्रकार राम और लक्ष्मण के पास आती-जाती हुई शूर्पणखा उस नदी के जैसी हो गयी, जो बारी-बारी से अपने दोनों तटों को छूती हुई बह रही हो ॥ ३५ ॥ वायु के रुके रहने से शान्त समुद्र का जल जैसे चन्द्रमा के निकलने पर हिलोरे लेने लगता है, वैसे ही सीताजी को हँसते हुए देखकर क्षणभर के लिए सुन्दर रूप धारण करनेवाली कुरूपा शूर्पणखा एकदम बिगड गयी ॥ ३६ ॥ वह बोली—'इधर देखो ! तुम्हें इस हँसी का फल बहुत शीघ्र मिलेगा। यह समझ लो

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् । रूप शूर्पणखा नाम्न सदृश प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥
लक्ष्मण प्रथम श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् । शिवाघोरस्वना पश्चाद्बुबुधे विकृतेति ताम् ॥
पर्णशालामथ क्षिप्र विकृष्टासि प्रविश्य स । वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणा तामयोजयत् ॥ ४० ॥
सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया । अङ्कुशाकारयाऽङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ ४१ ॥
प्राप्य चाशु जनस्थान खरादिभ्यस्तथाविधम् । रामोपक्रममाचख्यौ रक्ष परिभव नवम् ॥ ४२ ॥
मुखावयवलूना ता नैर्ऋता यत्पुरो दधु । रामाभियायिना तेषा तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥
उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघव । निदधे विजयाशसा चापे सीता च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥
एको दाशरथि काम यातुधाना सहस्रश । ते तु यावन्त एवाजौ तावाश्च ददृशे स तै ॥ ४५ ॥
असज्जनेन काकुत्स्थ प्रयुक्तमथ दूषणम् । न चक्षमे शुभाचार स दूषणमिवात्मन ॥ ४६ ॥
त शरै प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च स । क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययु ॥ ४७ ॥
तैस्त्रयाणा शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभि । आयुर्देहातिगै पीत रुधिर तु पतत्रिभि ॥ ४८ ॥
तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् । उत्थित ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥
सा बाणवर्षिण राम योधयित्वा सुरद्विषाम् । अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

कि तुमने वैसे ही मेरा अपमान किया है, जैसे कोई हरिणी किसी बाघिन का अपमान करे' ॥ ३७ ॥ यह सुनते ही सीताजी डर के मारे राम के पीछे जा छिपीं और शूर्पणखा ने अपने नाम के अनुसार सूप के समान बड़े-बड़े नखोंवाला अपना विकराल रूप दिखलाया ॥ ३८ ॥ लक्ष्मण ने जब देखा कि अभी तो कोयल के समान मधुर बोली बोल रही थी और अब सियारिन सदृश हुआँ-हुआँ करने लगी, तब समझ गये कि यह कोई कपटी स्त्री है ॥ ३९ ॥ यह समझते ही वे अपनी कुटिया मे गये और वहाँ से तलवार लाकर शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये। नाक-कान कट जाने से वह और भी कुरूप दीखने लगी ॥ ४० ॥ इस प्रकार नकटी होकर वह आकाश मे उडी। वहाँ से अकुश जैसे टेढे नखो और बाँस के से भद्दे पोरोंवाली अपनी उँगलियाँ चमका-चमकाकर वह राम-लक्ष्मण को धमकाने लगी ॥ ४१ ॥ तत्काल वहाँ से चलकर वह जनस्थान म जा पहुँची और उसने खर आदि राक्षसों को यह कहकर उभाडा कि आज पहली बार राम ने इस तरह राक्षसो को अपमानित किया है ॥ ४२ ॥ तदनन्तर आगे-आगे नकटी शूर्पणखा और उसके पीछे-पीछे वे राक्षस राम से लड़ने के लिए चले। इस प्रकार उस नकटी को आगे करके ही उन लोगों ने अपना सगुन बिगाड लिया ॥ ४३ ॥ जब राम ने दूर से देखा कि हाथ मे शस्त्र लिये घमडी राक्षस आगे बढे चले आ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि इन्हे तो हम स्वय अपने धनुष से ही जीत लेगे। अतएव उन्होने सीता की रक्षा का भार लक्ष्मण को सौंप दिया ॥ ४४ ॥ यद्यपि राम अकेले और राक्षस हजारों थे, परन्तु राम ऐसे लड रहे थे कि वहाँ जितने राक्षस थे, उन्हे उतने ही राम दीख रहे थे ॥ ४५ ॥ जैसे सदाचारी राम अपने ऊपर नीच पुरुषो द्वारा लगाया हुआ दूषण नहीं सह सकते थे, वैसे ही वे युद्ध मे दूषण राक्षस का आगमन भी नहीं सह सके ॥ ४६ ॥ उन्होने दूषण, खर और त्रिशिरा पर एक-एक करके बाण चलाये, किन्तु अत्यन्त शीघ्रता से चलाये हुए वे बाण ऐसे जान पडते थे कि मानों वे एक साथ धनुष से छूटे हुए हो ॥ ४७ ॥ राम के वे बाण उनका शरीर छेदकर इतने वेग से बाहर निकल गये कि उनमे रक्त भी नहीं लग सका। क्योंकि बाण तो उनकी आयु पीने के लिये गये थे, उनका रक्त तो पक्षियो ने पिया ॥ ४८ ॥ उन राम ने अपने बाणों से राक्षसो की पूरी सेना को इस प्रकार काट डाला कि युद्धभूमि मे राक्षसो के धडों के सिवाय कुछ नहीं दीखता था ॥ ४९ ॥ इस प्रकार बाण बरसानेवाले राम से लडकर राक्षसो की वह सेना गिद्धों के पखों की छाया मे सदा

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् । तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत्॥५१॥
निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः । रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु॥५२॥
रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ । जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥५३॥
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् । प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥५४॥
स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम् । आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥५५॥
तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः । पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥५६॥
वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः । मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ॥५७॥
स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते । धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं सन्न्यवेशयत्॥५८॥
इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः । कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥५९॥
प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् । मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥६०॥
दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता । जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥६१॥
तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः । प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥६२॥
निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः । स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥६३॥

के लिए सो गयी॥५०॥ राम के अस्त्र से मारे हुए उन राक्षसों की मृत्यु का समाचार रावण के पास पहुँचाने के लिए अकेली शूर्पणखा ही बाकी बची॥५१॥ अपनी बहन का अपमान और खर-दूषण आदि अपने सगे-सम्बन्धियों का वध रावण को इतना अपमानजनक जान पड़ा कि जैसे राम ने उसके दसों *सिरों पर एक साथ पैर रख दिया हो॥५२॥ तब उसने मारीच को मायामृग बनाया और राम-लक्ष्मण* को धोखा देते हुए सीताजी को चुराकर लङ्का में ले गया। मार्ग में गृद्धराज जटायु कुछ क्षण उससे लड़ा भी, परन्तु वह कुछ नहीं कर सका॥५३॥ अब राम और लक्ष्मण सीता को ढूँढने चले। मार्ग में उन्होंने जटायु को देखा। उसके पंख कटे हुए थे और प्राण कण्ठ तक आ गये थे, परन्तु उसने सीता को चुरानेवाले रावण से लड़कर अपने मित्र दशरथ का ऋण चुका दिया था॥५४॥ उसने राम-लक्ष्मण से कहा कि सीताजी को रावण चुरा ले गया है। बेचारे जटायु के घावों को देखकर ही यह स्पष्ट हो गया कि वह रावण से कितना लड़ा था॥५५॥ केवल इतना कहकर ही जटायु मर गया। उसके मरने से राम-लक्ष्मण को उतना ही शोक हुआ, जितना अपने पिता के मरने पर हुआ था। पिता के ही सदृश विधिवत् दाहसंस्कार करके उन्होंने उसका श्राद्ध आदि भी किया॥५६॥ वहाँ से आगे चलने पर उन्हें कबन्ध मिला, जो किसी ऋषि के शाप से राक्षस हो गया था। राम ने उसकी भुजाएँ काट डालीं, जिससे शापमुक्त होकर वह फिर देवता बन गया। उसने प्रसन्न होकर सुग्रीव का पता बतलाया। उस सुग्रीव के राज्य और स्त्री को उसके भाई वाली ने छीन लिया था। सो उसने स्त्री से बिछुड़े हुए राम से शीघ्र मित्रता कर ली॥५७॥ तब पराक्रमी राम ने वाली को मारकर उसके सिंहासन पर सुग्रीव को वैसे ही बैठा दिया, जैसे कोई वैयाकरण लिट्-लुट् आदि लकारों में अस् धातु के बदले भू आदि धातुओं का सन्निवेश कर दे॥५८॥ सुग्रीव ने वानरों को आज्ञा दी कि 'जाओ सीताजी का पता लगाओ'। जैसे विरही राम का मन सीताजी की खोज में भटकता था, वैसे ही वानर भी सर्वत्र घूम-घूमकर सीताजी की खोज करने लगे॥५९॥ मार्ग में जटायु के भाई सम्पाती से वे मिले। उसने कहा कि समुद्रपार लङ्काद्वीप का राजा रावण सीताजी को चुरा ले गया है। यह सुनकर हनुमान्जी वैसे ही समुद्र को लाँघ गये, जैसे निर्मोही पुरुष संसार-सागर को पार कर लेता है॥६०॥ लङ्का में पहुँचकर ढूँढते-ढूँढते उन्होंने एक स्थान पर सीताजी को देखा। चारों ओर राक्षसियों से घिरी हुई वे ऐसी दीख रही थीं, जैसे विषबेलि के बीच में सजीवनी बूटी जगमगा रही हो॥६१॥ उनके पास जाकर हनुमान्जी ने राम की अगूठी दी। सीताजी ने उसका स्वागत उमड़े हुए आनन्द के ठंढे आँसुओं से किया॥६२॥ पहले तो हनुमान्जी

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती । हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ ६४ ॥
स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः । अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥
श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः । महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥
स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः । न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि सम्बाधवर्त्मभिः ॥ ६७ ॥
निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः । स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ ६८ ॥
तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः । काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥
स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि । रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥
तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः । द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥
रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् । दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥
पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः । अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥
अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् । सीता मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥
कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम्। प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता॥

ने रामचन्द्रजी का प्यारभरा सन्देश सुनाकर सीताजी को ढाढम बँधाया। फिर रावण के पुत्र अक्षकुमार को मार कर तथा थोड़ी देर के लिए शत्रुओं के हाथ बन्दी बनकर उन्होंने लङ्का में आग लगाकर उसे जला डाला॥ ६३॥ फिर पहचान के लिए सीताजी से चूडामणि लेकर वे राम के पास लौट आये। वह मणि पाकर राम को इतना आनन्द हुआ कि जैसे साक्षात् सीताजी का मूर्तिमान् हृदय ही चला आया हो॥ ६४॥ उस मणि को हृदय से लगा तथा सुध-बुध भूलकर वे आनन्दविभोर हो गये। उन्हें उस समय ऐसी प्रसन्नता हुई कि जैसे स्तन के स्पर्श के सिवाय स्वयं सीताजी ही हृदय से आ लगी हों॥ ६५॥ अपनी प्रियतमा का सन्देश सुनकर राम उससे मिलने के लिए अधीर हो उठे। उसी उत्साह मे उन्हें लङ्का के चारों ओर का चौड़ा और गहरा समुद्र खाई से भी कम चौड़ा जँचने लगा॥ ६६॥ बस, वे वानरों की अपार सेना साथ लेकर शत्रु का संहार करने चल पडे। वह सेना इतनी अधिक थी कि पृथ्वी की कौन कहे, आकाश मे भी बड़ी कठिनाई से चल सकती थी॥ ६७॥ राम जब समुद्रतट पर पहुँचे तो रावण का भाई विभीषण उनसे मिलने आया। उस समय ऐसा लगा कि जैसे राक्षसों की राजलक्ष्मी ने ही उसकी बुद्धि मे पैठकर यह समझा दिया हो कि अब राम की शरण मे जाने पर ही तुम्हारा कल्याण हो सकेगा॥ ६८॥ राम ने तत्काल उससे यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'हम तुम्हे राक्षसों का राजा बना देंगे।' ठीक भी है। समय पर काम में लायी हुई कूटनीति आगे चलकर अवश्य फल देती है॥ ६९॥ राम ने वानरों के द्वारा समुद्र पर जो पत्थरो का पुल बँधवाया, वह ऐसा लगता था कि मानो विष्णु को अपने ऊपर सुलाने के लिए स्वयं शेषनाग धरती पर उतर आये हों॥ ७०॥ उस पुल से समुद्र पार करके पीले-पीले वानरों ने लङ्का को चारों ओर से घेर लिया। उनसे घिरी हुई लङ्का ऐसी दीखती थी कि जैसे लङ्का के चारों ओर सोने का एक और परकोटा बन गया हो॥ ७१॥ तदनन्तर वहाँ वानरो और राक्षसो का ऐसा भयङ्कर युद्ध होने लगा कि राम और रावण की जय-जयकार से दिशाएँ फटने लगीं॥ ७२॥ उस युद्ध मे वानर पेडों से मार-मारकर राक्षसों की लोहे की गदाएँ चूर कर देते थे, पत्थर बरसाकर उनके मुद्गर पीस डालते थे, अपने नखों से वे इतने भयङ्कर घाव कर देते थे कि शस्त्रों से भी वैसे घाव नहीं किये जा सकते थे और हाथियों के सिरों पर चट्टाने पटक-पटक कर उनको मार डालते थे॥ ७३॥ उसी समय एक मायावी राक्षस ने मायामय राम का सिर बनाकर सीताजी के आगे ला रखा। उसे देखते ही सीताजी मूर्च्छित होकर गिर गयीं। परन्तु जब त्रिजटा ने उन्हे समझाया कि 'यह सब राक्षसी माया है', तब सीताजी को शान्ति मिली॥ ७४॥ यह जानकर उनका शोक तो दूर हो गया कि मेरे 'पतिदेव जीवित है', परन्तु उन्हे इस बात की बडी लज्जा हुई कि पति के मारे जाने का समाचार

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धन । दाशरथ्यो क्षणक्लेश स्वप्नवृत्त इवाभवत्॥७६॥
ततो बिभेद पौलस्त्य शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम्। रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदय शुचा॥
स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथ । लङ्कास्त्रीणा पुनश्चक्रे विलापाचार्यक शरै ॥७८॥
स नाद मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम्। मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत्॥७९॥
कुम्भकर्ण कपीन्द्रेण तुल्यावस्थ स्वसु कृत ।रुरोध राम शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमन शिल ॥८०॥
अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान्। रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रा प्रवेशित ॥८१॥
इतराण्यपि रक्षासि पेतुर्वानरकोटिषु । रजासि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव॥८२॥
निर्ययावथ पौलस्त्य पुनर्युद्धाय मन्दिरात्। अरावणमराम वा जगदद्येति निश्चित ॥८३॥
राम पदातिमालोक्य लङ्केश च वरूथिनम्। हरियुग्य रथ तस्मै प्रजिघाय पुरन्दर ॥८४॥
तमाधूतध्वजपट व्योमगङ्गोर्मिवायुभि । देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघव ॥८५॥
मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम्। यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापु सुरद्विषाम्॥८६॥
अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसर चिरात् । रामरावणयोर्युद्ध चरितार्थमिवाभवत्॥८७॥
भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुज । ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवश इव स्थित ॥८८॥

सुनकर भी मैं जीवित क्यों रह गयी, मरी क्यों नहीं?॥७५॥ मेघनाद ने उसी समय राम और लक्ष्मण को नागपाश मे बाँध लिया, परन्तु तत्काल गरुड ने आकर वह फन्दा काट दिया। पाश मे बँधने का वह क्षणिक क्लेश उन दोनो भाइयो को ऐसा लगा कि मानो स्वप्न मे वैसा हुआ हो॥७६॥ तब मेघनाद ने लक्ष्मण की छाती मे शक्ति-बाण मारा, जिसके आघात मे लक्ष्मण गिर गये। उन्हें देखकर राम का हृदय शोक से फटने लगा। तत्काल हनुमान्‌जी जाकर हिमालय मे सजीवनी बूटी ले आये, जिसे पिलाते ही लक्ष्मण की पीडा जाती रही और फिर उठकर उन्होने अपने बाणों से असख्य राक्षसों को मारा, जिससे लङ्का की स्त्रियों को फिर विलाप करने के लिए विवश कर दिया॥७७-७८॥ जैसे शरद् ऋतु आने पर न बादल का गर्जन रह जाता है और न इन्द्रधनुष ही दिखलायी देता है, वैसे ही लक्ष्मण ने भी मेघनाद के गर्जन और उसके इन्द्रधनुष सदृश धनुष को क्षणभर मे समाप्त कर दिया॥७९॥ तभी सुग्रीव ने कुम्भकर्ण की नाक काटकर उसे भी शूर्पणखा जैसा बना दिया। तब वह राम का मार्ग रोककर ऐसे खडा हो गया, जैसे छेनी से कटी हुई मैनसिल की चट्टान आ गयी हो॥८०॥ तब राम के बाणों से घायल होकर वह मर गया। जैसे उन बाणों ने उसे यह कहकर गहरी नींद मे सुला दिया हो कि 'तुमको नींद बडी प्यारी है, तुम्हारे भाई ने व्यर्थ तुम्हे असमय मे जगा दिया'॥८१॥ उन करोडों वानरों की सेना मे बहुत-से राक्षस इस प्रकार मर-मरकर गिर रहे थे कि जैसे राक्षसों के रक्त की नदी मे रणक्षेत्र से उठी हुई धूल गिर रही हो॥८२॥ रावण ने जब सब हाल सुना, तब वह स्वय अपने राजमहल से निकलकर रणभूमि मे आया। उसने ठान लिया था कि आज ससार मे या तो रावण नहीं रहेगा या राम ही नहीं रहेंगे॥८३॥ रावण को रथ पर और राम को पैदल देखकर इन्द्र ने उनके लिए अपना वह रथ भेजा, जिसमें बडे अच्छे घोडे जुते हुए थे॥८४॥ उस रथ की पताका आकाशगङ्गा की लहरो के पवन से फहरा रही थी। इन्द्र के सारथी मातलि का हाथ थामकर राम उस पर चढे॥८५॥ तब मातलि ने उन्हें इन्द्र का वह कवच भी पहना दिया, जिस पर राक्षसो के अस्त्र का प्रहार कमल के फूल जैसा लगता था॥८६॥ बहुत दिनों बाद राम और रावण ने एक-दूसरे को देखा और उन दोनों को अपनी वीरता दिखलाने का अवसर मिला। तीनों लोको मे राम-रावण का जो युद्ध प्रसिद्ध था, वह अब चरितार्थ हुआ॥८७॥ असख्य राक्षसों के मारे जाने मे रावण अकेला रह गया था, फिर भी अपनी अनेक बाँहों और अनेक मुखो के कारण वह ऐसा लगता था कि मानो उसके साथ बहुत-से

जेतार लोकपालाना स्वमुखैरर्चितेश्वरम् । रामस्तुलितकैलासमराति बह्वमन्यत॥ ८९ ॥
तस्य स्फुरति पौलस्त्य सीतासङ्गमशंसिनि। निचखानाधिकक्रोध शर सव्येतरे भुजे॥ ९० ॥
रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुग । विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्॥ ९१ ॥
वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतो । अन्योन्यजयसरम्भो ववृधे वादिनोरिव॥ ९२ ॥
विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि । जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव॥ ९३ ॥
कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्ता सुरासुरे । परस्परशरव्राता पुष्पवृष्टि न सेहिरे॥ ९४ ॥
अय शङ्कुचिता रक्ष शतघ्नीमथ शत्रवे। हृता वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत्॥ ९५ ॥
राघवो रथमप्राप्ता तामाशा च सुरद्विषाम्। अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम्॥ ९६ ॥
अमोघ सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धर । ब्राह्ममस्त्र प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम्॥ ९७ ॥
तद्व्योम्नि शतधा भिन्न ददृशे दीप्तिमन्मुखम्। वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम्॥ ९८ ॥
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् । स रावणशिर पङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम्॥ ९९ ॥
बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यत । रराज रक्ष कायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा॥ १०० ॥

राक्षस हैं॥ ८८॥ जिसने इन्द्र आदि लोकपालों को जीत लिया था, जिसने अपने सिर काट-काटकर शिवजी को चढ़ा दिये थे और जिसने कैलास पर्वत को उँगलियों पर उठा लिया था, उस रावण को देखकर राम ने समझा कि यह बहुत बड़ा पराक्रमी है॥ ८९॥ तभी रावण ने बड़े क्रोध के साथ राम की दाहिनी भुजा में बाण मारा, जो फड़ककर यह सूचना दे रही थी कि अब सीता की प्राप्ति में देर नहीं है॥ ९०॥ तब राम ने जो बाण छोड़ा, वह रावण की छाती छेदकर पाताल में चला गया। जैसे पातालवासियों को रावण के मरने की शुभ सूचना देने के लिए वह वहाँ गया हो॥ ९१॥ वे दोनों क्रोध से एक-दूसरे को ललकारते और अस्त्र को शस्त्र से काटते हुए जूझ रहे थे। उनका क्रोध वैसे ही बढ़ता जा रहा था, जैसे विजय के लिए शास्त्रार्थ करनेवालों का क्रोध बढ़ता जाता है॥ ९२॥ कभी राम अपना पराक्रम दिखलाते थे और कभी रावण दिखलाता था। अत विजयश्री कभी राम के पास जाती तो कभी रावण के पास। उस विजयश्री की दशा वैसी ही थी, जैसे लड़ते हुए दो मतवाले हाथियों के बीच में स्थित दीवार हो॥ ९३॥ राम जब बाण चलाते या रावण का वार रोकते, तब देवता उनके ऊपर फूल बरसाने लगते और जब राम पर रावण प्रहार करता या उनका वार रोकता, तब असुर उस पर फूल बरसाने लगते थे। परन्तु राम के अस्त्र रावण के ऊपर बरसने वाले फूलों को ऊपर ही तितर-बितर कर देते और रावण के बाण राम पर बरसनेवाले फूलों को आकाश में ही छितरा दिया करते थे॥ ९४॥ तभी रावण ने लोहे की कीलों से जटित वह शतघ्नी राम पर चलायी, जो यमराज के अस्त्र कूटशाल्मली के समान भीषण थी॥ ९५॥ उसे देखकर राक्षसों को पूरी आशा हो गयी कि इस अस्त्र से राम अवश्य समाप्त हो जायेंगे, परन्तु राम ने उस शतघ्नी को रथ तक पहुँचने के पहले ही अपनी तिरछी नोकवाले बाणों द्वारा ऐसी सरलता से खण्ड-खण्ड कर डाला, मानो केले का छिल्का उतार रहे हों। यह देखकर राक्षसों की रही-सही आशा भी जाती रही॥ ९६॥ राम साधारण धनुषधारी नहीं थे। उन्होंने रावण को मारने के लिए धनुष पर वह ब्रह्मास्त्र चढ़ाया, जो कभी व्यर्थ नहीं जाता था। वह सीता के शोकरूपी काँटों को निकालने की अचूक औषधि जैसा था॥ ९७॥ आकाश में जाते ही वह ब्रह्मास्त्र दस भागों में बँट गया और उसमें से निकलनेवाली आग फणों का चमकीला मंडल लिये हुए शेषनाग जैसी दीख रही थी॥ ९८॥ मन्त्रचालित उस ब्रह्मास्त्र से राम ने रावण के दसों सिर आधे पल में काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया और रावण को तनिक भी कष्ट नहीं हुआ॥ ९९॥ कट-कटकर गिरते हुए रावण के सिर ऐसे अच्छे लगते थे, जैसे चचल लहरों में प्रात काल के सूर्य का प्रतिबिम्ब सुन्दर लगता है॥ १००॥

मरुता पश्यता तस्य शिरांसि पतितान्यपि । मनो नातिविशश्वास पुनः सन्धानशङ्किनाम् ॥
अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥ १०२ ॥
यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्यमापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टिमूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥ १०३ ॥
रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे सङ्गमय्य श्रियं वैरिणः ।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥ १०४ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये
रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

रावण के कटे हुए उन सिरों को देख करके भी देवताओं को विश्वास नहीं हो रहा था। क्योंकि उन्हें यह डर था कि कहीं ये फिर से न जुड जाये॥ १०१॥ जिन राम पर राज्याभिषेक का जल छिड़का जानेवाला था, उन्हीं के सिर पर देवताओं ने वे फूल बरसाये, जिनकी सुगन्ध पाकर मद से भींगी हुई पाँखोंवाले भौंरे दिग्गजों के मद बहनेवाले कपोलो को छोडकर रस लेने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड पडे॥ १०२॥ अब राम ने अपने धनुष की डोरी उतार दी। क्योंकि वे देवताओं का काम पूरा कर चुके थे। इन्द्र का सारथी मातलि उनसे आज्ञा लेकर अपने सहस्रों घोडेवाला रथ लेकर स्वर्ग चला गया। उस रथ के ध्वजदण्ड पर अब तक रावण के नाम खुदे हुए बाणों के चिह्न विद्यमान थे॥ १०३॥ बाद मे राम ने रावण की राज्यश्री विभीषण को दे दी और सीताजी को अग्नि मे शुद्ध करके सुग्रीव, विभीषण तथा लक्ष्मण के साथ अपने बाहुबल से जीते हुए पुष्पक विमान पर चढकर अयोध्या को लौट पडे॥ १०४॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में रावण-वध नामक
बारहवाँ सर्ग समाप्त॥ १२॥

त्रयोदश सर्ग

अथात्मन शब्दगुण गुणज्ञ पद विमानेन विगाहमान ।
रत्नाकर वीक्ष्य मिथ स जाया रामाभिधानो हरिरित्युवाच॥ १ ॥
वैदेहि! पश्यामलयाद्विभक्त मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्॥ २ ॥
गुरोर्यियक्षो कपिलेन मेध्ये रसातल सङ्क्रमिते तुरङ्गे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भि पूर्वै किलाय परिवर्धितो न ॥ ३ ॥
गर्भ दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद् विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धन वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादन ज्योतिरजन्यनेन॥ ४ ॥
ता तामवस्था प्रतिपद्यमान स्थित दश व्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा॥ ५ ॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन सस्तूयमान प्रथमेन धात्रा।
अमु युगान्तोचितयोगनिद्र सहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते॥ ६ ॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धा शरण्यमेन शतशो महीध्रा ।
नृपा इवोपप्लविन परेभ्यो धर्मोत्तर मध्यममाश्रयन्ते॥ ७ ॥
रसातलादादिभवेन पुसा भुव प्रयुक्तोद्वहनक्रियाया ।
अस्याच्छमम्भ प्रलयप्रवृद्ध मुहूर्तवक्त्राभरण बभूव ॥ ८ ॥

विमान पर चढे और शब्दगुणात्मक आकाश मे जाते हुए गुणी राम कहलाने वाले विष्णु भगवान् सीताजी से बोले—॥१॥ हे सीते! इस फेन मे भरे समुद्र को तो देखो, जिसे मेरे बनाये हुए पुल ने मलय पर्वत तक दो भागों मे इस प्रकार बाँट दिया है, जैसे सुन्दर तारो से भरे हुए शरद् ऋतु के खुले आकाश को आकाशगङ्गा दो भागों मे विभक्त कर देती है॥२॥ तुम्हे मालूम है कि समुद्र कैसे बना है? जब हमारे पुरखे महाराज सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे, तब कपिलजी उनका घोडा लेकर पाताल-लोक में ले गये। उस समय महाराज सगर के पुत्रों ने घोड़े की खोज करने के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी खोद डाली, उनकी खुदाई मे यह इतना लम्बा-चौडा समुद्र बन गया॥३॥ यह समुद्र बडे काम का है। इसी में मे सूर्य की किरणे जल खींच-खींचकर पृथ्वी पर बरसाती हैं। इसी मे रत्न मिलते हैं, अपने शत्रु वडवानल को यह अपनी गोद मे पालता है और सुखदायक प्रकाश वाला चन्द्रमा भी इसी में से उत्पन्न हुआ है॥४॥ यह सदा अपना रूप बदलता रहता है और यह इतना बडा है कि दसों दिशाओ मे दूर-दूर तक फैला हुआ है। अत जैसे विष्णु भगवान् के विषय में नहीं कहा जा सकता कि वे ऐसे और इतने बडे हैं, वैसे ही इसके विषय मे भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह कैसा है या कितना बडा है॥५॥ आदिपुरुष विष्णु भगवान् जब तीनों लोकों का सहार कर चुकते हैं, तब यहीं पहुँचकर योगनिद्रा मे सोते हैं और उनकी नाभि से जायमान कमल मे उत्पन्न होने वाले ब्रह्माजी सदा इनके गुण गाते रहते हैं॥६॥ शत्रुओ से डरकर जैसे राजे किसी धर्मात्मा और तटस्थ राजा की शरण लेते हैं, वैसे ही उन सैकडों पहाडों ने भी इसकी शरण ली थी, जिनके पख इन्द्र ने काट दिये थे और अभिमान चूर कर दिया था॥७॥ सृष्टि के आरम्भ मे जब वाराह भगवान् पृथ्वी को पाताल मे ले आ रहे थे,

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भा स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्ति पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥
ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषा व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥
वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥
दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ ॥ १५ ॥
वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि!।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥
एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात् कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

उस समय प्रलय में बढ़ा हुआ इसका स्वच्छ जल क्षणभर के लिए उनका घूँघट बन गया था ॥ ८ ॥ दूसरे लोग केवल स्त्रियों का अधरपान करते हैं, अपना अधर उन्हें नहीं पिलाते। किन्तु समुद्र इस बात में भी औरों से बढ़कर है। क्योंकि जब नदियाँ ढीठ होकर चुम्बन के लिए अपना मुख इसके आगे बढ़ाती है, तब यह बड़ी चतुराई से अपना तरङ्गरूपी अधर उनको पिलाता है और उनका अधर स्वयं पीता है ॥ ९ ॥ इधर देखो, ये बड़े-बड़े मगरमच्छ अपना मुँह खोलकर मछलियों के साथ-साथ समुद्र का जल भी पी जाते हैं और फिर मुँह बन्द करके मस्तक के छेदों से जल की धाराएँ छोड़ने लगते हैं ॥ १० ॥ मगरमच्छों के अचानक उठ जाने से समुद्र की फटी हुयी फेन को तो देखो। इनके गालों पर क्षणभर के लिए लगी हुयी फेन ऐसी दीखती है कि मानों इनके कानों पर चँवर टँगे हुए हों ॥ ११ ॥ ये जो बड़ी-बड़ी लहरों जैसे दिखलायी दे रहे हैं, ये साँप हैं। जो तट का वायु पीने के लिए बाहर निकल आये हैं। परन्तु जब सूर्य की किरणों से इनकी मणियाँ चमक उठती हैं, तब ये पहचान लिये जाते हैं ॥ १२ ॥ देखो, लहरों के झोंके से तुम्हारे अधरों जैसे लाल-लाल मूँगे की चट्टान से टकरा जाने से इन जीवित शङ्खों के मुँह छिद गये हैं और उस पीड़ा से ये बेचारे बड़ी कठिनाई से चल रहे हैं ॥ १३ ॥ इधर देखो, ये काले-काले बादल समुद्र का पानी लेने आये हैं और समुद्र की भँवर के साथ-साथ बड़ी तीव्र गति से चक्कर काट रहे हैं। इससे यह समुद्र ऐसा दीख रहा है कि जैसे मन्दराचल फिर इसे मथ रहा हो ॥ १४ ॥ देखो! दूरी के कारण पहिये की हाल जैसा बहुत पतला और ताड़ तथा तमाल आदि वृक्षों जैसा दीखने वाला नीला समुद्रतट ऐसा लगता है कि जैसे चक्र की धार पर मुर्चा लग गया हो ॥ १५ ॥ हे सुनयनी! समुद्रतट का वायु तुम्हारे मुख पर केतकी का पराग छिड़क रहा है। जैसे उसे पता न हो कि मैं तुम्हारे अधरों को चूमने हा वाला हूँ और अब अधिक शृंगार की बाट नहीं जोहूँगा ॥ १६ ॥ यह देखो, हम लोग विमान की तीव्र गति के कारण क्षणभर में हा समुद्र के दूसरे तट पर पहुँच गये,

कुरुष्व तावत्करभोरु! पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि! दृष्टिपातम्।
एषा विदूरीभवत समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमि ॥ १८॥
कचित्पथा सञ्चरते सुराणा कचिद्घनाना पतता कचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाष प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्॥ १९॥
असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीत ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते॥ २०॥
करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि! कुतूहलिन्या।
आमुञ्चतीवाभरण द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते॥ २१॥
अमी जनस्थानमपोढविघ्न मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्व चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि॥ २२॥
सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा भ्रष्ट मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदु खादिव बद्धमौनम्॥ २३॥
त्व रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता त मार्गमेता कृपया लता मे।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्य शाखाभिरावर्जितपल्लवाभि ॥ २४॥
मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञ समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥ २५॥
एतद्गिरेर्माल्यवत पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम्।
नव पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु सम विसृष्टम्॥ २६॥

जहाँ बालू पर सीपो के फैल जाने से मोती बिखरे पडे हैं और फलों के भार से सुपारी के पेड झुक गये हैं॥ १७॥ हे हाथी की सूँड जैसी जाँघो वाली मृगनयना! पीछे की ओर तो देखो । दूर निकल आने से यह जङ्गलो से भरी हुई भूमि ऐसा दीख रही है, जैसे समुद्र म से अचानक निकल आयी हो॥ १८॥ देखो, मैं जिधर चाहता हूँ, उधर ही यह विमान घूम जाता है। यह कभी देवताओं के मार्ग मे, कभी बादलों मे और कभी पक्षियों के मार्ग मे ही उडने लग जाता है॥ १९॥ ऐरावत के मद की गन्ध से सुवासित और आकाशगङ्गा की लहरों से शीतल हुई आकाशवायु तुम्हारे मुख पर दोपहर की गर्मी से छहरी हुई पसीने की बूँदो को पीती चल रही है॥ २०॥ हे चण्डा! जब तुम खेल-खेल म अपना हाथ विमान से बाहर निकाल कर बादल को छू लेती हो तो तुम्हारे मणिबन्ध के चारो ओर बिजली कौंध जाती है। उस समय ऐसा लगता है कि मानो बादल तुम्हारे हाथ मे बिजली का दूसरा कगन पहना रहे हैं॥ २१॥ नीचे की ओर देखो। रावण आदि राक्षसों के मारे जाने की बात सुनकर इन वल्कल-वसनधारी तपस्वियों ने समझ लिया है कि अब कोई भय नहा रहा। इसलिए नयी कुटिया बना-बनाकर तपोवन मे सुख से रहने लगे हैं॥ २२॥ इधर देखो, यह वही स्थान है कि जहाँ तुम्हे ढूँढते हुए मैंने पृथ्वी पर पडा हुआ तुम्हारा बिछुआ देखा था। चुपचाप पड़ा हुआ वह ऐसा लगता था कि मानो तुम्हारे चरणो से अलग होने के दु ख मे चुप हो गया हो॥ २३॥ हे भीरु! तुम्हें जिस मार्ग मे रावण ले गया था, उस मार्ग की लताएँ मुझे कृपा करके तुम्हारे जाने का मार्ग बतलाना चाहती थीं। किन्तु बोल न सकने के कारण इन्होंने अपनी पत्तो युक्त डालियाँ उधर झुकाकर मुझे तुम्हारा मार्ग बतला दिया था॥ २४॥ हरिणियो ने भी जब देखा कि मुझे तुम्हारे जाने का मार्ग पता नहीं है, तब वे कुश के अङ्कुर चरना छोड तथा उभरी हुई पलकों वाली आँखे दक्षिण दिशा की ओर करके मुझे मार्ग बतलाने लगी थीं॥ २५॥ यह जो आगे माल्यवान् पर्वत की ऊँची चोटी दीखती है, यहा जब बादलो ने नया जल बरसाना आरम्भ

गन्धश्च धाराहतपल्वलाना कादम्बमर्धोद्गतकेसर च।
स्निग्धाश्च केका शिखिना बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥
पूर्वानुभूत स्मरता च यत्र कम्पोत्तर भीरु! तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥
आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद् यत्र विभिन्नकोशै ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्री ॥ २९ ॥
उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टि ॥ ३० ॥
अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये! सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥
इमा तटाशोकलता च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम्।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकाम सौमित्रिणा साश्रुरह निषिद्ध ॥ ३२ ॥
अमूर्विमानान्तरलम्बिनीना श्रुत्वा स्वन काञ्चनकिङ्किणीनाम्।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥
एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसवर्धितबालचूता।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

किया, तब तुम्हारे वियोग में मेरी आँखे भी जल बरसाने लगी थीं॥ २६॥ उस समय वर्षा के कारण पोखरों से उठी हुई साधी-सोंधी गन्ध, अधखिली मञ्जरियो वाले कदम्ब के फूल और मोरों के मनोहर स्वर तुम्हारे बिना मुझे बहुत अखरे थे॥ २७॥ जब बादल गरजते थे और गुफाओं मे उनकी प्रतिध्वनि होने लगती थी, तब मुझे वे दिन स्मरण हो आते थे कि जब बादलो के गर्जन से डरकर तुम मुझमे लिपट जाती थीं। इस प्रकार माल्यवान् पर्वत पर पावस के दिन मैंने बडे कष्ट मे बिताये थे॥ २८॥ वर्षा के कारण वहाँ की धरती मे जो भाप निकली, उससे कन्दलियों की कलियाँ खिल उठीं और वैसी ही लाल-लाल हो गयीं, जैसे विवाह के समय, हवन का धुआँ लगने से तुम्हारी आँखें लाल हो गयी थीं। अत उन्हे देखकर तुम्हारा स्मरण हो आने से मैं बेचैन हो उठा था॥ २९॥ देखो, बहुत ऊँचाई और बेंत के जगलों मे ढँके होने के कारण कठिनाई मे दीखनेवाले एव चचल सारसों मे युक्त पम्पा के जल को बहुत नीचे उतरकर मेरी खिन्न दृष्टि जैसे पी रही है॥ ३०॥ हे प्रिये! यहाँ चकवा-चकवी के जोडे एक-दूसरे को बडे प्रेम से कमल का केसर दिया करते थे। तुमसे बहुत दूर होने के कारण उन्हे देख-देखकर मैं यही सोचता रहता था कि मुझे भी ऐसे दिन कब देखने को मिलेंगे॥ ३१॥ उन दिनों तुम्हारे वियोग मे मैं ऐसा पागल हो गया था कि एक दिन स्तन जैसे गुच्छों वाली इस पतली अशोकलता को मैंने यह समझ कर गले लगाना चाहा था कि तुम्हीं हो। जैसे ही मैं ऐसा करने चला, वैसे ही मेरा पागलपन देखकर लक्ष्मण ने मुझे वहाँ से हटा लिया। उस समय मैं रो रहा था॥ ३२॥ इधर देखो, विमान के नीचे लटकने वाली सोने की किङ्किणियों का शब्द सुनकर गोदावरी नदी के सारसो की पाँतें उडती हुई ऊपर चली आ रही हैं। जैसे ये तुम्हारी अगवानी करने आती हों॥ ३३॥ बहुत दिनों बाद आज पञ्चवटी को देखकर मेरा मन खिल उठा है। यह देखो, यहाँ के मृग ऊपर सिर उठाकर विमान को देख रहे हैं। यहीं तो तुमने अपनी पतली कमर पर घडे रख-रखकर आम के वृक्षो को सींचा

अत्रानुगोद मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेद ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्त ॥ ३५॥
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोन प्रभ्रंशया यो नहुष चकार।
तस्याविलाम्भ परिशुद्धिहेतोर्भौमो मुने स्थानपरिग्रहोऽयम्॥ ३६॥
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्त समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥ ३७॥
एतन्मुनेर्मानिनि! शातकर्णे पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि।
आभाति पर्यन्तवन विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम्॥ ३८॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगै सार्धमृषिर्मघोना।
समाधिभीतेन किलोपनीत पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम्॥ ३९॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाज प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोष ।
वियद्गत पुष्पकचन्द्रशाला क्षण प्रतिश्रुन्मुखरा करोति॥ ४०॥
हविर्भुजामेधवता चतुर्णा मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्ति ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्त ॥ ४१॥
अमु सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि।
नाल विकर्तु जनितेन्द्रशङ्क सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि॥ ४२॥
एषोऽक्षमालावलय मृगाणा कण्डूयितार कुशसूचिलावम्।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहु सव्येतर प्राध्वमित प्रयुङ्क्ते॥ ४३॥

और पाला-पोसा था॥ ३४॥ मुझे वे दिन अब याद आते हैं, जब मैं यहाँ उस एकान्त वाली बेत की झोपडी में तुम्हारी गोद मे सिर रखकर सोता था और गोदावरी की ठण्डी हवा आखेट की थकावट मिटाती थी॥ ३५॥ यह देखो, आगे उन तपस्वी अगस्त्य ऋषि का आश्रम है। जिन्होंने केवल भौं तानकर राजा नहुष को इन्द्र के पद से च्युत कर दिया था। ये ही उदय होकर वर्षा का सब गँदला जल स्वच्छ कर देते हैं॥ ३६॥ उन्हीं यशस्वी ऋषि की गार्हपत्य, दाक्षिणात्य और आवहनीय अग्नियों का हवन-सामग्री की गन्ध से मिला हुआ धुआँ मेरे विमान के पास तक उड़ा चला आ रहा है। जिसे सूँघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गयी है॥ ३७॥ हे मानिनि! यह शातकर्णि ऋषि का पञ्चाप्सर क्रीडासरोवर है। चारो ओर काले-काले जगलो से घिरा हुआ यह दूर से ऐसा दीख रहा है, जैसे बादलो के बीच मे कुछ-कुछ दीखने वाला चन्द्रबिम्ब हो॥ ३८॥ पहले ये महर्षि तपस्या के समय मृगों के साथ कुश चरा करते थे। इनकी ऐसी कठोर तपस्या देखकर इन्द्र को भय हुआ कि कहीं ये हमारा इन्द्रासन न छीन लें। अतएव इनका तप भग करने के लिए इन्द्र ने इन पर एक साथ पाँच अप्सराओं का जाल फेंका और ये बेचारे उसमें फँस गये॥ ३९॥ यह जो गाना सुनायी दे रहा है, यह जल के भीतर बने हुए उन्हीं के भवन का है। वहीं के मृदङ्ग की ध्वनि आकाशचारी पुष्पक-विमान की छतरी से टकरा कर गूँज रही है॥ ४०॥ यह जो चार अग्नियो के बीच मे और ऊपर सूर्य की किरणों से तपते हुए तपस्वी बैठे हैं, इनका नाम तो सुतीक्ष्ण है, परन्तु ये चरित्र के बडे ही उदार हैं॥ ४१॥ इनके तप से भी डरकर इन्द्र ने इनके पास भी अप्सराओं को भेजा था। वे मुस्कुरा-मुस्कुराकर इन पर तिरछी चितवन चलातीं और किसी न किसी बहाने अपनी करधनी उघाड़कर इन्हे दिखा देतीं थीं, पर उनकी यह सारी चटक-मटक इन्हे नहीं मोह सकी॥ ४२॥ देखो, मुझे देखकर वे रुद्राक्ष की माला बँधी तथा मृगों को खुजलाने और कुश

वाचयमत्वात्प्रणति ममैव कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्न ।
दृष्टि विमानव्यवधानमुक्ता पुन सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते॥ ४४॥
अद शरण्य शरभङ्गनाम्नस्तपोवन पावनमाहिताग्ने ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्नि यो मन्त्रपूता तनुमप्यहौषीत्॥ ४५॥
छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु॥ ४६॥
धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्क ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि! चक्षुर्दृप्त ककुद्मानिव चित्रकूट ॥ ४७॥
एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमे ॥ ४८॥
अय सुजातोऽनुगिर तमाल प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतस परिकल्पितस्ते॥ ४९॥
अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वन तप साधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम्॥ ५०॥
अत्राभिषेकाय तपोधनाना सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम्।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतस त्र्यम्बकमौलिमालाम्॥ ५१॥

उखाडनेवाली अपनी दाहिनी भुजा उठाकर मेरा स्वागत कर रहे हैं॥ ४३॥ ये सदा मौन रहते हैं। अत केवल सिर हिलाकर ही इन्होंने मेरा प्रणाम स्वीकार किया है। विमान के बीच मे आ जाने से जो इनकी दृष्टि सूर्य से अलग हो गयी थी, फिर उसे इन्होंने सूर्य मे लगा दी है॥ ४४॥ यह शरणागतों की रक्षा करने वाले अग्निहोत्री शरभङ्ग ऋषि का तपोवन है। जिन्होंने बहुत दिनों तक अग्नि को समिधा से तृप्त करके अन्त में मन्त्र से पवित्र अपना शरीर भी उसमे हवन कर दिया था॥ ४५॥ जैसे सुपुत्र अपने पिता के धर्म का पालन करते हैं, वैसे ही अब अतिथिसेवा का काम उनके बदले ये आश्रम के वृक्ष करते हैं, जिनकी छाया मे बैठकर पथिक थकान दूर करते हैं और जिनमे बडे मीठे-मीठे फल लदे रहते हैं॥ ४६॥ हे सुन्दरी! मस्त साँड जैसा यह चित्रकूट पर्वत मुझे बडा सुहावना लग रहा है। गुफा ही इसका मुख है, इससे निकलने वाले जल की धारा का शब्द ही साँड की डकार है, इसकी चोटी ही उसकी सींगें हैं और इस पर छाये हुए बादल ही मानों सींगों पर लगी हुई कीचड है॥ ४७॥ यह लो, गङ्गाजी आ गयीं। *इनका जल कैसा स्वच्छ है और कैसे धीरे-धीरे बह रहा है। यहाँ से दूर होने के कारण ये कितनी* पतली दीख रही हैं। चित्रकूट पर्वत के नीचे बहती हुई ये ऐसी लगती हैं, जैसे पृथ्वीरूपिणी नायिका के गले में मोतियो की माला पडी हुई हो॥ ४८॥ इस पहाड की ढाल पर तमाल का वृक्ष दीख रहा है। यह वही है जिसके प्रवाल का कर्णफूल बनाकर मैंने तुम्हारे कान में पहनाया था और जो तुम्हारे जौ के अंकुर जैसे पीले गालो पर लटकता हुआ बडा ही सुन्दर लगता था॥ ४९॥ यह अत्रि मुनि का तपोवन है, जहा के सिंह आदि पशु बिना मार-पीटे ही इतने सीधे हो गये हैं कि किसी से कुछ नहीं बोलते। यह तपोवन ऐसा प्रभावशाली है कि यहाँ बिना फूल आये ही वृक्षो मे फल लग जाते हैं॥ ५०॥ महर्षि अत्रि की पत्नी अनसूयाजी ऋषियों के स्नान के लिए उन त्रिपथगा (गङ्गाजी) को यहाँ ले आयी हैं, जिनमें से सप्तर्षिगण स्वर्णकमल चुनते हैं और जो शिवजी के सिर पर माला जैसी सुन्दर लगती हैं॥ ५१॥ इस आश्रम के वृक्षों के नीचे वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगा-लगाकर ध्यान किया

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्या ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥
त्वया पुरस्तादुपयाचितो य सोऽय वट श्याम इति प्रतीत ।
राशिर्मणीनामिव गारुडाना सपद्मराग फलितो विभाति ॥ ५३ ॥
क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगाना प्रियमानसाना कादम्बससर्गवतीव पङ्क्ति ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनै शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभ प्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गै ॥ ५७ ॥
समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजा नास्ति शरीरबन्ध ॥ ५८ ॥
पुर निषादाधिपतेरिद तद्यस्मिन्मया मौलिमणि विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्र कैकेयि ! कामा फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥
पयोधरै पुण्यजनाङ्गनाना निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्या ।
ब्राह्म सर कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥

करते हैं और यहाँ के वृक्ष भी वायु न चलने के कारण ऐसे स्थिर खडे हैं, जैसे ये भी योगासन कर रहे हों ॥ ५२ ॥ वही यह काला-काला बरगद का पेड है, जिसकी तुमने मनौती मानी थी। इसमे जो लाल-लाल फल लगे हैं, उनसे यह पेड ऐसा लग रहा है कि जैसे मरकत मणियो की ढेरी मे बहुत-से पद्मराग मणि भरे पडे हों ॥ ५३ ॥ इधर देखो, यमुना की साँवली लहरों मे मिली हुई उजली लहरों वाली गङ्गाजी कैसी सुन्दर दीख रही हैं। कहीं ये चमकने वाली इन्द्रनीलमणियों से गुथी हुई माला जैसी लगती हैं और कहीं नीले तथा श्वेत कमलों की मिला हुई माला जैसी दीखती हैं ॥ ५४ ॥ कहीं यह साँवले रग के हसों में मिले हुए उजले रग के मानसरोवरप्रेमी राजहसो की पाँत जैसी शोभित हो रहा है और कहीं श्वेत चन्दन से चित्रित पृथ्वी पर बीच-बीच मे काले अगर से रंगी हुई-सी दीखती है ॥ ५५ ॥ कहीं-कहीं वृक्ष की नीचे वाली उस चाँदनी के सदृश लगती है, जिसके बीच-बीच मे पत्ता की छाया पड़ रही हो। कहीं पर शरद् ऋतु के उन उजले बादलो जैसी है, जिनके बीच-बीच मे नीला आकाश दीख रहा हो और कहीं पर ये भस्म लगाये हुए शिवजी के उस शरीर जैसी दीख रही है, जिस पर काले-काले सर्प लिपटे हुए हों। हे शोभने ! यमुनाजी की तरगों मे मिलकर गगा का प्रवाह विभिन्न रूपों में दीख रहा है ॥ ५६-५७ ॥ समुद्र की इन दो पत्नियो के सगम मे स्नान करके जो पवित्र होते हैं, वे तत्त्वज्ञानी न होने पर भी माया के बन्धन मे छूट जाते हैं ॥ ५८ ॥ यह वही निषादराज का नगर है, जहाँ मैंने मुकुटमणि उतार कर जटा बाँधी था और जिसे देखकर सुमन्त्र यह कहते हुए रो पडे कि 'कैकेयी ! तेरी इच्छा पूरी हो गयी' ॥ ५९ ॥ ऋषि लोग कहते हैं कि जैसे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न हुई, वैसे ही यह सरयू नदी भी उस मानसरोवर से निकली है, जिसके कमलो का पराग यक्षिणियाँ अपने स्तनों मे लगाती हैं ॥ ६० ॥ यह नदी इक्ष्वाकुवंशी राजाओ की राजधानी अयोध्या से सटकर बहती

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभि पुण्यतरीकृतानि॥ ६१॥
या सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यै पयोभि परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिव मानस मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम्॥ ६२॥
सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्त शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव॥ ६३॥
विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रज पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्ति प्रत्युद्गतो मां भरत ससैन्य॥ ६४॥
अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघा स साधु।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्सरंक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे॥ ६५॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदाति, पश्चादवस्थापितवाहिनीक।
वृद्धैरमात्यै सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति॥ ६६॥
पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया य श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्॥ ६७॥
एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षित प्रकृतिभिर्भरतानुगाभि॥ ६८॥
तस्मात्पुर सरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्त।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन राम॥ ६९॥

है। इसके तट पर यत्र-तत्र यज्ञों के खम्भे गडे हुए हैं, जिनमें बाँधकर पशुओं की बलि दी जाती थी। अश्वमेध करने के बाद सूर्यवंशी राजाओं ने जो इसमे स्नान किया है, उससे इसका जल पवित्र हो गया है॥ ६१॥ मैं इस नदी का बडा आदर करता हूँ। क्योंकि यह उत्तरकोसल के राजाओं की धाय है। इसी की बालू मे खेल-खेलकर वे पलते हैं और इसी का मीठा जल पीकर परिपुष्ट होते हैं॥ ६२॥ माननीय महाराज दशरथ से बिछुडी हुई मेरी माता के समान यह सरयू अपने ठंडे वायु वाले तरंग रूपी हाथ उठा रही है, जैसे इतनी ऊँचे से ही मुझे गले लगा लेना चाहती है॥ ६३॥ उधर लाल सन्ध्या के समान जो धूल पृथ्वी से उठ रही है, उससे ऐसा जान पडता है कि हनुमान्जी के द्वारा मेरे आगमन का समाचार सुनकर भरत सेना के साथ मेरा स्वागत करने आ रहे हैं॥ ६४॥ खर-दूषण आदि राक्षसों को मार कर मैं जब लौटा था, उस समय जैसे लक्ष्मण ने तुम्हे मेरे हाथों सुरक्षित रूप मे सौंप दिया था, वैसे ही अब मैं वनवास की अवधि पूरी करके लौटा हूँ तो ऐसा लगता है कि सज्जन भरत मुझे सुरक्षित राज्यलक्ष्मी अवश्य ही सौंप देंगे॥ ६५॥ गेरुआ वस्त्र पहने, पैदल चलते हुए तथा हाथ मे पूजन-सामग्री लिये हुए मन्त्रियो के साथ भरत मेरी ही ओर आ रहे हैं। देखो, उनके आगे-आगे वसिष्ठजी और पीछे-पीछे सेना चल रही है॥ ६६॥ जैसे कोई सुन्दर स्त्री किसी युवा पुरुष की गोद मे आकर बैठ जाय और वह उसके साथ भोग न करके तलवार की धार पर चलने के समान कठोर इन्द्रियों को वश मे रखने का व्रत ले ले, वैसे ही भरत ने भी पिता की दी हुई राज्यलक्ष्मी को भोगने की शक्ति रहते हुए भी मेरे कारण उसका भोग न करके कठिन असिधार व्रत का पालन किया है॥ ६७॥ राम ऐसा कह ही रहे थे कि राम की इच्छा को ही विमान का चालक मानकर वह विमान आकाश मे नीचे उतर आया और भरतजी के पीछे चलने वाली सारी विस्मित जनता आख फाड-फाडकर उसे देखने लगी॥ ६८॥ तब सेवा मे चतुर सुग्रीव के हाथों का सहारा लेकर स्फटिकमणि-जटित सीढी द्वारा रामचन्द्रजी विमान से नीचे उतरे और

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य सभ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥७०॥
श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥७१॥
दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे॥७२॥
सौमित्रिणा तदनु ससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन॥७३॥
रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान्।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते॥७४॥
सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः॥७५॥
भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताकमध्यास्त कामगति सावरजो विमानम्।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्यस्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम्॥७६॥
तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे॥७७॥

विभीषण उनके आगे-आगे मार्ग दिखलाते हुए चले॥६९॥ सुशिक्षित राम ने पहले इक्ष्वाकुवंश के कुलगुरु वसिष्ठजी को प्रणाम किया। फिर अर्घ्य ग्रहण करके आँखों मे आँसू भरकर उन्होंने पहले शत्रुघ्न समेत भरतजी को छाती मे लगाया, फिर उनका वह मस्तक सूँघा, जिसने राम के भक्तिवश राज्याभिषेक भी अस्वीकृत कर दिया था॥७०॥ मूँछ और दाढी बढ जाने से मन्त्रिगण ऐसे दीख रहे थे कि जैसे घनी जटा वाले बरगद के वृक्ष हों। तब राम ने प्रेमभरी आँखो द्वारा मूक भाषा मे उनसे कृपापूर्वक कुशल-क्षेम पूछा॥७१॥ भरतजी को सुग्रीव का परिचय देते हुए राम ने कहा कि ये वानरों और भालुओ के सेनापति हैं और बड़े गाढे दिनों में ये हमारे काम आये हैं। फिर विभीषण का परिचय देते हुए कहा कि ये पुलस्त्यकुल में उत्पन्न विभीषण हैं। ये युद्ध के समय हमसे आगे बढकर शत्रुओं पर प्रहार करते थे। यह सुनकर भरतजी ने लक्ष्मण को छोडकर पहले उन्हीं दोनों की वन्दना की॥७२॥ तब भरतजी लक्ष्मण से मिले और प्रणाम के लिए झुके हुए लक्ष्मण का मस्तक उठाकर मेघनाद के प्रहारों से कठोर उनकी छाती को अपनी भुजाओ मे सहलाते हुए उन्हें अपनी छाती से लगा लिया॥७३॥ राम के कथनानुसार वानरों और भालुओ के सेनापति मनुष्यो का वेश धारण करके हाथियों पर चढ गये। उन हाथियो के मस्तक से मद की धारा बह रही थी, अतः सूँड की ओर से चढते समय उनको ऐसा आनन्द मिला कि मानो झरने वाले पहाडो पर चढ रहे हो॥७४॥ राम की आज्ञा से विभीषण और उनके साथी रथों पर चढ गये। वे रथ यद्यपि मनुष्यों के बनाये हुए थे, फिर भी इतने सुन्दर थे कि राक्षसों की माया से निर्मित रथ भी उनकी सुन्दरता के आगे फीके लगते थे॥७५॥ जैसे बुध और बृहस्पति के साथ चन्द्रमा सन्ध्या को बिजली वाले बादलो पर बैठता है, वैसे ही राम भी भरत और लक्ष्मण के साथ पताकाओं से अलंकृत और इच्छानुसार चलने वाले पुष्पक विमान पर फिर चढ गये॥७६॥ आदिवराह ने जैसे प्रलय से पृथ्वी को उबार लिया था और जैसे वर्षा बीतने पर शरद् ऋतु बादलों से चाँदनी छीन लेती है, वैसे ही राम ने रावणरूपी संकट से जिन्हे उबार लिया था, विमान मे बैठी हुई उन सीताजी को भरतजी ने जाकर प्रणाम किया॥७७॥ सीताजी के जिन पवित्र चरणो

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ ७८ ॥
क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकात्
प्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

ने रावण की प्रणय-प्रार्थना को दृढ़ता से ठुकरा दिया था, उन पर जब भरतजी ने बड़े भाई की भक्ति के कारण बढ़ी हुई जटावाला अपना मस्तक रखा तो उन दोनों ने आपस में मिलकर एक-दूसरे को पवित्र कर दिया ॥ ७८ ॥ उस समय आगे-आगे अयोध्या की जनता चल रही थी और पीछे-पीछे वह पुष्पक विमान धीरे-धीरे चला जा रहा था, जिस पर राम विराजमान थे। इस प्रकार आधे कोस तक चलकर उन्होंने अयोध्या के उस सुन्दर उपवन में डेरा डाला, जिसे पहले से ही शत्रुघ्न ने भलीभाँति सजा रखा था ॥ ७९ ॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में दण्डक वन से प्रत्यागमन
नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १३ ॥

चतुर्दश सर्ग

भर्तुं प्रणाशादथ शोचनीयं दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ॥ १॥
उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात्॥ २॥
आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः॥ ३॥
ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम्॥ ४॥
क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे॥ ५॥
उत्तिष्ठ वत्से! ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥ ६॥
अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः॥ ७॥
सरित्समुद्रान् सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः॥ ८॥

उपर्युक्त उपवन मे पहुँचकर राम अपनी दोनों माताओ मे मिले, जो पति के मर जाने से वैसे ही उदास लग रही थीं, जैसे वृक्ष के कट जाने पर उसके सहारे सटी हुई लताएँ कुम्हला जाती हैं॥ १॥ पराक्रमी राम और लक्ष्मण ने बारी-बारी से कौसल्या और सुमित्रा को प्रणाम किया। अपने पुत्रों को देखते ही दोनों माताओ की आँखो मे आँसू उमड आये, इसलिए वे आँख भर उन्हें देख भी नहीं सकी, परन्तु पुत्रों के स्पर्शजनित आनन्द से उन्हे पहचान गयी॥ २ जैसे गर्मी के दिनों मे हिमालय का शीतल जल गङ्गा और सरयू के गर्म जल को ठडा कर देता है, वैसे ही उन दोनो रानियों की आँखों से बहे हुए आनन्द के ठडे आँसुओं ने शोक के गरम आँसुओं को ठडा कर दिया॥ ३॥ पुत्रों के शरीर के जिन अगों पर राक्षसो के शस्त्रों के घाव लगे थे, उन्हे वे दोनो माताए इस प्रकार सहलाने लगीं, मानो वे घाव अभी ताजे ही हों। उस समय अपने पुत्रो की चोटे देखकर वे इतनी व्याकुल हो गयीं कि उन्हे वीर पुत्र की माता कहलाना भी अच्छा नहा लगा॥ ४॥ 'मैं ही पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणा सीता हूँ' यह कहते हुए सीताजी ने एक जैसी भक्ति के साथ स्वर्गवासी ससुर की दोनों रानियों के चरण छुए॥ ५॥ उन माताओं ने सीताजी को उठाते हुए बडी प्यारी और सच्ची बात कही—'उठो बेटी! तुम्हारे ही पातिव्रत के प्रभाव से राम और लक्ष्मण इस बडे भारी सकट को पार कर सके हैं॥ ६॥ राम के जिस राज्याभिषेक का आरम्भ माताओं के हर्षभरे आँसुओ से हुआ था, वह अभिषेक सोने के घटों मे भरे और तीर्थों से लाये हुए जल से राम को नहला कर बूढ़े मन्त्रियों ने सम्पन्न कर दिया॥ ७॥ राक्षसों और वानरों के नायकों ने नदियों, समुद्रो और सरोवरो से जो जल लाकर दिया, वह अभिषेक के समय राम के सिर पर वैसे ही गिर रहा था, जैसे विन्ध्याचल की चोटी पर बादलो का जल बरसता है॥ ८॥ तपस्वी के वेश में भी जो राम बहुत सुन्दर लगते थे, वे अब राजसी वस्त्र पहनकर और भी

तपस्विवेषक्रिययाऽपि तावद् यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥
स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम्॥ १०॥
सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसङ्घात इव प्रवृद्धः॥ ११॥
प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे॥ १२॥
श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः॥ १३॥
स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम्।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै सन्दर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा॥ १४॥
वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश॥ १५॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब! सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः॥ १६॥
तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः।
सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन॥ १७॥

सुन्दर लगने लगे॥ ९॥ तदनन्तर वृद्ध मन्त्रियों, राक्षसों और वानरों को साथ लेकर राम अपनी सेना के साथ उस राजधानी अयोध्या में गये, जो बन्दनवारों से सजायी गयी थी। जहाँ के श्वेत भवनों पर से धान का लावा बरस रहा था और जहाँ के निवासी तुरही आदि वाद्य सुन-सुनकर प्रसन्न हो रहे थे॥ १०॥ उस समय लक्ष्मण-शत्रुघ्न राम पर चँवर डुला रहे थे और भरत हाथ में छत्र लिये हुए थे। इस प्रकार जब राम भाइयों के साथ अयोध्या में प्रविष्ट हुए, तब चारों भाई ऐसे लग रहे थे कि जैसे साम, दाम, दण्ड और भेद—ये चारों उपाय एकत्र हो गये हों॥ ११॥ वहाँ के भवनों पर वायु से छितराया हुआ काले अगर का धुआँ ऐसा लग रहा था कि जैसे लौटकर राम ने अयोध्यापुरी का जूड़ा अपने हाथ से खोलकर बिखेर दिया हो॥ १२॥ उन भवनों के झरोखों में आँख पसारे दीखने वाली अयोध्या की महिलाओं ने हाथ जोड़कर उन सीताजी को प्रणाम किया, जो उस समय पालकी पर चल रही थीं और जिन्हें कौसल्या आदि सासुओं ने बड़े मनोहर ढंग से वस्त्र और आभूषणों द्वारा सजाया था॥ १३॥ सीताजी के तन पर अब भी वह अमिट कान्ति वाला अङ्गराग लगा हुआ था, जो अनसूयाजी ने उनके शरीर में लगाया था। उसमें अग्नि के सदृश देदीप्यमान उनका शरीर ऐसा दीख रहा था कि जैसे पुरवासियों को सीताजी की पवित्रता दिखलाने के लिए राम ने उन्हें फिर अग्नि में बैठा दिया हो॥ १४॥ मित्रप्रेमी राम ने पहले सुग्रीव आदि मित्रों को सभी सामग्रियों से सजे भवनों में ठहराया। तब वे अपने पिताजी के निजी घर में गये। वहाँ दशरथजी का चित्रमात्र देखकर राम की आँखों में आँसू उमड़ पड़े॥ १५॥ कैकेयी उदास बैठी थीं। राम ने हाथ जोड़कर कहा—'माँ! तुम्हारे ही पुण्य-प्रताप से हमारे पिताजी अपने उस सत्य से नहीं डिगे, जिससे स्वर्ग मिलता है। यदि तुम उनसे वरदान न माँगती तो उन्होंने जो तुम्हें वरदान देने की प्रतिज्ञा की थी, वह झूठी हो जाती।' सो सुनकर कैकेयी के मन में जो आत्मग्लानि भरी हुई थी कि 'राम मेरे विषय में न जाने क्या सोचते होंगे और मैं उन्हें कैसे मुँह दिखलाऊँगी।' वह सब ग्लानि दूर हो गयी॥ १६॥ वहाँ से लौटकर उन्होंने सुग्रीव-विभीषण आदि मित्रों का भलीभाँति

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रो।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम्॥ १८॥
प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान्।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान्विससर्ज रामः॥ १९॥
तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त॥ २०॥
पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्॥ २१॥
सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत्।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु॥ २२॥
तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री॥ २३॥
स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या॥ २४॥
तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन्॥ २५॥
अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन॥ २६॥

स्वागत-सत्कार किया। उन मित्रों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'हम जो चाहते हैं, वह तुरन्त मिल जाता है'॥ १७॥ तदनन्तर राम ने उन अगस्त्य आदि ऋषियों का सत्कार किया, जो उन्हें बधाई देने आये थे। उन ऋषियों को बैठाकर उन्होंने अपने शत्रु रावण के जन्म से लेकर मृत्यु तक का वह सब वृत्तान्त सुना, जो राम का गौरव बढ़ाने वाला था॥ १८॥ ऋषियों के चले जाने पर राम ने उन राक्षसों और सेनापतियों को विदा किया, जो अयोध्या में इतने आनन्द से रहे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि आधा महीना कब बीत गया। चलते समय सीताजी ने स्वयं अपने हाथों से उनकी पूजा की॥ १९॥ तब राम ने उस स्वर्ग के फूल जैसे पुष्पक विमान को भी कुबेर के पास जाने की आज्ञा दे दी, जो इच्छा करते ही उनकी सेवा के लिए आ जाता था और जिसे उन्होंने रावण से उसके प्राण के साथ-साथ छीन लिया था॥ २०॥ इस तरह पिता की आज्ञा से वनवास की अवधि बिताकर राम ने अपने पिता का राज्य पाया। जैसे वे धर्म, अर्थ और काम के साथ समान व्यवहार करते थे, वैसे ही वे अपने भाइयों के साथ भी समान प्रेम का बर्ताव करते थे॥ २१॥ वे निर्लोभ थे, इसीलिए उन्होंने प्रजा पर कोई कर नहीं लगाया। जिसका फल यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में प्रजा धनी हो गयी। वे कहीं भी विघ्न नहीं आने देते थे, इसलिए सब लोग प्रसन्नता से यज्ञ आदि सत्कर्म करने लगे। वे सबको ठीक मार्ग पर चलाते थे, अतएव सब उन्हें पिता के समान मानते थे और विपत्ति पड़ने पर वे सबकी सहायता करते थे, इसलिए वे प्रजा के पुत्र भी थे॥ २२-२३॥ वे ठीक समय पर प्रजा का सब काम देख-भालकर सीताजी के साथ रमण भी करते थे। इसी से ऐसा लगता था कि मानो राज्यलक्ष्मी ने ही राम के साथ रमण करने की इच्छा से सीता का सुन्दर रूप धर लिया है॥ २४॥ उस भवन में वे दोनों इच्छानुसार भोग-विलास करते थे, जिसमें वनवासकालीन चित्र टँगे थे। उन चित्रों को देख-देखकर दण्डक वन के दुःखों का स्मरण करके भी उन्हें सुख ही मिलता था॥ २५॥ अब धीरे-धीरे सीताजी के नेत्रों की शोभा बढ़ने लगी और उनका मुख पके सरपत (मूँज) जैसा पीला पड़ने लगा। गर्भ के इन लक्षणों को देखकर

स सन्निपात्यावरजान् हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम्॥ ३६॥
राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम्।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य॥ ३७॥
पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम्।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः॥ ३८॥
तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात् समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव॥ ३९॥
अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥ ४०॥
रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः॥ ४१॥
तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः॥ ४२॥
इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम्।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा॥ ४३॥
स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश॥ ४४॥

ही इस कलङ्क को मिटाया जाय। क्योंकि यशस्वियों को अपना यश शरीर से भी अधिक प्रिय होता है। फिर स्त्री आदि भोग की वस्तुओं की तो बात ही न्यारी है॥ ३५॥ निस्तेज राम ने तुरन्त भाइयों को बुलाया। वे भी इनकी दशा देखकर मन्न रह गये। कलंक की बात बतलाते हुए राम ने कहा—॥ ३६॥ 'यद्यपि मैं सदाचारी और पवित्र हूँ, फिर भी जैसे बरसाती हवा लगने से स्वच्छ दर्पण भी धुँधला हो जाता है, वैसे ही सूर्यवंशी राजर्षियों के कुल पर मेरे कारण कैसा कलंक लग रहा है॥ ३७॥ पानी की लहरों पर जैसे तेल की बूँद फैल जाती है, वैसे ही इस समय घर-घर मेरी निन्दा हो रही है। सो जैसे हाथी अपने बन्धन के खूँटे से खीझकर उसे उखाड़ने की चेष्टा करता है, वैसे ही मैं भी इस कलंक को नहीं सह सकूँगा॥ ३८॥ यद्यपि इस समय सीता गर्भिणी है, तथापि अपने कलंक को मिटाने के लिए मैं सब मोह तोड़कर उसे वैसे ही छोड़ दूँगा, जैसे पिताजी की आज्ञा से मैंने राज्य त्याग दिया था॥ ३९॥ मैं जानता हूँ कि वह निर्दोष है, परन्तु बदनामी सत्य से भी अधिक बलवती होती है। देखो न, निर्मल चन्द्रबिम्ब पर पड़ी हुई पृथ्वी की छाया को लोग चन्द्रमा का कलङ्क कहते हैं और झूठ होने पर भी सारा संसार इसे ठीक मानता है॥ ४०॥ अब तुम शायद यह कहोगे कि 'यदि ऐसा ही था तो राक्षसों को क्यों मारा?' उसका उत्तर यह है कि सीता को छुड़ाने के लिए मैंने जो राक्षसों को मारा, मेरा वह प्रयत्न सीता को निकाल देने से बेकार नहीं कहा जायगा। क्योंकि वह तो मैंने अपनी स्त्री के अपहरण का उन राक्षसों से बदला लिया था। क्योंकि जब साँप पैर से दब जाता है, तब वह रक्त के लोभ से नहीं, बल्कि बदला लेने के लिए ही डसता है॥ ४१॥ अतएव यदि तुम लोग इस कलंक रूपी बाण को मेरे हृदय से निकालकर मुझे जीवित रखना चाहते हो तो केवल सीता की दशा पर दया दिखलाते हुए उसका पक्ष लेकर मेरे इस निश्चय का विरोध न करो॥ ४२॥ जब भाइयों ने देखा कि राजा राम नितान्त निठुराई करना चाहते हैं, तब भाइयों में से न तो किसी ने उनका समर्थन ही किया और न विरोध॥ ४३॥ तीनों लोकों में प्रसिद्ध यशस्वी और अपनी बात के धनी राम

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम्॥४५॥
स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत्।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया॥४६॥
अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे॥४७॥
सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत्।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम्॥४८॥
जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन॥४९॥
सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः॥५०॥
गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्॥५१॥
रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः॥५२॥
अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः।
औत्पातिको मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार॥५३॥

ने जब देखा कि लक्ष्मण उनकी आज्ञा मानने को तैयार हैं, तब वे उनसे बोले— 'लक्ष्मण! तुम बड़े अच्छे हो'। यह कहकर उन्हें एकान्त में ले गये और कहने लगे—॥४४॥ तुम्हारी गर्भिणी भाभी तपोवन देखना चाहती ही हैं। सो तुम उन्हें इसी बहाने रथ पर बिठाकर वाल्मीकिजी के आश्रम पर छोड़ आओ॥४५॥ लक्ष्मण ने सुन रखा था कि पिता की आज्ञा से परशुरामजी ने अपनी माता को वैसे ही निर्दयतापूर्वक मार डाला था, जैसे कोई अपने शत्रु को मारे। सो उन्होंने पिता के समान राम की आज्ञा मान ली। क्योंकि बड़ों की आज्ञा में मीन-मेख निकालना ठीक नहीं होता॥४६॥ उधर सीताजी यह सुनकर प्रसन्न हुई कि लक्ष्मण हमें तपोवन दिखाने ले जायेंगे। तदनुसार लक्ष्मणजी उन्हें ऐसे रथ पर चढ़ाकर ले चले, जिसे स्वयं सुमन्त्र हाँक रहे थे और जिसके घोड़े ऐसे सुशिक्षित थे कि रथ के चलते समय गर्भिणी सीता को तनिक भी हचक नहीं लगती थी॥४७॥ मनोहर प्रदेशों में होकर रथ पर जाती हुई सीताजी यह सोचकर बड़ी प्रसन्न थीं कि मेरे प्राणप्रिय पति सदा मेरे मन की ही बात करते हैं। उन्हें क्या पता कि इस समय वे मेरे लिए मनोरथ पूरा करने वाले कल्पवृक्ष के बदले उस असिपत्र के वृक्ष सदृश कष्टदायक हो गये हैं, जिसके पत्ते तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण होते हैं॥४८॥ लक्ष्मण ने सीताजी को मार्ग में कुछ नहीं बतलाया कि 'तुम पर क्या विपत्ति आने वाली है' परन्तु सीताजी के दाहिने नेत्र ने फड़क कर आने वाले दुःख की सूचना दे ही दी॥४९॥ यह असगुन देखते ही उनका मुँह उतर गया और वे मनाने लगीं कि भाइयों के साथ राम सदा सुखी रहें॥५०॥ मार्ग में गङ्गाजी पड़ीं। उनमें जो लहरें उठ रही थीं, वे बड़े भाई की आज्ञा से पतिव्रता सीता को वन में छोड़ने के लिए ले जाते हुए लक्ष्मण से मानो हाथ हिला-हिलाकर कह रही थीं कि 'ऐसा न करो'॥५१॥ गङ्गातट पर पहुँचकर सारथी ने रास खींच ली। तब प्रतिज्ञा के सच्चे लक्ष्मण ने सीताजी को रेती पर उतारा और केवट जो नाव लाया, उस पर चढ़कर सीताजी के साथ गङ्गाजी से पार हो गये। साथ ही उस प्रतिज्ञा से भी पार हो गये, जो उन्होंने सीता को गङ्गापार छोड़ने के लिए राम से की थी॥५२॥ उस पार पहुँच तथा

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम॥५४॥
इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत्॥५५॥
सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः॥५६॥
न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द॥५७॥
आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि! क्षमस्वेति बभूव नम्रः॥५८॥
सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य! चिराय जीव।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम्॥५९॥
श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति॥६०॥
वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥६१॥
कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥६२॥

आँसू रोककर लक्ष्मण ने रुँधे हुए गले से सीताजी को राजा राम की आज्ञा इस तरह सुनायी, जैसे कोई भयंकर बादल ओले बरसाता हो॥५३॥ लू लगने से जैसे लता के फूल झड जाते हैं और लता सूखकर पृथ्वी पर गिर पडती है, वैसे ही यह अपमानजनक बात सुनकर सीता के आभूषण गिर गये और वे स्वयं अपनी माँ पृथ्वी की गोद में गिर पडीं॥५४॥ पृथ्वी ने उस समय सीताजी को जैसे इस दुविधा में अपने भीतर नहीं समेट लिया कि इक्ष्वाकुवंशी और सदाचारी पति राम इस प्रकार सीताजी को अचानक क्यों छोडेंगे॥५५॥ मूर्च्छा आ जाने से उन्हें उस समय तो दुःख नहीं हुआ, परन्तु जब वे मूर्च्छा से जागीं, तब उनके हृदय में बडी व्यथा हुई। जब लक्ष्मण ने प्रयत्न करके उनकी मूर्च्छा दूर की तो वह बात उन्हें मूर्च्छा से भी अधिक अखरी॥५६॥ सीताजी इतनी साध्वी थी कि निरपराध पत्नी को घर से निकालने वाले अपने पति को उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, बल्कि बार-बार वे नित्य दुःखदायी अपने आप को ही कोसने लगीं॥५७॥ तब लक्ष्मण ने उन्हें बहुत समझाया और वाल्मीकि के आश्रम का मार्ग दिखाकर कहा—'देवि! मैं पराधीन हूँ। अतएव स्वामी की आज्ञा से मैंने आपके साथ जो कठोर व्यवहार किया है, उसे क्षमा कीजिए'। इस प्रकार कहकर वे सीता के पैरों पर लोट गये॥५८॥ सीताजी ने लक्ष्मण को उठाया और बोलीं— 'हे सौम्य! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम बहुत दिनों तक जियो। क्योंकि जैसे इन्द्र के छोटे भाई विष्णु सदा अपने बडे भाई की आज्ञा मानते हैं, वैसे ही तुम भी अपने बडे भाई की आज्ञा मानते हो॥५९॥ यहाँ से जाकर तुम सभी सासुओं से मेरा प्रणाम कहकर कहना कि 'मेरे गर्भ में आपके पुत्र का जो तेज है, आपलोग हृदय से उसका कुशल मनाते रहियेगा'॥६०॥ बाद में अयोध्या के राजा से मेरी जबानी कहना कि—''आपने अपने सामने ही मुझे अग्नि में शुद्ध किया था। सो इस समय अपयश के डर से जो आपने मुझे छोड दिया है वह क्या उस प्रसिद्ध कुल के अनुरूप है, जिसमें आपने जन्म लिया है?॥६१॥ परन्तु नहीं, आप तो सबकी

उपस्थिता पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयाऽतिरोषात्सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥
किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥
साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥
तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ ६८ ॥
नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥
तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥
तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद् विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान् सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

भलाई करते हैं। आप अपने मन में हमारे साथ ऐसा व्यवहार नहीं कर सकते। यह सब मेरे पूर्वजन्म के पापों का ही असह्य फल है॥ ६२॥ कुछ समय पहले आप जिस राज्यलक्ष्मी को ठुकराकर मेरे साथ वन में चले गये थे, वह राज्यलक्ष्मी मुझसे रूठ गयी है और उसे आपके घर में मेरा रहना असह्य हो गया है॥ ६३॥ पिछली बार वनवास के समय आपकी कृपा से मैंने बहुत-सी ऐसी तपस्विनियों को अपने आश्रम में/आश्रय दिया था, जिनके पतियों को राक्षसों ने मार डाला था। अब आप ही बतलाइये कि आपके रहते मैं शरणार्थिनी बनकर किस मुँह से उन्हीं तपस्विनियों के पास जाऊँगी ? ॥ ६४॥ मेरे गर्भ में आया हुआ आपका वह तेज यदि बाधक न होता, जिसकी रक्षा करना आवश्यक है, तो मैं आपसे सदा के लिए बिछुड़े हुए अपने प्राण भी त्याग देती॥ ६५॥ किन्तु पुत्र हो जाने पर मैं सूर्य में दृष्टि लगाकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्म में भी आप ही मेरे पति हों। तब आपसे मुझे अलग न होना पड़ेगा॥ ६६॥ मनु ने कहा है कि—'राजाओं का धर्म वर्णों और आश्रमों की रक्षा करना है'। इसलिए घर से निकाल देने पर भी आप यह समझकर मेरी देख-भाल करते रहियेगा कि सीता भी एक साधारण तपस्विनी है॥ ६७॥ यह सुनकर लक्ष्मण ने कहा— 'मैं सब कुछ कह दूँगा'। यह कहकर वे ज्यों ही वहाँ से चलकर आँखों से ओझल हुए, त्यों ही उस महती विपत्ति के भार से व्याकुल होकर सीताजी डरी हुई कुररी के समान रोने लगीं॥ ६८॥ उनका रुदन सुनकर मोरों ने नाचना बन्द कर दिया, वृक्ष फूल के आँसू गिराने लगे और हरिणियों ने मुँह में भरी हुई घास का ग्रास त्याग दिया। इस प्रकार महारानी सीताजी के दुःख में दुःखी होकर सारा वन रोने लगा॥ ६९॥ जिन वाल्मीकि ऋषि का शोक व्याध के हाथ से मारे हुए क्रौंच को देखकर श्लोक बनकर निकल पड़ा था, वे उस समय कुशोत्पाटन को निकले थे। रोदन का शब्द सुनकर वे सीताजी के पास आये॥ ७०॥ उन्हें देखा तो सीताजी ने आँसू पोंछकर चुपचाप प्रणाम किया। गर्भ के चिह्न देखकर ऋषि ने उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'तुम पुत्रवती

जाने विसृष्टा प्रणिधानतस्त्वा मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्तासि वैदेहि! पितुर्निकेतम्॥७२॥
उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात् कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥७३॥
तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या॥७४॥
तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन्।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते॥७५॥
अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः॥७६॥
पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम्॥७७॥
पयोघटैराश्रमबालवृक्षान् संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक्तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्॥७८॥
अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय॥७९॥
तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु॥८०॥

होओ'। उसके बाद वे बोले—॥७१॥ "बेटी वैदेहि! मैंने योगबल से जान लिया है कि तुम्हारे पति ने झूठे अपयश से डरकर तुम्हें घर से निकाल दिया है। पुत्री! तुम अपने पिता के ही घर आ गयी हो, अब शोक त्याग दो॥७२॥ यद्यपि राम ने तीनों लोकों का दुःख दूर कर दिया है, वे अपनी प्रतिज्ञा के पक्के हैं और कभी अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करते, फिर भी तुम्हारे साथ उन्होंने जो यह अनुचित व्यवहार किया है, इसे देखकर मुझे उन पर बड़ा क्रोध आ रहा है॥७३॥ तुम्हारे यशस्वी ससुर दशरथजी मेरे मित्र थे और तुम्हारे पिता जनकजी भी ज्ञानोपदेश देकर बहुत से सज्जनों को संसार के बन्धन से छुड़ाते रहते हैं। तुम स्वयं भी पतिव्रताओं में सर्वश्रेष्ठ हो। तब फिर क्या कारण है कि जिससे मैं तुम्हारे ऊपर कृपा न करूँगा॥७४॥ तपस्वियों के संसर्ग में रहते-रहते यहाँ के सभी जीव बड़े सीधे हो गये हैं। ये किसी को नहीं छेड़ते। सो इसी आश्रम में तुम भी निर्भय भाव से रहो। तुम्हारी पवित्र सन्तान का जातकर्म आदि संस्कार यहीं होगा॥७५॥ तमोगुण मिटानेवाली जिस तमसा के तट पर तपस्वी लोग सदा रहते हैं, उसमें स्नान करके तुम उसकी रेती पर देवताओं की पूजा करो। इससे तुम्हारा मन प्रसन्न रहा करेगा॥७६॥ आश्रम की मुनि-कन्याएँ तुम्हें सब ऋतुओं के फूल-फल और पूजा के योग्य तिन्नी आदि अन्न लाकर दिया करेंगी और मीठी-मीठी बातें करके तुम्हारा मन बहलायेंगी॥७७॥ जो तुमसे उठ सके, ऐसे घड़े लेकर तुम आश्रम के पौधों को प्रेम से सींचो। इससे लाभ यह होगा कि बच्चा पैदा होने के पहले ही तुम यह सीख लोगी कि बच्चों को प्यार कैसे करना चाहिए"॥७८॥ उनकी कृपा को सराहती हुई सीता को दयालु वाल्मीकि अपने साथ आश्रम में ले गये। साँझ हो जाने के कारण बहुत से मृग वहाँ वेदी को घेरे बैठे थे और सिंह आदि जन्तु चुपचाप आँखें मूँदे हुए पड़े थे॥७९॥ अमावास्या जैसे जड़ी-बूटियों और लता-वृक्षों को चन्द्रमा की वह साररहित एवं अन्तिम कला सौंप देती है, जिसका अमृत पितर खींच चुके रहते हैं, वैसे ही ऋषि ने भी शोक से व्याकुल सीता

पञ्चदश सर्ग

कृतसीतापरित्याग स रत्नाकरमेखलाम्। बुभुजे पृथिवीपाल पृथिवीमेव केवलाम्॥ १ ॥
लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययु । मुनयो यमुनाभाज शरण्य शरणार्थिन ॥ २ ॥
अवेक्ष्य राम ते तस्मिन्न प्रजह्रु स्वतेजसा। त्राणाभावे हि शापास्त्रा कुर्वन्ति तपसो व्ययम्॥३॥
प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम्। धर्मसरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिण ॥ ४ ॥
ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विष । दुर्जयो लवण शूली विशूल प्रार्थ्यतामिति॥ ५ ॥
आदिदेशाथ शत्रुघ्न तेषा क्षेमाय राघव । करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात्॥ ६ ॥
य कश्चन रघूणा हि परमेक परन्तप । अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वर ॥ ७ ॥
अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी। ययौ वनस्थली पश्यन्पुष्पिता सुरभीरभी ॥ ८ ॥
रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये । पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्॥ ९ ॥
आदिष्टवर्त्मा मुनिभि स गच्छस्तपता वर । विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवाशुमान्॥ १० ॥
तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यत । रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने॥ ११ ॥
तमृषि पूजयामास कुमार क्लान्तवाहनम्। तप प्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभि ॥ १२ ॥
तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती। सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षिति ॥ १३ ॥

सीताजी को छोड़ने के बाद राजा रामचन्द्रजी ने केवल समुद्रों से परिवेष्टित पृथ्वी का ही भोग किया, किसी दूसरी स्त्री के सम्पर्क की बात भी नहीं सोची॥ १॥ तभी एक दिन यमुनातटनिवासी कुछ तपस्वी शरणागतवत्सल राम के पास शरण माँगने आये। क्योंकि तामसी लवणासुर नामक राक्षस के उपद्रवों से उनकी यज्ञ आदि क्रियाएँ बन्द हो गयी थीं॥ २॥ यदि तपस्वी चाहते तो अपने तेज से ही लवणासुर को नष्ट कर डालते, किन्तु उन्होंने ऐसा करना ठीक नहीं समझा। क्योंकि जिनमे शाप देकर नष्ट करने की शक्ति होती है, वे तपस्या मे अर्जित तेज को तभी ऐसे काम मे लगाते हैं, जब कोई उनका दूसरा रक्षक सुलभ न हो॥ ३॥ राम ने उनके विघ्न दूर करने का वचन दे दिया। क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए ही तो भगवान् संसार में अवतार लेते हैं॥ ४॥ उन्हीं मुनियों ने राम को उसके वध का उपाय बतलाते हुए कहा कि जब तक लवणासुर के हाथ मे त्रिशूल रहेगा, तब तक उसको मारना कठिन है। अत उस पर ऐसे समय प्रहार करना चाहिए कि जब उसके हाथ मे त्रिशूल न रहे॥ ५॥ तब राम ने शत्रुघ्न को उन मुनियों की रक्षा का आदेश दिया। जैसे उनके हाथों मे शत्रु का संहार कराकर वे उनका 'शत्रुघ्न' नाम सार्थक करना चाहते थे॥ ६॥ जैसे व्याकरणशास्त्र मे कोई अपवादवाला सूत्र व्यापक नियमवाले सूत्र को भी उलट देता है, वैसे ही रघु के वंश का प्रत्येक व्यक्ति शत्रु को पछाड़ सकता था॥ ७॥ निर्भय शत्रुघ्न जब रथ पर चढ़कर चले, तब राम ने उन्हे आशीर्वाद दिया और वे सुगन्धित वनों की शोभा निहारते हुए चले॥ ८॥ शत्रुघ्न के साथ राम की आज्ञा से जो सेना गयी थी, वह वैसे ही व्यर्थ थी, जैसे अध्ययन शब्द में इङ् धातु मे लगा हुआ अधि उपसर्ग व्यर्थ होता है। इसी प्रकार लवणासुर को अकेले शत्रुघ्न जीत सकते थे॥ ९॥ रथ पर चढे हुए सूर्य को जैसे बालखिल्य ऋषि मार्ग दिखलाते हुए चलते हैं, वैसे ही रथ पर बैठे शत्रुघ्न को भी वे मुनि लोग मार्ग दिखलाते हुए चल रहे थे॥ १०॥ मार्ग मे जाते समय उन्होने पहली रात वाल्मीकिजी के उस आश्रम पर बितायी, जहाँ के मृग रथ का शब्द सुनकर बडे चाव से उनको देखने लगे थे॥ ११॥ शत्रुघ्नजी के घोडे थक गये थे। इसलिए रुकना आवश्यक हो गया था। अपनी तपस्या के प्रभाव से आतिथ्य की विशिष्ट सामग्री जुटाकर वाल्मीकिजी ने शत्रुघ्न का बड़ा सत्कार किया॥ १२॥ उसी रात मे उनकी गर्भिणी भाभी सीता ने दो तेजस्वी पुत्रों को जन्म दिया, जैसे पृथ्वी अपने राजा के लिए धन तथा सेना उत्पन्न करता है॥ १३॥

सन्तानश्रवणाद्भ्रातु सौमित्रि सौमनस्यवान्। प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥ १४॥
स च प्राप मधूपघ्न कुम्भीनस्याश्च कुक्षिज । वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थित ॥ १५॥
धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुह । क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जङ्गम ॥ १६॥
अपशूल तमासाद्य लवण लक्ष्मणानुज । रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम्॥ १७॥
नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम्। दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादित ॥ १८॥
इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्न राक्षसस्तज्जिघासया। प्राशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम्॥ १९॥
सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृत । गात्र पुष्परज प्राप न शाखी नैर्ऋतेरित ॥ २०॥
विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्। प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टि पृथगिव स्थितम्॥ २१॥
ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडित । सिकतात्वादपि परा प्रपेदे परमाणुताम्॥ २२॥
तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिण दोर्निशाचर । एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरि ॥ २३॥
कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रु स भिन्नहृदय पतन्। आनिनाय भुव कम्प जहाराश्रमवासिनाम्॥ २४॥
वयसा पङ्क्तय पेतुर्हतस्योपरि विद्विष । तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्या कुसुमवृष्टय ॥ २५॥
स हत्वा लवण वीरस्तदा मेने महौजस । भ्रातु सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिन ॥ २६॥
तस्य सस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभि । शुशुभे विक्रमोदग्र व्रीडयाऽवनत शिर ॥ २७॥

भाई के पुत्र होने की बात सुनकर शत्रुघ्न बहुत प्रसन्न हुए और अगले दिन तडके ही उन्होने हाथ जोडकर मुनि से आज्ञा ली तथा रथ जोतकर आगे बढे॥ १४॥ जिस समय वे लवणपुर मे पहुँचे, उसी समय रावण की बहन कुम्भीनसी का पुत्र लवणासुर अनेक पशुओं को मारकर वन से इस प्रकार लौटा था, जैसे वन ने उसे वह सब कर के रूप मे दिया हो॥ १५॥ उसकी देह धुएँ जैसी काली थी, उसमे से चर्बी की गन्ध निकल रही थी, आग की लपटो के समान लाल और उसके बाल बिखरे हुए थे। मासाहारी कुत्ते, गिद्ध, मासभक्षी पशु-पक्षी उसके चारों ओर चल रहे थे। इस तरह वह उस चिता की जगम अग्नि जैसा लग रहा था॥ १६॥ शत्रुघ्न ने देखा कि यह अवसर ठीक है। क्योंकि इसके हाथ में त्रिशूल नहीं है। बस, तुरन्त उन्होंने लवणासुर को घेर लिया। क्योंकि शक्तिहीन शत्रु पर प्रहार करने वाला वीर अवश्य विजयी होता है॥ १७॥ शत्रुघ्न को देखकर लवणासुर बोला—आज मेरे भोजन की सामग्री कम थी, यह देख विधाता ने डरकर मेरा भोजन पूरा करने के लिए ही तुम्हें यहा भेजा है॥ १८॥ ऐसा कहकर उसने शत्रुघ्न को मारने के लिए अनायास एक बडा भारी पेड उखाड लिया, जैसे मोथा घास का मुट्ठा उखाड लिया हो॥ १९॥ ज्यो ही लवणासुर ने वह वृक्ष शत्रुघ्न पर फेका, त्यों ही अपने बाणो से शत्रुघ्न ने उसे बीच में ही काटकर टुकडे-टुकडे कर डाला। इस प्रकार वह वृक्ष तो उनके शरीर पर नहीं पहुँच सका, केवल उसके फूलो का पराग भर उन तक पहुँच पाया॥ २०॥ वृक्ष के टूक-टूक हो जाने पर उस राक्षस ने एक ऐसी भयकर शिला शत्रुघ्न पर फेंकी, जैसे वह यमराज का घूँसा हो॥ २१॥ किन्तु शत्रुघ्न ने अपना ऐन्द्र अस्त्र चलाकर उसे धूल से भी महीन चूर्ण कर डाला॥ २२॥ 'तब वह अपना दाहिना हाथ उठाकर शत्रुघ्न की ओर लपका। उस समय वह ऐसा लगा, जैसे बवडर द्वारा उडाया हुआ कोई ऐसा पहाड चला आ रहा हो, जिसकी चोटी पर ताड का एक पेड खडा हो॥ २३॥ किन्तु शत्रुघ्न-प्रेरित वैष्णव बाण लगते ही लवणासुर धराशायी हो गया। उसके गिरने से ऐसी धमक हुई कि धरती काँप उठी, किन्तु आश्रमवासियों का भय से काँपना दूर हो गया॥ २४॥ उस मरे हुए शत्रु के ऊपर गिद्ध आदि मासभक्षी पक्षी टूट पडे और उसके प्रतिद्वन्द्वी शत्रुघ्न पर फूलों की वर्षा होने लगी॥ २५॥ जब शत्रुघ्नजी लवणासुर को मार चुके, तब उन्हे यह सन्तोष हुआ कि अब मैं मेघनादघाती तेजस्वी लक्ष्मण का सगा भाई हूँ॥ २६॥ जब तपस्वियों का काम पूरा हो गया, तब वे वीर शत्रुघ्न

उपकूल स कालिन्द्या पुरीं पौरुषभूषण । निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मथुरा मधुराकृति ॥ २८ ॥
या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभि । स्वर्गाभिष्यन्दवमन कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥
तत्र सौधगत पश्यन्यमुना चक्रवाकिनीम् । हेमभक्तिमतीं भूमे प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ ३० ॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् । सञ्चस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥ ३१ ॥
स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया । कवि कुशलवावेव चकार किल नामत ॥ ३२ ॥
साङ्ग च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ । स्वकृति गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥
रामस्य मधुर वृत्त गायन्तौ मातुरग्रत । तद्वियोगव्यथा किञ्चिच्छिथिलीचक्रतु सुतौ ॥ ३४ ॥
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजस । तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन्द्विसूनव ॥ ३५ ॥
शत्रुघातिनि शत्रुघ्न सुबाहौ च बहुश्रुते । मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुक ॥ ३६ ॥
भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् । मैथिलीतनयोद्गीतनि स्पन्दमृगमाश्रमम् ॥
वशी विवेश चायोध्या रथ्यासस्कारशोभिनीम् । लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥
स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् । राम सीतापरित्यागादसामान्यपति भुव ॥ ३९ ॥
तमभ्यनन्दत्प्रणत लवणान्तकमग्रज । कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ॥ ४० ॥

की प्रशसा करने लगे। अपनी बडाई सुनकर शत्रुघ्न का सिर लाज से झुककर सुशोभित हुआ ॥ २७ ॥ तदनन्तर पराक्रमी, सयमी और धन से निस्पृह शत्रुघ्न ने यमुना के तट पर मधुरा (मथुरा) नाम की नगरी बसायी ॥ २८ ॥ अच्छा राजा पाकर उस नगरी के लोग ऐसे धनी और सुखी हो गये कि जैसे स्वर्ग में जनसख्या बढ जाने से वहाँ के कुछ लोग यहाँ लाकर बसा दिये गये हों ॥ २९ ॥ तब शत्रुघ्न ने मधुरा के एक ऊँचे भवन पर चढकर उस नीले जल वाली यमुना को देखा, जिसमें अनेक चकवे चहक रहे थे। उस समय यमुना उन्हे ऐसी सुन्दर दीखी कि जैसे वह पृथ्वी की सुनहरी फुन्दोंवाली चोटी हो ॥ ३० ॥ इधर दशरथ के मित्र और जनक के परामर्शदाता होने के कारण मन्त्रद्रष्टा वाल्मीकिजी ने सीताजी के दोनों पुत्रों के विधिवत् जातकर्म आदि सस्कार सम्पन्न किये ॥ ३१ ॥ ज्येष्ठ पुत्र लव के उत्पन्न होते समय सीताजी की प्रसव-पीड़ा गाय के पूँछ के बाल से और छोटे पुत्र की उत्पत्ति के समय वह पीडा कुशा से दूर हुई थी। इसीलिए वाल्मीकिजी ने दोनों बच्चों का नाम इन्हीं दोनो वस्तुओं के नाम पर लव और कुश रखा ॥ ३२ ॥ जब वे बच्चे कुछ बडे हुए, तब ऋषि ने उन दोनों को वेद-वेदाङ्ग पढाकर अपनी रचना आदिकाव्य रामायण का गायन सिखाया ॥ ३३ ॥ अब उन दोनों बालकों ने अपनी माता सीता के आगे राम का यश गा-गाकर उनकी वियोगजनित व्यथा कुछ कम कर दी ॥ ३४ ॥ दाक्षिणात्य, गार्हपत्य और आह्वनीय, इन तीनो अग्नियो के सदृश तेजस्वी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन तीनों भाइयों ने भी अपनी-अपनी पत्नियों से दो-दो पुत्र उत्पन्न किये ॥ ३५ ॥ अधिक समय बाहर रहने के कारण शत्रुघ्न अपने बडे भाइयों से मिलने को आतुर थे। अतएव उन्होंने शत्रुघाती बहुश्रुत और सुबाहु नामक अपने दो पुत्रों को मधुरा और विदिशा का का राज्य सौंप दिया ॥ ३६ ॥ शत्रुघ्नजी लौटते समय वाल्मीकि के उस तपोवन में नहीं गये, जहाँ के मृग शान्तभाव से लव और कुश के गीत सुना करते थे। क्योंकि शत्रुघ्न ने सोचा कि मेरे जाने पर वाल्मीकिजी अपनी तपस्या के बल से मेरे सत्कार की सामग्री जुटाने लगेंगे, जिससे व्यर्थ उनका तपोबल क्षीण होगा ॥ ३७ ॥ इस प्रकार वहाँ से चलकर जितेन्द्रिय शत्रुघ्न उस अयोध्या में पहुँचे जहाँ की सडकें उनके स्वागत में बडे अच्छे ढग से सजायी गयी थीं। वे लवणासुर को मारकर लौटे थे, इसलिए सभी पुरवासी उन्हे बडे आदर की दृष्टि से देख रहे थे ॥ ३८ ॥ उन्होंने राजसभा मे पहुँचकर देखा कि राम बैठे हैं और बहुत से सभासद उनकी स्तुति कर रहे हैं। सीताजी को छोड़ देने पर अब वे एकमात्र पृथ्वी के ही पति रह गये थे ॥ ३९ ॥ जैसे कालनेमि को मारनेवाले विष्णु का इन्द्र ने प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया था, वैसे ही लवणासुर को मारनेवाले शत्रुघ्नजी

स पृष्ट सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम् । प्रत्यर्पयिष्यत काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥ ४१ ॥
अथ जानपदो विप्र शिशुमप्राप्तयौवनम् । अवतार्याङ्कशय्यास्थ द्वारि चक्रन्द भूपते ॥ ४२ ॥
शोचनीयाऽसि वसुधे! या त्व दशरथाच्च्युता । रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतर गता ॥ ४३ ॥
श्रुत्वा तस्य शुचो हेतु गोप्ता जिह्राय राघव । न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥ ४४ ॥
स मुहूर्त क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दु खितम् । यान सस्मार कौबेर वैवस्वतजिगीषया ॥ ४५ ॥
आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थित स रघूद्वह । उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥ ४६ ॥
राजन्! प्रजासु ते कश्चिदपचार प्रवर्तते । तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि तत कृती ॥ ४७ ॥
इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् । दिश पपात पत्त्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ ४८ ॥
अथ धूमाभिताम्राक्ष वृक्षशाखावलम्बिनम् । ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ ४९ ॥
पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमप । आत्मान शम्बुक नाम शूद्र सुरपदार्थिनम् ॥ ५० ॥
तपस्यनधिकारित्वात्प्रजाना तमघावहम् । शीर्षच्छेद्य परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥
स तद्वक्त्र हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् । ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ ५२ ॥
कृतदण्ड स्वय राज्ञा लेभे शूद्र सता गतिम् । तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ ५३ ॥

जब उन्हें प्रणाम करने को झुके, तब राम ने भी उनका महर्ष अभिनन्दन किया ॥ ४० ॥ राम के पूछने पर उन्होंने और सब हाल तो सुना दिया, परन्तु पुत्र होने की बात नहीं कही। क्योंकि वाल्मीकिजी ने कह दिया था कि समय आने पर हम दोनों पुत्र राम को सौंप देंगे, तुम मत कहना ॥ ४१ ॥ कुछ समय बाद एक दिन उसी जनपद का निवासी एक ब्राह्मण अपना मृत बालक राजा की ड्योढी पर गोद मे उतारकर यह कहता हुआ फूट-फूटकर रोने लगा ॥ ४२ ॥ हे पृथ्वी! तुम दशरथ के हाथ से छूटकर तथा राम के हाथो में आकर बड़े सकट में पड़ गयी हो और तुम्हारी दशा बडी शोचनीय हो गयी है ॥ ४३ ॥ प्रजापालक राम ने जब उसके शोक की बात सुनी, तब उन्हे बडी लज्जा आयी। क्योंकि इक्ष्वाकुवशी राजाओ के राज्य मे किसी की भी अकाल मृत्यु नहीं होती थी ॥ ४४ ॥ उस दु खी विप्र को राम ने यह कहकर ढाढस बँधाया कि तुम थोड़ी देर ठहरो, मैं अभी तुम्हारा शोक दूर करता हूँ। यह कहकर यमराज को जीतने की इच्छा से उन्होंने कुबेर के पुष्पक विमान का स्मरण किया ॥ ४५ ॥ इस प्रकार जब वे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर पुष्पक विमान पर बैठकर चलने लगे, तब यह आकाशवाणी सुनायी दी—॥ ४६ ॥ 'हे राजन्! आपकी प्रजा में वर्णधर्म सम्बन्धी कुछ दोष आ गया है। उसे खोजकर दूर करो, तभी तुम्हारा उद्देश्य पूर्ण होगा' ॥ ४७ ॥ इस विश्वसनीय वचन को सुनकर वेग से चलने के कारण निष्कम्प ध्वजा वाले पुष्पक विमान पर चढकर राम यह देखने के लिए सभी दिशाओं मे चक्कर काटने लगे कि कहाँ वर्णधर्म में दोष आया है ॥ ४८ ॥ घूमते-घूमते एक स्थान पर राम ने देखा कि एक पेड़ की शाखा पर उलटा लटका हुआ एक मनुष्य नीचे जलती हुई आग का धुआँ पी-पीकर तप कर रहा है और धुआँ लगने से उसकी आँखें लाल हो गयी हैं ॥ ४९ ॥ उससे राम ने पूछा—'आपका नाम क्या है और आप किस वश के हैं?' वह तपस्वी बोला—'मैं देव पद पाने के लिए तप कर रहा हूँ। मेरा नाम शम्बुक है और मैं शूद्र हूँ' ॥ ५० ॥ शूद्रों को तप करने का अधिकार नहीं है। यही अनधिकृत कार्य करने से प्रजा मे पाप फैल रहा था। अत राम ने निश्चय कर लिया कि इसका सिर काटना ही होगा और शस्त्र उठा लिया ॥ ५१ ॥ फिर उसका सिर वैसे ही गले से काटकर अलग कर दिया, जैसे डडी से कमल उतार दिया गया हो। आग की चिनगारियों से झुलसी दाढी वाला उसका सिर ऐसा लग रहा था कि जैसे पाले से जली हुई केसरवाला कमलगट्टा हो ॥ ५२ ॥ इस प्रकार साक्षात् राजा राम से दण्ड पाकर उस शूद्र को वह सद्गति मिली, जो वह अपने उस कठोर तप से कभी भी न पाता, जिसे वह वर्णाश्रम धर्म का उल्लङ्घन करके प्राप्त करना चाहता था ॥ ५३ ॥ जैसे चन्द्रमा शरद्

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसन्दर्शितात्मना । महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥५४॥
कुम्भयोनिरलङ्कारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् । ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥५५॥
तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना । पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥५६॥
तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः । स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥५७॥
तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः । मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥५८॥
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः । न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥
उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ । अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥६०॥
श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः । अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥
विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः । आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥६२॥
अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः । मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥६३॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ । किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥
रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् । ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥६५॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ । हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ॥६६॥
वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा । जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥६७॥

ऋतु मे मिलता है, वैसे ही राम को मार्ग मे सहसा अगस्त्य ऋषि मिल गये॥५४॥ ऋषि ने राम को वह सुन्दर आभूषण दिया, जो उन्हें समुद्र ने उस समय दण्ड के रूप में दिया था, जब उन्होने समुद्र को पिया था॥५५॥ 'राम ने वह आभूषण लेकर अपनी उस भुजा मे बाँध लिया, जो सीताजी के वन चले जाने पर उनके गले मे पडने से वञ्चित हो गया था। जब राम अयोध्या लौटे, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके आने से पहले ही ब्राह्मणपुत्र जी उठा है॥५६॥ पुत्र के जी जाने पर ब्राह्मण ने राम की बड़ी स्तुति की और पहले जो निन्दा की थी, उसे उसने अपनी इन स्तुतियों से धो डाला। क्योंकि राम ने उसके पुत्र को यमराज के हाथ से छुडाया था॥५७॥ कुछ समय बाद राम ने अश्वमेध यज्ञ के लिए घोड़ा छोडा। तब जैसे बादल धान के खेत पर जल बरसाते हैं, वैसे ही सुग्रीव, विभीषण तथा अन्य राजाओं ने आकर राम के आगे उपहार के रूप मे धन की वर्षा की॥५८॥ उस यज्ञ मे विभिन्न देशो के ऋषियों को आमन्त्रित किया गया था। वे ऋषि पृथ्वी से ही नहीं, बल्कि सप्तर्षि-मण्डल आदि दिव्य स्थानों से भी राम के पास आये॥५९॥ वे लोग वहाँ आकर नगर के आस-पासवाले देहातो मे टिक गये थे। जब वे अयोध्या के चारों द्वारो से नगर म प्रविष्ट हुए, तब चार द्वारो वाली वह अयोध्या ऐसी दीखी कि जैसे ब्रह्माजी की चतुर्मुखी देह हो॥६०॥ सीता के त्याग मे राम की इसलिए भी प्रशंसा हुई कि उन्होने किसी दूसरी स्त्री से अपना विवाह नहीं किया था। अतएव यज्ञ मे सोने की सीता बनवाकर राम ने अपनी पत्नी के स्थान पर उसे बैठा दिया था॥६१॥ इस प्रकार वह प्रसिद्ध यज्ञ प्रारम्भ हुआ, जिसमें आवश्यकता से अधिक सामग्री इकट्ठी हुई थी। विशेषता यह था कि यज्ञकार्य मे विघ्न डालने वाले राक्षस ही उसकी रखवाली कर रहे थे॥६२॥ उसी समय वाल्मीकिजी की आज्ञा से सीताजी के पुत्र लव और कुश वाल्मीकिरचित रामायण गाते हुए वहाँ घूमने लगे॥६३॥ एक तो राम का चरित्र, उस पर वाल्मीकिजी उसके रचयिता और फिर किन्नरों के समान मधुर कण्ठ वाले लव और कुश उसके गायक। तब बतलाइये कि उसमे क्या कमी रह गयी थी, जिससे लोग उसे सुनकर मोहित न हो जाते॥६४॥ यह बात राम के कानों तक पहुँची। उन्होने उन दोनों बालकों को बुलवाया और अपने भाइयो के साथ उन बालकों के रूप और गीत की मधुरता को आश्चर्य के साथ देखा और सुना॥६५॥ सारी सभा एकाग्र मन से उनका गीत सुनती और आँखो से आँसू बहाती जा रही थी। उस समय वह सभा प्रातःकाल की उस वनस्थली जैसी दीख रही थी, जिसमें वृक्षो से ओस की बूँदे टपक रही हों॥६६॥ लोगों ने

उभयोर्न तथा लोक प्रावीण्येन विसिष्मिये । नृपते प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥ ६८ ॥
गेये को नु विनेता वा कस्य चेयं कृति कवे । इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥
अथ सावरजो राम प्राचेतसमुपेयिवान् । ऊरीकृत्यात्मनो देह राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥
स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ । कवि कारुणिको वव्रे सीताया सम्परिग्रहम् ॥
तात ! शुद्धा समक्ष न स्नुषा ते जातवेदसि । दौरात्म्याद्रक्षसस्ता तु नात्रत्या श्रद्दधु प्रजा ॥
ता. स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली । तत पुत्रवतीमेना प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनि । शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धि नियमैरिव ॥ ७४ ॥
अन्येद्युरथ काकुत्स्थ सन्निपात्य पुरौकस । कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ ७५ ॥
स्वरसस्कारवत्याऽसौ पुत्राभ्यामथ सीतया । ऋचेवोदर्चिषं सूर्य राम मुनिरुपस्थित ॥ ७६ ॥
काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा । अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥
जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुष । तस्थुस्तेऽवाड्मुखा सर्वे फलिता इव शालय ॥ ७८ ॥
ता दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टर । कुरु नि सशय वत्से ! स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ ७९ ॥
अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जित पय । आचम्योदीरयामास सीता सत्या सरस्वतीम् ॥ ८० ॥
वाड्मन कर्मभि पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे । तथा विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

राम और उन दोनों बालकों का चेहरा एकदम मिलता-जुलता देखा। जिसमे इतना ही अन्तर था कि वे दोनों अभी बच्चे थे तथा वनवासियों के जैसे वस्त्र पहने थे और राम प्रौढ थे तथा राजसी वस्त्र पहने हुए थे॥ ६७॥ जनता को उनके गायन का कौशल देखकर उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना इस बात पर विस्मय हुआ कि राजा ने उन्हे प्रेम से जो दान दिया था, वह भी उन्होंने लौटा दिया॥ ६८॥ राम ने जब उनसे पूछा कि तुमने सगीत किससे सीखा है और यह किस कवि की रचना है, तब उन्होंने वाल्मीकिजी का नाम बता दिया॥ ६९॥ तब अपने भाइयो को साथ लेकर रामचन्द्र वाल्मीकिजी के पास गये। उन्होंने वहाँ जाकर अपने शरीर के सिवाय शेष सम्पूर्ण राज्य वाल्मीकि को भेट कर दिया॥ ७०॥ तब दयालु ऋषि ने राम से कहा—'ये दोनों गायक कुमार सीताजी के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं और तुम्हारे पुत्र है। अब तुम सीताजी को स्वीकार कर लों'॥ ७१॥ राम बोले—आपकी पतोहू सीता हमारे सामने ही अग्नि मे शुद्ध हो चुकी हैं, परन्तु रावण की दुष्टता का विचार करके यहाँ की प्रजा को विश्वास नहीं होता॥ ७२॥ अत यदि सीता अपनी शुद्धता का प्रमाण देकर प्रजा को विश्वास दिला दे, तब मैं आपकी आज्ञा से पुत्रों के साथ उन्हें ग्रहण कर लूँगा॥ ७३॥ राम की यह प्रतिज्ञा सुनकर वाल्मीकि ने शिष्यो को भेजकर सीताजी को आश्रम से इस प्रकार बुलाया, जैसे वे नियमो के द्वारा अपनी सिद्धि को बुलवा रहे हों॥ ७४॥ दूसरे दिन राम ने इस काम के लिए अयोध्या की सम्पूर्ण प्रजा को एकत्र करके वाल्मीकिजी को बुलवाया॥ ७५॥ तदनुसार वाल्मीकिजी लव, कुश और सीताजी को साथ लेकर राम के समक्ष आ उपस्थित हुए। पुत्रों के साथ राम के पास जाती हुई सीताजी ऐसी लगती थीं, जैसे स्वर और सस्कारो के साथ गायत्री देवी सूर्य के पास जा रही हों॥ ७६॥ गेरुए वस्त्र पहने और आखे नीची किये हुए सीताजी अपने शान्त शरीर से ही पवित्र दिखलाई देती थीं॥ ७७॥ उन्हे देखते ही सब लोगों ने उसी प्रकार आँखें नीची कर ली, जैसे फले हुए धान के पौधे झुक जाते हैं। क्योंकि उन्हे लज्जा लगी कि हम लोगो ने व्यर्थ इस साध्वी पर कलक लगाया॥ ७८॥ तब राम के समक्ष आसन पर आसीन वाल्मीकि ने सीताजी से कहा—'बेटी ! जनता के मन मे तुम्हारे चरित्र पर सन्देह है, उसे तुम मिटा दो'॥ ७९॥ तभी वाल्मीकिजी के एक शिष्य ने पवित्र जल लाकर सीताजी को दिया, उससे आचमन करके सीताजी ने यह सत्य वचन कहा—॥८०॥ 'यदि मैंने मन, वचन और कर्म मे अपना पातिव्रत भग न किया हो तो हे धरती माता !

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद्भुव । शातह्रदमिव ज्योति प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥
तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी । समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् । मा मेति व्यवहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ॥
धराया तस्य सरम्भ सीताप्रत्यर्पणैषिण । गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विन ॥ ८५ ॥
ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् । राम सीतागत स्नेह निदधे तदपत्ययो ॥ ८६ ॥
युधाजितश्च सन्देशात्स देश सिन्धुनामकम् । ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रज ॥ ८७ ॥
भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् । आतोद्य ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥
स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययो । अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुन ॥
अङ्गद चन्द्रकेतु च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ । शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥
इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीना जनेश्वरा । भर्तृलोकप्रपन्नाना निवापान्विदधु क्रमात् ॥ ९१ ॥
उपेत्य मुनिवेषोऽथ काल प्रोवाच राघवम् । रह सवादिनौ पश्येदावा यस्त त्यजेरिति ॥ ९२ ॥
तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय स । आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिन ॥ ९३ ॥
विद्वानपि तयोर्द्वा स्थ समय लक्ष्मणोऽभिनत् । भीतो दुर्वासस शापाद्रामसन्दर्शनार्थिन ॥
स गत्वा सरयूतीर देहत्यागेन योगवित् । चकारावितथा भ्रातु प्रतिज्ञा पूर्वजन्मन ॥ ९५ ॥

तुम मुझे अपनी गोद मे छिपा लो' ॥ ८१ ॥ पतिव्रता सीता के ऐसा कहते ही पृथ्वी फट गयी और तुरन्त उसमे से बिजली के समान चमकीला एक तेजोमण्डल निकला ॥ ८२ ॥ उसमे से नाग के फण पर रखे सिंहासन पर बैठी और समुद्र की करधनी पहने साक्षात् धरती माता प्रकट हो गयीं ॥ ८३ ॥ उन्होंने उन सीताजी को अपनी गोद मे ले लिया, जो राम पर आँखे लगाये हुए थीं। राम कहते ही रह गये—'हैं, यह क्या करती हो यह क्या करती हो?' परन्तु वे सबके देखते-देखते पाताल मे समा गयीं ॥ ८४ ॥ इससे राम पृथ्वी पर क्रुद्ध हो गये और पृथ्वी मे सीता को लौटा लेने के लिए उन्होंने धनुष उठाया। परन्तु वसिष्ठजी तो सब कुछ जानते थे, उन्होंने ही राम को समझाया और उनका कोप शान्त किया ॥ ८५ ॥ वह यज्ञ समाप्त हो जाने पर राम ने ऋषियो तथा अभ्यागतों को पुरस्कृत करके विदा किया। तदनन्तर वे सीता पर रहने वाला प्रेम उनके पुत्रो पर रख कर राजकार्य करने लगे ॥ ८६ ॥ भरत के मामा युधाजित के कहने पर प्रजापालक राम ने सिन्धु देश का राज्य प्रभावशाली भरत को दे दिया ॥ ८७ ॥ वहाँ भरत ने गन्धर्वो को युद्ध म जीतकर उनके हाथो मे वीणा दे दी और शस्त्र छुडवा दिया ॥ ८८ ॥ बाद में उन्होने तक्ष और पुष्कल नामक अपने योग्य पुत्रो को तक्ष और पुष्कल की राजधानियो का राजा बना दिया और स्वय राम के पास अयोध्या लौट आये ॥ ८९ ॥ राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने अङ्गद और चन्द्रकेतु नाम के अपने दोनो पुत्रों को कारापथ का राजा बना दिया ॥ ९० ॥ इस प्रकार पुत्रो को राज्य देकर उन चारों भाइयों ने क्रमश अपनी स्वर्गीया माताओ के श्राद्ध आदि सस्कार सम्पन्न किये ॥ ९१ ॥ कुछ समय बाद एक दिन राम के पास मुनि के वेश में काल आया और कहने लगा—'हम आपसे एकान्त में कुछ बातें करेगे। हम लोगो की वार्ता मे जो आये, उसे देश-निकाला दे दें ॥ ९२ ॥ राम ने कहा—'अच्छी बात है'। तब उसने अपना असली रूप दिखलाया और कहा कि 'ब्रह्माजी की आज्ञा है कि अब आप चलकर स्वर्ग मे रहें' ॥ ९३ ॥ उन दोनो म बात हो ही रही थी कि इसी बीच दुर्वासा मुनि आ गये। उन्होने द्वार पर बैठे हुए लक्ष्मण से कहा—'अभी जाकर राम से कहो कि मैं आया हूँ'। लक्ष्मण तो जानते ही थे कि जो इस समय राम के पास जायेगा, उसका देश-निकाला होगा। फिर भी मुनि के शाप से डरकर उन दोनों की बात-चीत के बीच मे ही पहुँचकर उन्होने वह शर्त तोड दी ॥ ९४ ॥ वहाँ से चलकर योगमार्ग के विज्ञ लक्ष्मण सरयू के तट पर गये और योगबल से शरीर

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि । राघव शिथिल तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥
स निवेश्य कुशावत्या रिपुनागाङ्कुश कुशम् । शरावत्या सता सूक्तैर्जनिताश्रुलव लवम् ॥ ९७ ॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधी सानुजोऽग्निपुर सर । अन्वित पतिवात्सल्याद्गृहवर्जमयोध्यया ॥ ९८ ॥
जगृहुस्तस्य चित्तज्ञा पदवीं हरिराक्षसा । कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टा प्रजाश्रुभि ॥ ९९ ॥
उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना । चक्रे त्रिदिवनि श्रेणि सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥
यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्सम्मर्दस्तत्र मज्जताम् । अतस्तदाख्यया तीर्थं पावन भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥
स विभुर्विबुधाशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु । त्रिदशीभूतपौराणा स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्यैव दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणा
विष्वक्सेन स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथ पवनतनय चोभय स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये राम
स्वर्गारोहणो नाम पञ्चदश सर्ग ॥ १५ ॥

छोडकर उन्होंने बडे भाई के प्रतिज्ञा की रक्षा कर ली ॥ ९५ ॥ इस प्रकार अपने चौथाई अश लक्ष्मण के स्वर्गवासी हो जाने पर राम वैसे ही ढीले पड़ गये, जैसे त्रेतायुग में पृथ्वी पर तीन पैर वाला धर्म ढीला पड जाता है ॥ ९६ ॥ तदनन्तर स्थिरबुद्धि राम ने शत्रुरूपी हाथियों के लिए अंकुश सरीखे भयदायक कुश को कुशावती का राज्य दे दिया और अपने मधुर वचनो द्वारा सज्जनों की आँखो में आँसू ला देने वाले लव को उन्होंने शरावती का राजा बनाया ॥ ९७ ॥ तदनन्तर अग्निहोत्र की अग्नि आगे करके अपने भाइयों के साथ राम उत्तर की ओर चल पडे। अयोध्यावासियो ने जब यह सुना तो प्रेमवश वे सब भी घरों को छोडकर उनके साथ हो लिये ॥ ९८ ॥ राम के मन की बात जानने वाले वानर और राक्षस भी उनके पीछे-पीछे चल दिये। जिस मार्ग से वे चल रहे थे, वह मार्ग राम के पीछे-पीछे जाने वाली जनता के स्थूल अश्रुबिन्दुओ से भींग गया ॥ ९९ ॥ इस प्रकार भक्तवत्सल राम विमान पर चढकर स्वर्ग चले गये। सरयू को उन्होंने अपने पीछे आने वालो के लिए स्वर्ग की सीढी बना दिया। अर्थात् जो सरयू मे स्नान करता था, वह तुरन्त स्वर्ग चला जाता था ॥ १०० ॥ अतएव वहाँ पर स्नानार्थियों की वैसी ही भीड हुई, जैसे गायों को नदी पार कराते समय होती है। इसीलिए वह पवित्र स्थान ससार मे 'गोप्रतरतीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया ॥ १०१ ॥ तदनन्तर देवताओ के अशधारी रीछ-वानरों ने भी अपना देवरूप धारण कर लिया। इसलिए स्वर्ग मे इतने लोग पहुँच गये कि सामर्थ्यशाली राम को देवपद-प्राप्त अयोध्यावासियों को रहने के लिए एक दूसरा ही स्वर्ग बनाना पडा ॥ १०२ ॥ इस प्रकार विष्णु भगवान् ने रावण का वध करके देवताओ का कार्य पूरा किया। फिर उत्तरगिरि (हिमालय) पर हनुमान्‌जी को तथा दक्षिणगिरि (त्रिकूट पर्वत) पर विभीषणजी को अपने दो कीर्तिस्तम्भों के रूप में स्थापित करके वे अपने विराट् शरीर में लीन हो गये ॥ १०३ ॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य मे राम-स्वर्गारोहण नामक
पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त ॥ १५ ॥

षोडश सर्ग

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि॥१॥
ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः॥२॥
चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम्।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः॥३॥
अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत्॥४॥
सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध॥५॥
अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः॥६॥
लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम्॥७॥
का त्वं शुभे! कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति॥८॥

तदनन्तर लव आदि सात रघुवंशी वीरों ने अपने सबसे बड़े भाई गुणवान् कुश को अग्रणी बनाया। क्योंकि भ्रातृप्रेम उनके कुल का धर्म था॥१॥ वे सभी कर्मठ भाई पुल बाँधने, कृषि की रक्षा करने और हाथियों को पकड़ने में कुशल थे। तथापि जैसे समुद्र अपने तट का उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही उनमें से किसी ने भी अपने राज्य की सीमा लाँघकर दूसरे भाई के राज्य की सीमा में प्रवेश करने का प्रयत्न नहीं किया॥२॥ जैसे सामवेद के कुल से उत्पन्न मतवाले दिग्गजों का वंश आठ भागों में बँट गया था, वैसे ही विष्णु के अंश से उत्पन्न राम का त्यागी कुल भी आठ भागों में फैल गया॥३॥ एक दिन आधी रात के समय जब शयनकक्ष का दीपक टिमटिमा रहा था और सब लोग सोये हुए थे, तब कुश को एक ऐसी स्त्री दिखलायी दी, जिसे उन्होंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके वेश को देखकर ऐसा लगता था कि जैसे उसका पति परदेश चला गया है॥४॥ अपनी सम्पत्ति से सज्जनों का उपकार करने वाले, इन्द्र के समान तेजस्वी और शत्रुओं को जीतने वाले कुश के आगे वह स्त्री उनकी जय-जयकार करती हुई हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी॥५॥ दर्पण में जैसे मुँह का प्रतिबिम्ब प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही वह स्त्री द्वार बन्द रहने पर भी घर के भीतर आ पहुँची थी। उसे देखकर कुश को बहुत विस्मय हुआ। वे शय्या पर आधे शरीर से उठकर उससे बोले—॥६॥ तुम हमारे इस बन्द भवन में सहसा घुस आयी हो, परन्तु तुम्हारे मुख से यह नहीं प्रकट होता कि तुम कोई योगिनी हो। क्योंकि तुम पाले से मारी हुई कमलिनी जैसी उदास दीख रही हो॥७॥ हे शुभे! तुम कौन हो? तुम्हारे पति का क्या नाम है और मेरे पास किस काम से आयी हो? लेकिन तुम यह समझकर कुछ मत कहना कि रघुवंशियों का चित्त परायी स्त्री की ओर आकृष्ट नहीं होता॥८॥ स्त्री बोली—भगवान् राम जब

तमब्रवीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन।
तस्या पुर सम्प्रति वीतनाथा जानीहि राजन्नधिदेवता माम्॥ ९ ॥
वस्वौकसारामभिभूय साऽहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम्॥ १० ॥
विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेश पर्यस्तशाल प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्य दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम्॥ ११ ॥
निशासु भास्वत्कलनूपुराणा य सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नन्दन्मुखोल्काविचितामिषाभि स वाह्यते राजपथ शिवाभि ॥ १२ ॥
आस्फालित यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भ शृङ्गाहत क्रोशति दीर्घिकाणाम्॥ १३ ॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्या ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हा क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम्॥ १४ ॥
सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान्।
सद्योहतन्यङ्कुभिरस्रदिग्ध व्याघ्रै पद तेषु निधीयते मे॥ १५ ॥
चित्रद्विपा पद्मवनावतीर्णा करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गा ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भा सरब्धसिंहप्रहृत वहन्ति॥ १६ ॥
स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टा फणिभिर्विमुक्ता ॥ १७ ॥

वैकुण्ठ जाने लगे, तब इस निर्दोष अयोध्यापुरी के निवासियो को भी साथ लेते गये। हे राजन्! मैं उसी अनाथिनी अयोध्यापुरी की अधिष्ठात्री देवी हूँ॥ ९॥ पहले सुशासन के कारण मैं इतनी ऐश्वर्यशालिनी हो गयी थी कि मेरे आगे कुबेर की अलकापुरी भी फीकी लगती थी। अब तुम्हारे जैसे प्रतापी राजा के रहते हुए भी मेरी बडी हीन दशा हो गयी है॥ १०॥ स्वामी के अभाव में सैकडों तल्लो वाली अट्टालिकाओं के टूट जाने से मेरी निवासभूमि अयोध्या ऐसी उदास लगती है, जैसे सूर्यास्तकालीन वह सन्ध्या हो कि जिसमे वायु के झोंके से छितराये हुए बादल कहीं-कहीं दिखलायी देते हो॥ ११॥ रात के समय पहले जिन सडकों पर चमकीले बिछुओंवाली अभिसारिकाएँ चलती थीं, उन पर आजकल मास खोजनेवाली वे सियारिने घूमती हैं, जिनके मुख से चिल्लाते समय आग की लपटे निकलती हैं॥ १२॥ पहले नगर की जिन बावलियों का जल जलक्रीडानिरत सुन्दरियों के हाथ के थपेडों मे मृदङ्ग के समान गम्भीर ध्वनि करता था, वही आजकल जङ्गली भैंसों की सींगों की चोट खा-खाकर चिल्लाता रहता है॥ १३॥ अड्डो के टूट जाने से यहाँ के मोर अब वृक्षों पर बैठते हैं और मृदङ्ग न बजने के कारण उन्होंने नाचना भी छोड दिया है। वे अब उन जगली मोरों जैसे लगते हैं, जिनकी पूछे वन की आग मे झुलस गयी हो॥ १४॥ जिन सीढियो पर पहले सुन्दरियाँ अपने महावर लगे लाल-लाल पैर रखती हुई चलती थीं, उन्हीं पर मृगघाती बाघ अपने रक्तलिप्त लाल पैर रखते हुए चलते हैं॥ १५॥ जिन चित्रों मे दिखलाया गया था कि हाथी कमल के सरोवर में उतर रहे हैं और हथिनियाँ उन्हें सूँड से कमल का डण्ठल तोड-तोडकर दे रही है, उन चित्रलिखित हाथियो के मस्तकों को सच्चे हाथी का मस्तक समझकर सिंहों ने अपने नखो से फाड डाला है॥ १६॥ जिन खम्भो मे स्त्रियों की मूर्तियाँ बनी हुई थीं, आज-कल उन मूर्तियो का रग उड गया है और वे धुँधली पड गयी हैं। उन खम्भों मे जो साँप लिपटे उनमे से उनकी केंचुले छूटकर उन मूर्तियों में सटकर ऐसी लगती हैं कि जैसे उन पत्थर की स्त्रियों ने स्तन ढँकने के लिए

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादा ॥१८॥
आवर्ज्य शाखा सदय च यासा पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभि ।
वन्यै पुलिन्दैरिव वानरैस्ता क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीया ॥१९॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभास कान्तामुखश्रीवियुता दिवाऽपि।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षा ॥२०॥
बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि॥२१॥
तदर्हसीमा वसतिं विसृज्य मामभ्युपेतु कुलराजधानीम्।
हित्वा तनु कारणमानुषीं ता यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम्॥२२॥
तथेति तस्या प्रणय प्रतीत प्रत्यग्रहीत् प्राग्रहरो रघूणाम्।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव॥२३॥
तदद्भुत संसदि रात्रिवृत्त प्रातर्द्विजेभ्यो नृपति शशस।
श्रुत्वा त एन कुलराजधान्या साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन्॥२४॥
कुशावतीं श्रोत्रियसात् स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोध ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दै सैन्यैरयोध्याभिमुख प्रतस्थे॥२५॥
सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागै ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी॥२६॥

कोई कपड़ा डाल लिया हो॥१७॥ पहले भवनो पर मोती की माला जैसी शुभ्र चादनी चमकती थी, उन पर अब वह नहीं चमकती। क्योंकि बहुत दिनों से चूना न लगने से उन कोठो के चूने का रग काला पड गया है और उन पर जहाँ-तहाँ घास उग आया है॥१८॥ पहले उद्यानों की जिन लताओं को धीरे से झुकाकर सुन्दर स्त्रियाँ फूल तोडती थीं उन मेरी प्रिय लताओ को वन्य भीलो के समान उत्पाती बन्दर झकझोरते हैं॥१९॥ अब अटारियो के झरोखो से न रात को दीपको की किरणे निकलती हैं, न दिन में सुन्दरियों का मुख दीखता है और न हा कहीं से अगर का धुआँ ही निकलता है। अब वे झरोखे मकडियों के जालों से भर गये हैं॥२०॥ यह देखकर मुझे बडा दु ख होता है कि अब न सरयू की रेती पर देवताओं की पूजा की जाती है और न स्त्रियो के स्नान करने पर उनके शरीर से अगराग आदि की सुगन्ध निकलती है। सरयू के तट पर बनी हुई बेन की झोपडियाँ भी सूनी पडी रहती हैं॥२१॥ अतएव तुम्हारे पिता राम ने राक्षसो को मारने के लिए जो मानव शरीर धारण किया था, उसे छोडकर जैसे वे परमात्मा मे लीन हो गये, वैसे ही तुम भी यह नयी राजधानी कुशावती त्यागकर अपनी कुल-परम्परा की राजधानी अयोध्या मे चलकर निवास करो॥२२॥ कुश ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए कहा—'ऐसा ही करेंगे'। यह सुनकर प्रसन्न मन से अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी अन्तर्धान हो गयी॥२३॥ रात की वह विस्मयजनक घटना राजा ने सबेरे सभा मे ब्राह्मणों से कही। सो सुनकर ब्राह्मणों ने कुश की प्रशंसा की और कहा कि 'आप धन्य हैं, जिस कुल की राजधानी ने स्वेच्छा से अपना पति चुना है'॥२४॥ तदनन्तर उन्होंने कुशावती नगरी वेदपाठी ब्राह्मणों को दान करके दे दी और जैसे वायु के पीछे-पीछे बादल चलते हैं, वैसे ही अपनी सेना साथ लेकर वे शुभ मुहूर्त में अयोध्या की ओर चल पडे॥२५॥ उस यात्रा के समय चलती हुई कुश की सेना सचल राजधानी जैसी लगती थी। क्योंकि उसका ध्वजाओं वाला भाग लतायुक्त उपवनो जैसा, बडे-बडे हाथी बनावटी

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापित पूर्वनिवार
बभौ बलौघ शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नी
तस्य प्रयातस्य वरूथिनीना पीडामपर्याप्तवतीव
वसुन्धरा विष्णुपद द्वितीयमध्यारुरोहेव रज
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च ः
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमति
तस्य द्विपाना मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गम
रेणु प्रपेदे पथि पङ्कभाव पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा वि
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामु
स धातुभेदारुणयाननेमि प्रभु प्रयाणध्वनिमिश्र
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादि
तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात् प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य ग
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हसा नभोलङ्घनलोलप
स पूर्वजाना कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहा
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलित व
इत्यध्वन कैश्चिदहोभिरन्ते कूल समासाद्य कुश सर
वेदिप्रतिष्ठान्वितताध्वराणा यूपानपश्यच्छतशो रघूण
आधूय शाखा कुसुमद्रुमाणा स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्ग
त क्लान्तसैन्य कुलराजधान्या प्रत्युज्जगामोपवनान्तवा

पर्वतों जैसे और रथ ऊँचा-ऊँची अटारियां सरीखे लगते थे॥२६॥ जैसे चन्द्र
तट तक खींच लाता है, वैसे ही श्वेत छत्रधारी कुश अपनी सेना को रघुकुल की
की ओर लेकर चले जा रहे थे॥२७॥ जब कुश चले तो उनकी सेना का भ
अतएव उड़ती हुई धूल ऐसी लगती थी कि जैसे पृथ्वी विष्णु के दूसरे पद
हो॥२८॥ कुशावती से चलने की तैयारी करती हुई, आगे के पड़ाव पर पहु
वाला कुश की सम्पूर्ण सैनिक-टुकड़ियाँ पूरी सेना ही मालूम देती था॥२९॥ कु
से सिंचकर मार्ग की धूल कीचड़ बनी और वह कीचड़ भी घोड़ो की टापों से
बन गयी॥३०॥ मार्ग भूल जाने से वह सेना विन्ध्याचल के आस-पास मार्ग
बट गयी। नर्मदा के समान उस सेना के गम्भीर गर्जन से पर्वत की गुफाएँ गूँज
धातुओं से जिसके रथ के पहिये लाल हो गए थे और जिसकी चलती हुई सेन
शब्द भी दब गये थे, वे राजा कुश विन्ध्याचलनिवासी किरातो से प्राप्त भेंट की
विन्ध्य से आगे बढ़े॥३२॥ वहाँ ही पश्चिम की ओर बहने वाली गंगाजी पर ह
जब वे पार उतरने लगे, तब आकाश मे उड़ते हुए चचल पखो वाले हस कुश
चँवर के समान दीखने लगे॥३३॥ वहाँ कुश ने नावो के यातायात से चचल
प्रणाम किया। क्योंकि कपिल मुनि के कोप से जले हुए उनके पूर्वज (सगरपुत्र
से स्वर्ग गये थे॥३४॥ इस तरह मार्ग में कुछ दिन बिताकर कुश सरयू के तट
बड़े-बड़े यज्ञ करने वाले रघुवंशी राजाओ के गाड़े हुए सैकड़ो यज्ञस्तम्भ दिखलायी

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि॥ ३७॥
तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम्॥ ३८॥
ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः॥ ३९॥
तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम्॥ ४०॥
सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पूराबभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी॥ ४१॥
वसन् स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम्।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय॥ ४२॥
अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम्।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम्॥ ४३॥
अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज॥ ४४॥
प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम्॥ ४५॥

के उपवनों मे वायु ने फूले हुए वृक्षों की डालियाँ कँपा कर सरयू के शीतल जल का स्पर्श करके थकी हुई सेना के साथ आये हुए कुश की अगवानी की॥ ३६॥ शत्रुविनाशक और प्रजाहितैषी राजा कुश ने फहराती हुई ध्वजावाली अपनी सेना को नगर के आस-पास वाले स्थानों मे ठहरा दिया॥ ३७॥ जैसे बादल इन्द्र की आज्ञा से जल बरसाकर गरमी से तपी धरती को हरी-भरी कर देते हैं, वैसे ही कुश की आज्ञा से कारीगरों ने अपने यन्त्रों के सहारे अयोध्या को नया रूप दे दिया॥ ३८॥ तदनन्तर रघुकुलवीर कुश ने व्रती, उपवासी एवं वास्तु विद्या मे निपुण पंडितों द्वारा अनमोल मूर्तियों से भरे घरों वाली अयोध्या का विधिवत् पूजन करके पशुओं की बलि दी॥ ३९॥ जैसे कोई कामी पुरुष स्त्री के हृदय मे प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही कुश भी अयोध्या के राजमहल में प्रविष्ट हो गये और उन्होंने अपने मन्त्रियों आदि को रहने के लिए दूसरे अनेक भवन दिये॥ ४०॥ अयोध्या की बाजारों में सुन्दर वस्तुएँ सजी हुई थीं, घुड़साल में घोड़े बंधे थे और हस्तिशालाओं मे खम्भों से हाथी बंधे हुए थे। इस प्रकार वह नगरी ऐसी सुन्दर लगती थी, जैसे सारे शरीर में गहना पहने कोई स्त्री खड़ी हो॥ ४१॥ अब अयोध्या फिर पहले जैसी सुन्दर लगने लगी। उसमें निवास करते हुए जानकीजी के पुत्र कुश को ऐसा सुख मिला कि न तो उन्हें सुन्दरी अप्सराओं से भरे स्वर्ग के स्वामी बनने की इच्छा रह गयी और न असंख्य रत्नों वाली अलकापुरी ही पाने की चाह रही॥ ४२॥ तभी ग्रीष्म ऋतु आ गया, जिसने मानो इन्हें अपनी उस प्रिया का स्मरण करा दिया—जिसकी ओढ़नी मे रत्न जड़े हों, जिसके गोरे-गोरे स्तनों पर मोतियों का हार लटका हुआ हो और जो साँस की हवा से उड़ने वाले महीन कपड़े पहने हो॥ ४३॥ गर्मी से जो बर्फ गलने लगी, वह ऐसी लगा कि जैसे दक्षिण दिशा से सूर्य के लौट आने की प्रसन्नता में उत्तर दिशा ने हिमालय से आनन्द के ठंढे आँसुओं जैसी पानी की ठंढी धारा बहा दी हो॥ ४४॥ उस समय अत्यन्त ताप से भरे दिन और बहुत छोटी-छोटी रातें—ये दोनों उन पछताने

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भ ।
उद्दण्डपद्म गृहदीर्घिकाणा नारीनितम्बद्वयस बभूव ॥ ४६ ॥
वनेषु सायन्तनमल्लिकाना विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपद सशब्द सङ्ख्यामिवैषा भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥
स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसन्दष्टशिख कपोले ।
च्युत न कर्णादपि कामिनीना शिरीषपुष्प सहसा पपात ॥ ४८ ॥
यन्त्रप्रवाहे शिशिरै परीतानसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्त ॥ ४९ ॥
स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवास विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्य केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ५० ॥
आपिञ्जरा बद्धरज कणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वाऽपि देह गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ५१ ॥
मनोज्ञगन्ध सहकारभङ्ग पुराणशीधु नवपाटल च ।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषा सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टा ॥ ५२ ॥
जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपति शशी च ॥ ५३ ॥
अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वा ।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ५४ ॥

हुए पति-पत्नी सदृश दीखने लगे, जो आपस मे झगडा करके एक-दूसरे मे रूठ गये हो ॥ ४५ ॥ अतिशय गर्मी से घर की बावलियाँ सेवार जमी हुई सीढियाँ छोडकर पीछे हटने लगीं और उनका पानी सूखने लगा। उनमे कमल की डडियाँ दीखने लगा और पानी घटकर स्त्रियो की कमरभर रह गया ॥ ४६ ॥ वनो में चमेली खिल गयी और उसकी सुगन्ध सब ओर फैलने लगी। सन्ध्या को गुनगुनाते हुए भौंरे एक-एक फूल पर बैठकर जैसे उनकी गिनती करने लगे ॥ ४७ ॥ स्त्रियों के गालो पर प्रियतम के हाथों द्वारा बने हुए नखक्षतो पर पसीने की बूदे फैल जाती थीं और कान पर रखे हुए सिरस के फूलों की केसर उन पर सट जाती थी। अतएव जब वे फूल कान पर से खिसकते भी थे तो सहसा पृथ्वी पर नहीं गिर पडते थे ॥ ४८ ॥ धनी लोग गर्मी मे ठडी रहने वाली उन खास तरह की शिलाओ पर सोकर दुपहरी बिताते थे, जो चन्दनमिश्रित जल मे धुली होती थीं और जिनके चारो ओर जल की धाराएँ छूटती रहती थीं ॥ ४९ ॥ वसन्त बीत जाने से जो कामदेव मन्द पड गया था, वह स्त्रियों के उन केशों में जा बसा, जो स्नान करने पर खोल दिये जाते थे और जिनमें धूप से सुगन्धित करने के बाद शाम को फूलने वाली चमेली के सुगन्धित फूल खोस लिये जाया करते थे ॥ ५० ॥ पराग से परिपूर्ण कुछ पीली-पीली अर्जुन की मञ्जरी ऐसी लगती थी कि जैसे कामदेव का शरीर भस्म करने के पश्चात् शिवजी के हाथ टूटी हुई कामदेव के धनुष की डोरी पडी हो ॥ ५१ ॥ उस समय मनोहर गन्ध वाला आम का बौर, पुरानी मदिरा और नये पाटल के फूल लाकर ग्रीष्म ऋतु ने कामी पुरुषो की सब न्यूनता पूर्ण कर दी ॥ ५२ ॥ उस भीषण ग्रीष्म काल में उदित होकर ही दोनों प्रजा को बहुत प्रिय लगे। एक तो सेवा से प्रसन्न होने पर निर्धनता आदि सन्तापों को दूर करने वाले राजा कुश और दूसरे शीतल किरण से गर्मी का सन्ताप दूर करने वाले चन्द्रमा ॥ ५३ ॥ एक दिन कुश की यह इच्छा हुई कि जल की लहर से मतवाले हसों से युक्त तट की लताओं के फूल बहाने वाली और गर्मी मे सुखदायिनी सरयू के जल में रानियो

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितु श्रीमहिमानुरूप प्रचक्रमे चक्रधरप्रभाव ॥५५॥
सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभि ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहसा सरिदङ्गनाभि ॥५६॥
परम्पराभ्युक्षणतत्पराणा तासा नृपो मज्जनरागदर्शी।
नौसश्रय पार्श्वगता किरातीमुपात्तबालव्यजना बभाषे॥५७॥
पश्यावरोधै शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागै ।
सन्ध्योदय साभ्र इवैष वर्ण पुष्यत्यनेक सरयूप्रवाह ॥५८॥
विलुप्तमन्त.पुरसुन्दरीणा यदञ्जन नौलुलिताभिरद्भि ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभा विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम्॥५९॥
एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्य ।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बाला क्लेशोत्तर रागवशात् प्लवन्ते॥६०॥
अमी शिरीषप्रसवावतसा प्रभ्रशिनो वारिविहारिणीनाम्।
पारिप्लवा स्रोतसि निम्नगाया शैवाललोलाश्छलयन्ति मीनान्॥६१॥
आसा जलास्फालनतत्पराणा मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाण सलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हार ॥६२॥
आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवा द्वन्द्वचरा स्तनानाम्।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम्॥६३॥

के साथ विहार किया जाय॥५४॥ ऐसा निश्चय करके विष्णु जैसे प्रभावशाली कुश सरयू के जल में विहार करने को चले। तदनुसार सरयू के तट पर डेरे तन गये और मल्लाहो ने ग्राह आदि जन्तुओ को सरयू से निकाल दिया॥५५॥ कुश की रानियाँ सीढियो से जब पानी मे उतरने लगीं, उस समय उनके भुजबन्द एक-दूसरे से टकराने लगे, पैर के बिछुए बजने लगे ओर इन शब्दों को सुनकर सरयू के हस उद्विग्न हो उठे॥५६॥ तभी वे रानियाँ जल में उतरकर एक-दूसरे के ऊपर छींटे डालने लगीं। उन रानियों के स्नान की वह शोभा देखकर नाव पर बैठे हुए राजा कुश पास ही चँवर लेकर खड़ी किरातिनी से बोले॥५७॥ देखो, मेरे रनवास की सैकडों रानियों के स्नान करने और उनके शरीर से धुले हुए अगराग के मिल जाने से सरयू की धारा बादलों मे भरी सन्ध्या जैसी रग-बिरगी दीख रही है॥५८॥ नावों के चलने से जल मे उठने वाली लहरों ने इन सुन्दरियों की आँखों का अञ्जन धोकर उसके बदले मदपान के समय की लाली लेकर इनकी आँखों मे भर दी है॥५९॥ बोझिल नितम्बों तथा स्तनों के कारण ये भलीभाँति तैर नहीं पातीं, तथापि खेल मे सम्मिलित होने के कारण ये अपने मोटे-मोटे भुजबन्दों वाली बाँहों मे जल में बड़ी कठिनाई से तैरती हैं॥६०॥ इन जलक्रीडानिरत रानियों के कानों से गिरे हुए सिरस के कर्णफूल नदी मे तैर रहे हैं। इन्हे देखने वाली मछलियों को सेवार का भ्रम होता है और वे इन पर मुँह मार रही हैं॥६१॥ देखो, जलक्रीडा में मलग्न रानियों को यह भी नहीं मालूम कि इनके हार टूट गये हैं और मोती बिखर गये हैं। वे मोतियों के समान दीखने वाले जलबिन्दुओं को ही मोती समझ बैठी हैं और इनका ख्याल है कि हार नहीं टूटा है॥६२॥ देख, सुन्दरी स्त्रियो के शरीर के अगो की तरह जो वस्तुएं प्रसिद्ध हैं वे सब इन सुन्दरियों के पास स्वत जुट गयी हैं। पानी की भँवर इनकी गहरी नाभि के सदृश, लहरें भौंहो के समान और चकवा-चकवी इनके स्तनों जैसे

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥
सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥
एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान् वारिलवान् वमन्ति ॥ ६६ ॥
उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥
स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥
ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥
वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥ ७० ॥
तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥
यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ ७२ ॥

हैं ॥ ६३ ॥ गाता हुई ये जो मृदंग बजाने के समान थपकी दे-देकर जल पीट रही हैं, उसे सुनकर तट पर बैठे हुए मोर अपनी पूँछ उठाकर और बोलकर उनका अभिनन्दन करते हैं ॥ ६४ ॥ अपने नितम्बों पर रानियों ने श्वेत वस्त्र लपेट लिया है, उसके नीचे करधनी के घुंघरू चाँदनी से ढँके हुए तारे जैसे दीखते हैं। उनके डोरों में जल भर जाने से इन स्त्रियों के इधर-उधर दौड़ने पर भी ये बजते नहीं हैं ॥ ६५ ॥ इनकी सखियाँ जब इनके मुँह पर पानी डालती हैं और ये भी अहंकार से अपनी सखियों पर पानी उछालती हैं, तब इनके सीधे लटके हुए बालों से कुंकुम-मिश्रित लाल रंग की बूँदें टपकने लगती हैं ॥ ६६ ॥ यद्यपि स्नान के कारण बाल खुल जाने, मुँह और स्तनों पर बनी हुई चित्रकारी धुल जाने तथा मोतियों के कर्णफूल कान से निकल जाने पर स्त्रियों का वेश अस्त-व्यस्त हो गया है, तथापि ये कितनी सुन्दर लग रही हैं ॥ ६७ ॥ ऐसा कहकर कुश भी नौका से पानी में उतर पड़े और जैसे कमलिनियों को कन्धे पर लटकाये हुए जंगली हाथी हथिनियों के साथ जलक्रीडा करते हैं वैसे ही हिलते हुए हारवाले कुश भी उन स्त्रियों के साथ जल-विहार करने लगे ॥ ६८ ॥ उस कान्तिमान् राजा के साथ जलक्रीडा करती हुई वे रानियाँ और भी अधिक सुन्दर लगने लगीं। क्योंकि मोती यों ही सुन्दर होते हैं, फिर यदि वह इन्द्रनीलमणि के साथ मिल जाय, तब उसकी शोभा का क्या कहना ॥ ६९ ॥ तब वे स्त्रियाँ सोने की पिचकारियों से रंग छोड़-छोड़कर राजा कुश को भिगोने लगीं। उस समय वे ऐसे दीखने लगे, जैसे पर्वतराज हिमालय पर से गेरू का झरना झर रहा हो ॥ ७० ॥ उन स्त्रियों के साथ सरयू में जलक्रीडा करते समय कुश ऐसे लगते थे, जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गीय अप्सराओं के साथ आकाशगंगा में जलक्रीडा कर रहे हों ॥ ७१ ॥ अगस्त्य ऋषि ने राम को जैत्र (सदा जीतने वाला) जो आभूषण दिया था, उसे राम ने राज्य के साथ ही कुश को दे दिया था। जलक्रीड़ा करते समय सहसा वह आभूषण पानी में गिर गया और किसी

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श॥७३॥
जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात्।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः॥७४॥
ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान्।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः॥७५॥
कृतः प्रयत्नो न च देव! लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत्॥७६॥
ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम्॥७७॥
तस्मिन् ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास॥७८॥
तस्मात् समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात् सहसोन्ममज्ज।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः॥७९॥
विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशाम्पतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः॥८०॥
त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान्।
मनोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे॥८१॥

को इस बात का ज्ञान ही नहीं रहा॥७२॥ इस प्रकार रानियों के साथ यथेच्छ जलक्रीडा करके कुश जब जल से बाहर निकले और तट पर गये तब कपडे बदलने के पहले ही उन्होंने देखा कि भुजा पर से वह दिव्य आभूषण गायब है॥७३॥ यद्यपि बुद्धिमान राजा कुश फूल और आभूषण दोनों को बराबर समझते थे, अतएव आभूषण के खो जाने का इसलिए दुःख नहीं हुआ कि वह बहुमूल्य था, बल्कि इसलिए दुःख हुआ कि वह आभूषण विजयलक्ष्मी प्राप्त कराने वाला और अपने पिता राम का चिह्न था॥७४॥ अतएव उन्होंने सब धीवरों को वह आभूषण ढूंढने की आज्ञा दी। बहुत देर तक उन लोगों ने पानी में टटोला, परन्तु उनका सब परिश्रम व्यर्थ हो गया। तब वे कुश के पास आकर बोले—॥७५॥ हे देव! बहुत परिश्रम करने पर भी हम लोग जल में गिरे हुए आपके आभूषण को नहीं पा सके। ऐसा लगता है कि इस जल में रहने वाले कुमुद नाम के नाग ने लोभवश चुरा लिया है॥७६॥ यह सुना वैसे ही कुश की आंखे क्रोध से लाल हो गयीं। तट पर खडे होकर उन्होंने अपना धनुष सम्हाला और नाग को नष्ट करने के लिए उस पर गारुडास्त्र चढा लिया॥७७॥ उनके धनुष चढाते ही उस सरोवर का जल खलबलाता हुआ अपना तरंग रूपी हाथ उठाकर तट को तोडता हुआ इस तरह गरजने लगा, जैसे गड्ढे में गिरा हुआ कोई हाथी चिग्घाड रहा हो॥७८॥ समुद्र के समान उस जल को मथा जाता देखकर नक्र-घडियाल आदि जीव घबरा उठे। इतने में उस जल में से एक कन्या को आगे किये नागराज कुमुद इस प्रकार निकला, जैसे लक्ष्मी को साथ लेकर कल्पवृक्ष निकला हो॥७९॥ राजा कुश ने देखा कि कुमुद के हाथ में वही आभूषण विद्यमान है, इसलिए उन्होंने धनुष पर से गारुडास्त्र उतार लिया। क्योंकि सज्जन लोग ऐसे लोगों पर क्रोध नहीं करते हैं, जो विनम्र होकर उनके समक्ष पहुँच जाते हैं॥८०॥ त्रिलोकीनाथ राजा राम के पुत्र तथा शत्रुओं को अंकुश सदृश दुःख देने वाले कुश को अभिमान से उठा हुआ अपना सिर नवाकर कुमुद ने प्रणाम किया। क्योंकि वह कुश के बाण की शक्ति को भलीभांति

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम्।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम्॥८२॥
कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालाऽतिकुतूहलेन।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम्॥८३॥
तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन॥८४॥
इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम्।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव! पादयोस्ते॥८५॥
इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम्।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन॥८६॥
तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः॥८७॥
इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेयाच्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास॥८८॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये कुमुद्वती-
परिणयो नाम षोडशः सर्गः॥१६॥

जानता था। इस प्रकार प्रणाम करके वह कहने लगा॥८१॥ मैं जानता हूँ कि आप राक्षसों का नाश करने के लिए मनुष्य का शरीर धारण करने वाले विष्णु के दूसरे रूप अर्थात् उनके पुत्र हैं। आप मेरे पूजनीय हैं। अतः मैं भला आपसे वैर कैसे कर सकता हूँ॥८२॥ यह कन्या गेंद खेल रही थी। इसकी थपकी से गेंद ऊपर उछल गयी। उसे देखने को इसने जो ऊपर आँख उठायी तो देखा कि आकाश से गिरते हुए तारे के समान आपका आभूषण नीचे चला आ रहा है। बस, इसने उसे पकड़ लिया॥८३॥ अब आप इसे ले लीजिए और अपनी उस मोटी और लम्बी भुजा में फिर बाँध लीजिए, जिसमें धनुष की डोरी के आघात से घट्ठे पड़ गये हैं और जो पृथ्वी की रक्षा करती रहती है॥८४॥ हे राजन्! मेरी छोटी बहन कुमुद्वती जीवनभर आपकी सेवा करके अपने अपराध का मार्जन करना चाहती है। अतएव आप इसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर लें॥८५॥ ऐसा कहकर कुमुद ने वह आभूषण कुश को दे दिया। कुश ने कहा—आज से आप मेरे आदरणीय सम्बन्धी हुए। यह सुनकर कुमुद ने अपने कुटुम्बियों को बुलाया और बड़ी धूम-धाम से उस कन्या का कुश के साथ विवाह कर दिया॥८६॥ राजा कुश ने जब अग्नि के समक्ष उस कन्या का ऊनी कंगन बँधा हुआ हाथ पकड़ा, उस समय तुरही आदि बाजों की ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं और विचित्र प्रकार के मेघों ने आ-आकर आकाश से उनके ऊपर सुगन्धित पुष्पों की वर्षा की॥८७॥ नागराज कुमुद ने इस प्रकार त्रिलोकीनाथ विष्णु अर्थात् राम के पुत्र कुश को अपना सम्बन्धी बनाकर गरुड से डरना छोड़ दिया। क्योंकि अब गरुड उनके सम्बन्धी के पिता के वाहन मात्र रह गये थे। इधर कुश ने भी नागराज तक्षक के पाँचवें पुत्र कुमुद को अपना सम्बन्धी बनाया, तभी से सर्प शान्त हो गये और कुश पृथ्वी पर यथावत् शासन करने लगे॥८८॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में कुमुद्वती-परिणय नामक
सोलहवाँ सर्ग समाप्त॥१६॥

सप्तदश सर्ग

अतिथि नाम काकुत्स्थात्पुत्र प्राप कुमुद्वती । पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥
स पितु पितृमान्वश मातुश्चानुपमद्युति । अपुनात् सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥
तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदा वर । पश्चात्पार्थिवकन्याना पाणिमग्राहयत्पिता ॥ ३ ॥
जात्यस्तेनाभिजातेन शूर शौर्यवता कुश । अमन्यतैकमात्मानमनेक वशिना वशी ॥ ४ ॥
स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् । जघान समरे दैत्य दुर्जय तेन चावधि ॥ ५ ॥
त स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती । अन्वगात्कुमुदानन्द शशाङ्कमिव कौमुदी ॥ ६ ॥
तयोर्दिवस्पतेरासीदेक सिहासनार्धभाक् । द्वितीयाऽपि सखी शच्या पारिजाताशभागिनी ॥ ७ ॥
तदात्मसम्भव राज्ये मन्त्रिवृद्धा समादधु । स्मरन्त पश्चिमामाज्ञा भर्तु सङ्ग्रामयायिन ॥ ८ ॥
ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभि । विमान नवमुद्वेदि चतु स्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥
तत्रैन हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभि । उपतस्थु प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥
नदद्भि स्निग्धगम्भीर तूर्यैराहतपुष्करै । अन्वमीयत कल्याण तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥
दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् । ज्ञातिवृद्धै प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥
पुरोहितपुरोगास्त जिष्णु जैत्रैरथर्वभि । उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तु द्विजातय ॥ १३ ॥
तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत । सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विष ॥ १४ ॥

रात के चौथे पहर अर्थात ब्राह्म मुहूर्त मे जैसे बुद्धि को नवीनता प्राप्त हो जाती है, वैसे ही कुश को कुमुद्वती की कोख मे अतिथि नाम का पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ जैसे तेजस्वी सूर्य अपने प्रकाश से उत्तर तथा दक्षिण दोनों दिशाएँ पवित्र कर देते हैं, वैसे ही असाधारण तेजस्वी पुत्र अतिथि ने माता और पिता दोनों के कुल पवित्र कर दिये ॥ २ ॥ पिता कुश ने पहले उसे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति—ये चारों राजविद्याएँ सिखायीं। फिर राजाओं की कन्याओं के साथ उसका विवाह सम्पन्न कर दिया ॥ ३ ॥ अतिथि भी कुश के समान ही कुलीन, वीर और जितेन्द्रिय थे। इसलिए कुश अपने पुत्र को अपना ही दूसरा स्वरूप मानते थे ॥ ४ ॥ अपनी कुलपरम्परा के अनुसार कुश भी एक बार युद्ध में इन्द्र की सहायता करने गये थे। वहाँ उन्होंने दुर्जय नाम के राक्षस को मारा और स्वय भी वीरगति को प्राप्त हो गये ॥ ५ ॥ जैसे कुमुदिनी को विकसित करनेवाले चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर चाँदनी भी समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार नागराज कुमुद की बहन कुमुद्वती भी कुश के साथ सती हो गयी ॥ ६ ॥ राजा कुश को तो इन्द्र के सिहासन का आधा भाग मिला और कुमुद्वती ने जाकर शची (इन्द्राणी) के पारिजात का आधा भाग बटा लिया ॥ ७ ॥ उस युद्ध मे जाते समय कुश ने जैसी आज्ञा दी थी, तदनुसार मन्त्रियों ने उनके पुत्र अतिथि को कुश का उत्तराधिकारी राजा बनाया ॥ ८ ॥ उसके अभिषेक के लिए मन्त्रियों ने कारीगरों से ऊँची वेदी के चार खम्भों का नया मडप बनवाया ॥ ९ ॥ तब प्रजा ने भद्रपीठ पर बैठे हुए राजा अतिथि को सोने के घडो मे भरे हुए तीर्थजल मे नहलाया ॥ १० ॥ उस समय मृदङ्ग आदि वाद्यों को बजाने पर जो मधुर और गम्भीर शब्द निकलता था, उससे यह अनुमान हो रहा था कि राजा अतिथि का सदा कल्याण होगा ॥ ११ ॥ दूब, जौ के अकुर तथा वटवृक्ष की छाल दोनों में रखकर कुल के बड़े-बूढ़ों ने जो आरती की, उसे राजा अतिथि ने सादर स्वीकार किया ॥ १२ ॥ तब पुरोहित को आगे करके ब्राह्मण आये और विजयी राजा को अथर्ववेद के उन मन्त्रों को पढ़ते हुए नहलाने लगे, जिनसे विजय प्राप्त होती है ॥ १३ ॥ उस समय उनके सिर पर गिरती हुई अभिषेक के जल

स्तूयमान क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभि । प्रवृद्ध इव पर्जन्य सारङ्गैरभिनन्दित ॥ १५॥
तस्य सन्मन्त्रपूताभि स्नानमद्भि. प्रतीच्छत । ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युति ॥ १६॥
स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु । यावतैषा समाप्येरन्यज्ञा पर्याप्तदक्षिणा ॥ १७॥
ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् । सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूर पश्चात्कृता फलै ॥ १८॥
बन्धच्छेद स बद्धाना वधार्हाणामवध्यताम् । धुर्याणा च धुरो मोक्षमदोह चादिशद्गवाम् ॥ १९॥
क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्था शुकादय । लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २०॥
तत कक्ष्यान्तरन्यस्त गजदन्तासन शुचि । सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय स ॥ २१॥
त धूपाश्यानकेशान्त तोयनिर्णिक्तपाणय । आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदु प्रसाधका ॥ २२॥
तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्ध मौलिमन्तर्गतस्रजम् । प्रत्यूपु पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३॥
चन्दनेनाङ्गराग च मृगनाभिसुगन्धिना । समापय्य ततश्चक्रु पत्र विन्यस्तरोचनम् ॥ २४॥
आमुक्ताभरण स्रग्वी हसचिह्नदुकूलवान् । आसीदतिशयप्रेक्ष्य स राज्यश्रीवधूवर ॥ २५॥
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये । विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६॥
स राजककुदव्यग्रपाणिभि पार्श्ववर्तिभि । ययावुदीरितालोक सुधर्मानवमा सभाम् ॥ २७॥
वितानसहित तत्र भेजे पैतृकमासनम् । चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठ महीक्षिताम् ॥ २८॥

की धारा ऐसी सुन्दर लगती थी, जैसे शिवजी के सिर पर गङ्गाजी की धारा गिरती हो ॥ १४॥ भाट और चारण जब अतिथि का यश गान लगे तो ऐसा लगा कि जैसे अनेक चातक मिलकर बादल के गुण गा रहे हैं ॥ १५॥ मन्त्रों से अभिमन्त्रित जल से स्नान करते समय उनके शरीर का तेज वैसे ही बढ गया, जैसे वर्षा के जल से बिजली की दीप्ति बढ जाता है ॥ १६॥ अभिषेक के बाद राजा अतिथि ने स्नातक ब्राह्मणों को इतना धन दिया कि उस धन से वे अच्छी दक्षिणा दे देकर अनेक यज्ञ कर सकते थे ॥ १७॥ उन ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उन्हें जो आशीर्वाद दिया, उसको सफल होने के लिए बहुत दिन प्रतीक्षा करनी पडी। क्योंकि आशीर्वाद के समय तो राजा अतिथि अपने पूर्वजन्म के सत्कर्मों का ही फल भोग रहे थे, आशीर्वाद का फल तो उस फल की समाप्ति पर प्रारम्भ होता ॥ १८॥ उस राज्याभिषेक की प्रसन्नता में अतिथि ने आज्ञा दी कि सब कैदी छोड दिये जायँ, मृत्युदण्ड पाये हुए अपराधी न मारे जायँ, भारवाहा पशुओं के कन्धे से जुए उतार लिये जायँ और गौओं का दुहना बन्द कर दिया जाय ॥ १९॥ पिंजडे के सुग्गे आदि पक्षी भी उनकी आज्ञा से छोड दिये गये, जिससे वे यथेच्छ उडने लगे ॥ २०॥ तदनन्तर वह राजा अतिथि अपना राजसी सिंगार कराने के लिए हाथीदाँत के बने सिंहासन पर बैठे, जो राजमहल के एक ओर रखा था और जिस पर बिछौना बिछा हुआ था ॥ २१॥ तब सिंगारकलाकुशलों ने धुले हाथों से धूप से सुगंधित केशवाले राजा अतिथि को सब अलंकारों से सजाना आरम्भ किया ॥ २२॥ फूलों और मोतियों की मालाओं से ग्रथित राजा के सिर पर उन्होंने वह पद्मरागमणि बाँधी, जिसकी सुन्दर चमक चारों ओर फैल गयी ॥ २३॥ तत्पश्चात् उन्होंने कस्तूरी से सुवासित चन्दन का अगराग लगाकर गोरोचन से राजा के मुख पर चित्रकारी की ॥ २४॥ आभूषण तथा माला पहने और हंस का चित्र छपा हुआ दुपट्टा ओढे हुए अतिथि राजा उस समय ऐसे सुन्दर लगते थे, मानो राजलक्ष्मीरूपिणी वधू के दूल्हे हों ॥ २५॥ सोने के चौखटेवाले दर्पण में जब वे अपनी सजावट देखने लगे, उस समय उनका प्रतिबिम्ब ऐसा लगा कि जैसे सूर्योदयकाल में सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष प्रतिबिम्बित हो रहा हो ॥ २६॥ अब वे अपनी उस सभा की ओर चले, जो देवताओं की सभा सुधर्मा से कुछ भी कम नहीं थी। उनके पीछे-पीछे बहुत से सेवक चँवर डुलाते तथा जय-जयकार करते हुए चल रहे थे ॥ २७॥ वहाँ पहुँचकर चँदोआ लगे हुए अपने पूर्वजों के सिंहासन पर वे जा बैठे। उनके पैर के नीचे जो पीढा

शुशुभे तेन चाक्रान्त मङ्गलायतन महत् । श्रीवत्सलक्षण वक्ष कौस्तुभेनेव केशवम् ॥ २९ ॥
बभौ भूय कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य स । रेखाभावादुपारूढ सामग्र्यमिव चन्द्रमा ॥ ३० ॥
प्रसन्नमुखराग त स्मितपूर्वाभिभाषिणम् । मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविन ॥ ३१ ॥
स पुर पुरुहूतश्री कल्पद्रुमनिभध्वजाम् । क्रममाणश्चकार द्या नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥
तस्यैकस्योच्छ्रित छत्र मूर्ध्नि तेनामलत्विषा । पूर्वराजवियोगौष्म्य कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥
धूमादग्ने शिखा पश्चादुदयादशवो रवे । सोऽतीत्य तेजसा वृत्ति सममेवोत्थितो गुणै ॥ ३४ ॥
त प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयु पौरयोषित । शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
अयोध्यादेवताश्चैन प्रशस्तायतनार्चिता । अनुदध्युरनुध्येय सान्निध्यै प्रतिमागतै ॥ ३६ ॥
यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता । तावदेवास्य वेलान्त प्रताप प्राप दु सह ॥ ३७ ॥
वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्रा सायकास्तस्य धन्विन । कि तत्साध्य यदुभये साधयेयुर्न सङ्गता ॥ ३८ ॥
स धर्मस्थसख शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् । ददर्श सशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रित ॥ ३९ ॥
तत परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितै । युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलै ॥ ४० ॥
प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिता । तस्मिस्तु भूयसीं वृद्धि नभस्ये ता इवाययु ॥ ४१ ॥
यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् । सोऽभूद्भग्नव्रत शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

रखा था, वह प्रणाम करने वाले राजाओं के सिर के मणियों की रगड़ से घिस गया था ॥ २८ ॥ भृगु के चरण की चोट से बने हुए श्रीवत्स-चिह्नवाले विष्णु का वक्ष स्थल जैसे कौस्तुभमणि से चमक उठा था, वैसे ही राजा अतिथि के बैठने से वह सभाभवन भी जगमगाने लगा ॥ २९ ॥ इस प्रकार राजा अतिथि को युवराज बनने का अवसर ही नहीं मिला। क्योंकि वे कुमार अवस्था के बाद तुरन्त महाराज हो गये। जैसे एक ही कलावाले चन्द्रमा में तुरन्त सोलहों कलाएँ आ गयी हों ॥ ३० ॥ उनका मुख सदा प्रसन्न रहता था और वे सबसे हँसकर बोलते थे। अत उनके सेवक उन्हें मूर्तिमान् विश्वास समझते थे ॥ ३१ ॥ इन्द्र जैसे ऐश्वर्यशाली राजा अतिथि जब ऐरावत के सदृश बलवान् हाथी पर चढ़कर अयोध्या में घूमने निकले, तब कल्पवृक्ष के समान ध्वजाओं से अलकृत अयोध्या नगरी स्वर्ग-सदृश दीखने लगी ॥ ३२ ॥ राजछत्र यद्यपि केवल राजा अतिथि के सिर पर ही लगा हुआ था परन्तु उस श्वेत छत्र ने सारे ससार का वह ताप दूर कर दिया, जो कुश के वियोग से उत्पन्न हो गया था ॥ ३३ ॥ धुआँ निकलने के बाद आग की लपटें उठती हैं और किरणें सूर्योदय के पश्चात् दिखलायी देती हैं, परन्तु अतिथि ने इन तेजस्वियों के नियमों को भी उलट दिया। क्योंकि उनके गुण राजा बनने के साथ-साथ प्रकट हो गये ॥ ३४ ॥ शरद् ऋतु की निर्मल रातों के तारे जैसे ध्रुव के चारों ओर घूमते हैं वैसे ही नगर की स्त्रियों की प्रेमभरी आँखें अतिथि पर जा अटकीं ॥ ३५ ॥ अयोध्या के बड़े-बड़े मन्दिरों में जिन देवताओं की पूजा की गयी, उन्होंने अपनी मूर्तियों में आकर कृपा के योग्य राजा अतिथि पर बहुत बड़ी कृपा की ॥ ३६ ॥ अभी उनके अभिषेक के जल से भीगी वेदी सूखने भी नहीं पायी थी कि उनका दु सह प्रताप समुद्र के तट तक जा पहुँचा ॥ ३७ ॥ गुरु वसिष्ठ के मन्त्र और धनुषधारी राजा अतिथि के बाण इन दोनों ने कोई भी ऐसा कार्य नहीं था, जिसे मिलकर न पूरा किया हो ॥ ३८ ॥ धर्मात्माओं के मित्र राजा अतिथि आलस्य छोड़कर वादी-प्रतिवादियों के पेचीदे झगड़े स्वय निपटाया करते थे ॥ ३९ ॥ जैसे वृक्ष को पुष्पित देखकर यह अनुमान हो जाता है कि इससे इतने फल मिलेंगे। वैसे ही राजा अतिथि का प्रसन्न मुख देखकर ही उनके सेवक जान जाते थे कि हमें इतना धन मिलेगा ॥ ४० ॥ कुश के समय में जो प्रजा सावन की नदी के समान भरी-पूरी थी, वह अतिथि के राज्य में भादों की नदी के समान और भी अधिक बढ़ गयी ॥ ४१ ॥ राजा अतिथि ने मुँह से जो कहा, वह कर दिखलाया और जिसे जो दिया, उससे फिर

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् । तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥४३॥
इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम् । अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद्दृढमूल इव द्रुमः ॥४४॥
अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः । अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट्पूर्वमजयद्रिपून् ॥
प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलापि स्वभावतः । निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥४६॥
कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् । अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥
न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधिते । अदृष्टमभवत्किञ्चिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥४८॥
रात्रिन्दिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् । तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥४९॥
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः । स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥५०॥
परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः । सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥५१॥
दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् । नहि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः ॥५२॥
भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः । गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥५३॥
अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः । वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥५४॥

लिया नहीं। पर हाँ, शत्रुओं को उखाड़कर उन्हें फिर जमाते समय उन्होंने यह नियम नहीं निबाहा॥४२॥ यौवन, सौन्दर्य और ऐश्वर्य—इनमें से यदि एक भी किसी के पास होता है तो वह मतवाला हो जाता है, परन्तु राजा अतिथि के पास ये सभी वस्तुएँ थीं, तथापि उन्हें अभिमान नहीं था॥४३॥ इस प्रकार प्रजा उनसे दिनोदिन अधिक प्रेम करने लगी और नये राजा होने पर भी वे दृढ़ जड़वाले वृक्ष-सदृश अचल हो गये॥४४॥ बाहरी शत्रु एक तो सदा होते नहीं और होने भी हैं तो दूर रहते हैं, यह सोचकर उन्होंने सदा शरीर के भीतर रहनेवाले काम आदि छहों शत्रुओं को पहले जीता॥४५॥ स्वभावतः चचला लक्ष्मी भी प्रसन्नमुख अतिथि के पास आकर वैसे ही अचल भाव से बैठ गयी, जैसे कसौटी पर खिंची हुई सोने की लकीर पक्की हो जाती है॥४६॥ सदा कूटनीति से काम लेना कायरता है और मार-काट करके जीतना हिंसक पशुओं का काम है। इसलिए उन्होंने कूटनीति और मार-काट इन दोनों नीतियों को मिलाकर शत्रुओं को जीता॥४७॥ जैसे खुले आकाश में सूर्य की किरणों के फैल जाने से कुछ भी छिपा नहीं रहता, वैसे ही अतिथि ने चारों ओर गुप्तचरों का ऐसा जाल बिछा दिया था कि प्रजा की कोई बात उनसे छिपी नहीं रहती थी॥४८॥ राजाओं के लिए शास्त्रों ने दिन और रात के जो कर्तव्य निर्धारित किये हैं, उन सबको राजा अतिथि नियमपूर्वक पालते थे॥४९॥ वे प्रतिदिन मन्त्रियों के साथ राज्यसम्बन्धी मन्त्रणा करते थे, परन्तु वे मन्त्रणाएँ इतनी गुप्त होती थीं कि प्रतिदिन व्यवहार में आने पर भी कोई उनको नहीं जान पाता था॥५०॥ अपने कर्मचारियों तथा शत्रुओं का भेद जानने के लिए उन्होंने ऐसी चतुराई से उनके पीछे दूत लगा रखे थे कि वे दूत भी परस्पर एक-दूसरे को नहीं पहचानते थे। उन दूतों द्वारा सब समाचार मिलते रहने से वे सोते हुए भी सदा जागते रहते थे॥५१॥ यद्यपि वे युद्ध में ही शत्रुओं का अवरोध करते थे, तथापि उन्होंने राजधानी के चारों ओर बहुत बड़े-बड़े दुर्ग बनवा रखे थे। क्योंकि हाथियों को मारनेवाला सिंह हाथियों के भय से गुफा में नहीं सोता, बल्कि उसका स्वभाव ही ऐसा होता है॥५२॥ राजा अतिथि जो काम करते थे, वे सब कल्याणकारी होते थे। वे कोई भी काम करने से पहले उस पर भलीभाँति सोच लेते थे। इसीलिए उसमें किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पड़ती थी। जैसे धान का दाना भीतर ही पकता है, वैसे ही उनका काम गुप्तरूप से आरम्भ होकर पूरा होता था॥५३॥ ऐश्वर्यशाली होते हुए भी उन्होंने कभी गलत मार्ग पर पैर नहीं रखा। क्योंकि ज्वार के समय भी समुद्र नदियों के मार्ग से ही बढ़ता है, दूसरे मार्गों से नहीं॥५४॥

काम प्रकृतिवैराग्य सद्य शमयितु क्षम । यस्य कार्य प्रतीकार स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥
शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमत सत । समीरणसहायोऽपि नाम्भ प्रार्थी दवानल ॥ ५६ ॥
न धर्ममर्थकामाभ्या बबाधे न च तेन तौ । नार्थ कामेन काम वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिपु ॥ ५७ ॥
हीनान्यनुपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते । तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यत ॥ ५८ ॥
परात्मनो परिच्छिद्य शक्त्यादीना बलाबलम् । ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥
कोशेनाश्रयणीत्वमिति तस्यार्थसङ्ग्रह । अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥
परकर्मापह सोऽभूदुद्यत स्वेषु कर्मसु । आवृणोदात्मनो रन्ध्र रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ ६१ ॥
पित्रा सवर्धितो नित्य कृतास्त्र साम्परायिक । तस्य दण्डवतो दण्ड स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥
सर्पस्येव शिरोरत्न नास्य शक्तित्रय पर । स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥
वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव । सार्था स्वैर स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥
तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पद । यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडशभाक् ॥ ६५ ॥
खनिभि सुषुवे रत्न क्षेत्रै सस्य वनैर्गजान् । दिदेश वेतन तस्मै रक्षासदृशमेव भू ॥ ६६ ॥
स गुणाना बलाना च षण्णा षण्मुखविक्रम । बभूव विनियोगज्ञ साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ६७ ॥

उनमे इतनी प्रबल शक्ति थी कि यदि किसी कारण प्रजा मे असन्तोष फैले तो उसे तुरन्त दूर कर दे, परन्तु उन्होने प्रजा मे कोई ऐसा असन्तोष उत्पन्न ही नहा होने दिया कि जिसे दूर करने की आवश्यकता पडती ॥ ५५ ॥ वे बडे शक्तिमान् थे। अतएव शक्तिशाली राजाओ पर ही चढाई करते थे, दुर्बलों पर नहीं। क्योकि वायु की सहायता मिलने पर भी वन मे लगी हुई दवाग्नि पानी को नहीं जलाती ॥ ५६ ॥ अर्थ और काम के लिए उन्होंने कभी धर्म को नहीं छोडा और धर्म मे बँधकर अर्थ तथा काम को नहीं त्यागा और न अर्थ के कारण काम को या काम के कारण अर्थ को ही छोडा, अपितु धर्म, अर्थ और काम तीनों के साथ वे एक-सा व्यवहार करते थे ॥ ५७ ॥ यदि नीच और धनी मित्र मिल जाते हैं तो कुछ न कुछ बाधा डालते हैं, इसीलिए उन्होंने ऐसे लोगो को मित्र बनाया, जो न नीच थे और न धनी ॥ ५८ ॥ चढाई करने के पहले वे अपने तथा अपने शत्रु का बल और त्रुटि भलीभाँति जान लेते थे। जब शत्रु मे अपना बल अधिक देखते, तभी उस पर आक्रमण करते थे, नहीं तो चुप बैठ जाते थे ॥ ५९ ॥ उन्होंने धन इसलिए एकत्र किया कि इससे दान लोग आश्रय पाते हैं। क्योंकि चातक जलभरे बादलो का ही स्वागत करते हैं ॥ ६० ॥ इस प्रकार शत्रुओं का उद्योग नष्ट करके वे अपने काम मे लग गये। उन्होंने शत्रुओं के दोष देखकर उन्हे नष्ट कर दिया और अपने भी दोष दूर कर दिये ॥ ६१ ॥ पिता कुश के प्रयत्न से बढी, शास्त्रास्त्रसम्पन्न तथा युद्ध करने मे समर्थ सेना को दण्डधर अतिथि अपने शरीर के समान प्यार करते थे ॥ ६२ ॥ सर्प के सिर से जैसे मणि नहीं निकाली जा सकती, वैसे ही शत्रुगण इनके प्रभाव, उत्साह और मन्त्र—इन तीन शक्तियो को अपनी ओर नहीं खींच सके। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही इन्होंने शत्रुओं की उन तीनों शक्तियो को अपनी ओर खींच लिया ॥ ६३ ॥ राजा अतिथि का इतना प्रताप था कि व्यापारी लोग बेरोक-टोक व्यापार करते थे। उनके लिए नदियाँ बावलियों जैसे घरेलू, वन उद्यान-सदृश सुखकर और पहाड अपने घर जैसे सुगम हो गये थे ॥ ६४ ॥ अतिथि ने विघ्नों से तपस्वियो के तप की रक्षा की, चोरों से प्रजा की सम्पत्ति बचायी और चारों आश्रमो तथा चारों वर्णो से उनकी पूँजी के अनुसार छठा भाग प्राप्त किया ॥ ६५ ॥ जैसे वे पृथ्वी की रक्षा कर रहे थे, वैसे ही पृथ्वी भी उन्हे उचित वेतन दे रही थी। खानों ने रत्न दिये, खेतों ने अन्न दिया और वनों ने हाथी दिये ॥ ६६ ॥ कार्तिकेय जैसे पराक्रमी राजा अतिथि यह भलीभाँति जानते थे कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, सश्रय और द्वैधीभाव—इन छ राजगुणों को कैसे उपयोग मे लाना

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् । आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ ६८ ॥
कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि । भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ ६९ ॥
प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः । रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः । स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥
सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः । उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥
स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् । तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ ७३ ॥
दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः । प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥ ७४ ॥
इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः । गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥ ७५ ॥
पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् । जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥
एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना । वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥ ७७ ॥
पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः । भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ ७८ ॥
दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् । दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरन्दरीमिव ॥ ७९ ॥

चाहिए ॥ ६७ ॥ इस प्रकार साम-दाम आदि चारों उपायो के साथ राजनीति का उपयोग करते हुए महाराज अतिथि ने मन्त्रियो आदि की सहायता से बिना किसी बाधा के उपर्युक्त उपायों का फल अनायास प्राप्त कर लिया ॥ ६८ ॥ वे कपटयुद्ध भी करना जानते थे, परन्तु युद्ध में सदा धर्म की लडाई ही लडते थे। अतएव वीरों की अनुचरी विजयश्री अभिसारिका की भाँति चुपके से उनके पास चली आती थी ॥ ६९ ॥ युद्धक्षेत्र मे अतिथि को देखते ही शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे और वे प्राण लेकर भाग खडे होते थे। इसलिए जैसे मदहीन हाथी मदवाले हाथी से नहीं लड़ पाते, वैसे ही अतिथि से लडने का कोई भी शत्रु साहस ही नहीं कर पाता था ॥ ७० ॥ पूरी तरह बढ चुकने पर चन्द्रमा घटने लगता है और समुद्र की भी यही दशा होती है, परन्तु अतिथि के साथ यह बात नहीं थी। वे चन्द्रमा और समुद्र के समान बढे, किन्तु उनके समान घटे नहीं ॥ ७१ ॥ जैसे बिना पानीवाले मेघ समुद्र के पास जाते है और वह उन्हे इतना जल दे देता है कि वे सम्पूर्ण संसार को जल बाटने लगते हैं, वैसे ही जो बहुत से निर्धन विद्वान् राजा अतिथि के पास जाते थे, उन्हे वे इतना धन दे देते थे कि वे विद्वान स्वयं भी दूसरो को धन-दान देने लग जाते थे ॥ ७२ ॥ उनके सभी काम प्रशंसनीय होते थे, परन्तु जब कोई उनकी प्रशंसा करता था तब वे सकुचा जाते थे। प्रशंसा की इच्छा न करने पर भी उनका यश बराबर बढता गया ॥ ७३ ॥ जैसे उदीयमान सूर्य के दर्शन से पाप दूर हो जाते है, वैसे ही उनके भी दर्शन से पाप भाग जाते थे। वे ज्ञानी थे, सो दूसरों को तत्त्वज्ञान सिखाकर अज्ञान का अँधेरा मिटाते थे। अतएव उन्होंने प्रजा को सब प्रकार से स्वतंत्र कर दिया था ॥ ७४ ॥ चन्द्रमा की किरणे कमल में तथा सूर्य की किरणे कुमुद मे नहीं प्रविष्ट हो पाती, परन्तु अतिथि के गुणो ने शत्रुओ के हृदय में भी घर कर लिया था अर्थात् शत्रु भी उनके गुणो का आदर करते थे ॥ ७५ ॥ अश्वमेध यज्ञ के लिए जब वे दिग्विजय करने को निकले, तब उनका काम यद्यपि शत्रुओं को किसी भी प्रकार हराना ही था, परन्तु उस समय भी उन्होंने धर्म से ही काम लिया, कूटनीति अथवा छल का प्रयोग नहीं किया ॥ ७६ ॥ इस तरह शास्त्रीय मार्ग पर चलने से अतिथि का प्रभाव बढ गया और जैसे इन्द्र देवताओ के देवता है, वैसे ही वे राजाओ के राजा हो गये ॥ ७७ ॥ इन्द्र आदि चारों लोकपालों के समान पराक्रमी होने के कारण लोग उन्हे पाँचवाँ लोकपाल कहते थे। पृथ्वी-जल आदि पाचो तत्त्वों के समान महान् होने के कारण लोग उन्हे छठा तत्त्व मानते थे। हिमाचल आदि सात कुलपर्वतो के समान विशाल होने के कारण वे आठवे कुलपर्वत कहलाते थे ॥ ७८ ॥ जैसे देवता इन्द्र की आज्ञा मानते हैं, वैसे ही सब राजे अपने-अपने छत्र उतारकर

ऋत्विज स तथाऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ। यथा साधारणीभूत नामास्य धनदस्य च॥८०॥
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्यादोनाथ शिवजलपथ कर्मणे नौचराणाम्।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धि कुबेरस्तस्मिन्दण्डोपनतचरित भेजिरे लोकपाला ॥८१॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये
अतिथिवर्णन नाम सप्तदश सर्ग ॥१७॥

उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते थे॥७९॥ अश्वमेध महायज्ञ में जिन ब्राह्मणों ने यज्ञ कराया था, उनको अतिथि ने इतनी दक्षिणा दी कि लोग उन्हें भी दूसरा कुबेर मानने लगे॥८०॥ उनके साम्राज्य पर इन्द्र ने वर्षा की, यमराज ने रोगों की रोक-थाम की, वरुण ने नाविकों के लिए जल का मार्ग खोल दिया और कुबेर ने इनका राजकोश भरा। इस प्रकार इन्द्र आदि लोकपाल जैसे उनके प्रताप से ही डरकर उनकी सेवकाई किया करते थे॥८१॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य में अतिथि-वर्णन नामक
सतरहवाँ सर्ग समाप्त॥१७॥

अष्टादश सर्ग

स नैषधस्यार्थपते सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रु ।
अनूनसार निषधान्नगेन्द्रात्पुत्र यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥
तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोक सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥
शब्दादि निर्विश्य सुख चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्द ।
कौमुद्वतेय कुमुदावदातैर्द्यामर्जिता कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥
पौत्र कुशस्यापि कुशेशयाक्ष ससागरा सागरधीरचेता ।
एकातपत्रा भुवमेकवीर पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥
तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वशश्रिय प्राप नलाभिधान ।
यो नड्वलानीव गज परेषा बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्र ॥ ५ ॥
नभश्चरैर्गीतयशा स लेभे नभस्तलश्यामतनु तनूजम्।
ख्यात नभ शब्दमयेन नाम्ना कान्त नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥
तस्मै विसृज्योत्तरकोसलाना धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम्।
मृगैरजर्य जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥
तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीक ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका य पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्री ॥ ८ ॥
स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्र प्रजाक्षेमविधानदक्षम्।
क्ष्मा लम्भयित्वा क्षमयोपपन्न वने तप क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

शत्रुओ को नष्ट करनेवाले राजा अतिथि की रानी निषधराज की पुत्री थी। उस रानी से अतिथि ने निषध पर्वत के समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया और उसका नाम भी निषध ही था ॥ १ ॥ जैसे सामयिक वर्षा से फले हुए अनाज के पके खेतो को देखकर ससार के प्राणी प्रसन्न होते हैं, वैसे ही अत्यन्त प्रतापी युवराज निषध को देखकर राजा अतिथि भी बहुत प्रसन्न हुए ॥ २ ॥ कुमुद्वतीतनय अतिथि ने बहुत दिनों तक सुख भोगा। तदनन्तर निषध को राजपाट सौंपकर अपने पुण्यबल से प्राप्त स्वर्गलोक का सुख भोगने चले गये ॥ ३ ॥ कमल के समान नेत्र, समुद्र के समान गम्भीरचित्त और नगर के प्रधान फाटक की अर्गला के समान बडी-बडी बाँहोंवाले अद्वितीय वीर निषध ने भी सागर तक विस्तृत पृथ्वी का भोग किया ॥ ४ ॥ तदनन्तर उनके अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र नल हुए। उस कमल जैसे सुन्दर मुखवाले राजा ने शत्रुओ के बल को वैसे ही तोड दिया, जैसे हाथी नरकट को तोड डालता है ॥ ५ ॥ राजा नल इतने यशस्वी थे कि देवलोक मे गन्धर्व लोग उनके गुण गाते थे। उनको आकाश सदृश साँवला नभ नाम का पुत्र प्राप्त हुआ, जो लोगों को श्रावण मास जैसा प्यारा लगा ॥ ६ ॥ धर्मात्मा नल ने उत्तरकोसल का राज्य उस पुत्र नभ को सौंप दिया और स्वय बुढापे के कारण जगलो मे मृगों के साथ इसलिए रहने लगे कि जिससे फिर ससार मे जन्म न लेना पडे ॥ ७ ॥ नभ को पुण्डरीक नामक पुत्र प्राप्त हुआ और जैसे हाथियो मे पुण्डरीक नाम का हाथी सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही उस समय के राजाओं में वे ही सर्वश्रेष्ठ थे। पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर कमलधारिणी लक्ष्मी ने उन्हें ही विष्णु मानकर पति बना लिया ॥ ८ ॥ सफल धनुषधारी पुण्डरीक ने प्रजा का कल्याण करने मे समर्थ और शान्त स्वभाववाले अपने पुत्र

अनीकिनीना समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिम सुतोऽभूत्।
व्यश्रूयतानीकपदावसान देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य॥ १०॥
पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान् बभूव॥ ११॥
पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य।
धुर निधायैकनिधिर्गुणाना जगाम यज्वा यजमानलोकम्॥ १२॥
वशी सुतस्तस्य वशवदत्वात् स्वेषामिवासीद्द्विषतामपीष्ट ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्त माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम्॥ १३॥
अहीनगुर्नाम स गा समग्रामहीनबाहुद्रविण शशास।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद् युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीन ॥ १४॥
गुरो स चानन्तरमन्तरज्ञ पुसा पुमानाद्य इवावतीर्ण ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव॥ १५॥
तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रा जेतर्यरीणा तनय तदीयम्।
उच्चै शिरस्त्वाज्जितपारियात्र लक्ष्मी सिषेवे किल पारियात्रम्॥ १६॥
तस्याभवत् सूनुरुदारशील शील शिलापट्टविशालवक्षा ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्य शालीनतामव्रजदीड्यमान ॥ १७॥
तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवान युवराजमेव।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्त हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम्॥ १८॥

क्षेमधन्वा को राज्य सौंप दिया और स्वय शान्त मन से जङ्गल मे तप करने चले गये॥ ९॥ उस क्षेमधन्वा को भी इन्द्र के समान प्रतापी पुत्र प्राप्त हुआ, जो युद्ध मे सेना के आगे चलता था। जिसका देव शब्द से आरम्भ और अनीक शब्द से अन्त होनेवाला 'देवानीक' नाम स्वर्ग मे भी प्रसिद्ध हो गया था॥ १०॥ उस पितृभक्त पुत्र को पाकर जैसे क्षेमधन्वा सुपुत्रवान् हुए थे, वैसे ही पुत्रप्रिय पिता को पाकर देवानीक भी पितृमान् हुए॥ ११॥ बड़े-बडे यज्ञ करनेवाले और गुणी क्षेमधन्वा अपने ही जैसे तेजस्वी पुत्र को चारों वर्णो की रक्षा का भार सौंपकर स्वर्ग चले गये॥ १२॥ उनके जितेन्द्रिय पुत्र देवानीक इतने मधुरभाषी थे कि शत्रु भी उनका वैसे ही आदर करते थे जैसे मित्र करते थे, क्योकि मधुर वाणी मे ऐसा प्रभाव होता है कि एक बार के डरे हुए हिरन भी उनके वशीभूत हो जाते हैं॥ १३॥ देवानीक के पुत्र का नाम अहीनगु था। उसकी बाँहे बड़ी शक्तिशालिनी थीं। उसने कभी नीच लोगो का साथ नहीं किया। इसलिए व्यसनों से दूर रहकर युवावस्था मे ही वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने लगा॥ १४॥ राजा अहीनगु बड़ा चतुर था और सबके मन की बाते जान लेता था। पिता के मर जाने पर राजा होकर वह सफलता के साथ साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग करके शीघ्र ही विष्णु के समान चारों दिशाओ का स्वामी बन गया॥ १५॥ उस शत्रुविजयी राजा के स्वर्गवासी हो जाने पर अयोध्या की राजलक्ष्मी उन्हीं के जैसे प्रतापी पुत्र पारियात्र की सेवा करने लगी, जिसने अपने सिर की ऊँचाई मे पारियात्र पर्वत को भी नीचा दिखा दिया था॥ १६॥ उन्हे शील नाम का बडा शीलवान् पुत्र प्राप्त हुआ, जिसकी छाती पत्थर की पटिया जैसी मोटी थी। यद्यपि उसने अपने बाणों मे शत्रुओं को जीत लिया था, फिर भी स्वय सदा विनम्र बना रहा॥ १७॥ शुद्धचरित्र पारियात्र ने बुद्धिमान् शील को युवराज बनाने के बाद ही सुख भोगना प्रारभ किया। क्योकि राजा रहते समय उनके पास इतने अधिक काम थे कि उन्हे

त रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम्।
विलासिनीनामरतिक्षमापि जरा वृथा मत्सरिणी जहार॥ १९॥
उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नितनाभिरन्ध्र ।
सुतोऽभवत् पङ्कजनाभकल्प कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य॥ २०॥
तत पर वज्रधरप्रभावस्तदात्मज सयति वज्रघोष ।
बभूव वज्राकरभूषणाया पति पृथिव्या किल वज्रनाभ॥ २१॥
तस्मिन्गते द्या सुकृतोपलब्धा तत्सम्भव शङ्खणमर्णवान्ता।
उत्खातशत्रु वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितै खनिभ्य ॥ २२॥
तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्य प्रपेदे पदमश्विरूप ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्व पुराविदो य व्युषिताश्वमाहु ॥ २३॥
आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे।
पातु सहो विश्वसख समग्रा विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा॥ २४॥
अशे हिरण्याक्षरिपो स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञ ।
द्विषामसह्य सुतरा तरूणा हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत्॥ २५॥
पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सु ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहु कृत्वा कृती वल्कलवान् बभूव॥ २६॥
कौसल्य इत्युत्तरकोसलाना पत्यु पतङ्गान्वयभूषणस्य।
तस्यौरस सोमसुत सुतोऽभून्नेत्रोत्सव सोम इव द्वितीय ॥ २७॥
यशोभिराब्रह्मसभ प्रकाश स ब्रह्मभूय गतिमाजगाम।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकार ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम्॥ २८॥

सुख भोगने का अवसर ही नहीं मिलता था॥ १८॥ वे अभी भोगो से तृप्त नहीं हुए थे और सुन्दरी स्त्रियों से भोग कर ही रहे थे कि उन्हे उस वृद्धावस्था ने आ दबोचा, जो स्वय अभोग्य होने पर भी सुन्दरियो से ईर्ष्या किया किरती है॥ १९॥ शंल को उन्नाभ नाम का पुत्र प्राप्त हुआ, जिसकी नाभि गहरी थी ओर जो विष्णु के समान पराक्रमी होने मे ससार के सभी राजाओं का अग्रणी बन गया॥ २०॥ उसके बाद उसका पुत्र वज्रनाभ हीरे की खानो का आभूषण पहनने वाली पृथ्वी का स्वामी बना। वह इन्द्र जैसा प्रभावशाली था और युद्धक्षेत्र मे वज्र के समान गरजता था॥ २१॥ अपने पुण्यबल से उसने स्वर्ग प्राप्त किया और उसके बाद शंखण नामक उसका शत्रुविनाशक पुत्र रत्नोपहारदात्री पृथ्वी का शासक बना॥ २२॥ उसके बाद उसका अश्विनाकुमार जैसा सुन्दर और सूर्य-सदृश तेजस्वी पुत्र राजा बना। जिसने सभी देशों को जीतकर अपनी सेना और घोडों को समुद्र के तट पर टिकाया। इसलिए वृद्धों ने उसका नाम व्युषिताश्व (घोडो को बहुत दूर तक ले जानेवाला) रखा था॥ २३॥ काशी के विश्वेश्वर की आराधना करके उसने विश्वसह नाम का पुत्र पाया, जो बडा लोकप्रिय हुआ और जिसने सारी पृथ्वी पर शासन किया॥ २४॥ उस नीतिज्ञ विश्वसह से हिरण्यनाभ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो साक्षात् विष्णु का अश था। ऐसा पुत्र पाकर विश्वसह शत्रुओं के लिए वैसा ही भयकर हो गया, जैसे वायु की सहायता पाने पर वृक्षो के लिए अग्नि भयकर हो जाती है॥ २५॥ अब वह पिता के ऋण से उऋण हो गया और अनेक सुख भोगने के बाद वृद्धावस्था मे पुत्र को राज्य देकर स्वय वल्कल-वसन पहन लिया और वन को चला गया॥ २६॥ उत्तरकोसल के स्वामी तथा सूर्यकुल के भूषण उस हिरण्यनाभ का कौसल्य नाम का पुत्र प्राप्त हुआ, जो सब की आँखों को उसी प्रकार आनन्द देता था, जैसे दूसरा चन्द्रमा ही हो॥ २७॥ राजा कौसल्य का यश ब्रह्मा की सभा तक पहुँच गया। वृद्धावस्था में उसने

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीड सम्यड्महीं शासति शासनाङ्काम्।
प्रजाश्चिर सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्य ॥ २९॥
पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृति पत्त्ररथेन्द्रकेतो ।
त पुत्रिणा पुष्करपत्रनेत्र पुत्र समारोपयदग्रसङ्ख्याम्॥ ३०॥
वशस्थिति वशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोन ।
उपस्पृशन् स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप॥ ३१॥
तस्य प्रभानिर्जितपुष्पराग पौष्या तिथौ पुष्यमसूत पत्नी।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रा पुष्टि जना पुष्य इव द्वितीये॥ ३२॥
महीं महेच्छ परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात् सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरु ॥ ३३॥
तत पर तत्प्रभव प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम्।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुव सन्नमतामरीणाम्॥ ३४॥
सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने स ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपद नृसिंह ॥ ३५॥
स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्ग कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीना प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथ विधिवच्चकार॥ ३६॥
नवेन्दुना तन्नभसोपमेय शावैकसिंहेन च काननेन।
रघो कुल कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत्॥ ३७॥

ब्रह्मिष्ठ नाम के अपने ब्रह्मज्ञानी पुत्र को राज्य दे दिया और स्वय ब्रह्मप्राप्ति के निमित्त वन में तप करने चला गया॥ २८॥ अच्छी सन्तानवाला राजा ब्रह्मिष्ठ भी अपने कुल का शिरोमणि था। उसने बड़ी योग्यता से प्रजा पर शासन किया। उसके सुन्दर शासन को देखकर प्रजा के नेत्रों मे आनन्द के आँसू आ जाते थे। उसके सुशासन मे प्रजा बहुत दिनों तक सुख भोगती रही॥ २९॥ उसके सुपुत्र ने भी उन्हे पुत्रवानों का शिरोमणि बना दिया। पिता की सेवा-शुश्रूषा करने के कारण वे बडे योग्य हो गये थे। वे गरुडध्वज विष्णु के समान सुन्दर थे और उन कमललोचन का नाम भी पुत्र था॥ ३०॥ सभी विषय-वासनाओं से दूर रहकर इन्द्र के भावी मित्र उस ब्रह्मिष्ठ ने अपनी कुलप्रतिष्ठा अपने पुत्र को सौंप दी और स्वय त्रिपुष्कर क्षेत्र मे स्नान करता हुआ स्वर्ग चला गया॥ ३१॥ उस पुत्र की पत्नी से पूस की पूर्णिमा के दिन पद्मरागमणि से भी सुन्दर पुष्य नाम का पुत्र पैदा हुआ। उसके जन्म से प्रजा उसी प्रकार धन-धान्य से सम्पन्न हो गयी, मानो दूसरा पुष्य नक्षत्र ही उदित हो गया हो॥ ३२॥ पुत्र बडे उदार हृदय का राजा था। वह ससार मे फिर जन्म नहीं लेना चाहता था। इसलिए उसने पृथ्वी का भार अपने पुत्र पुष्य को सौंप दिया और स्वय जैमिनि ऋषि का शिष्य बन गया। बाद मे योगविद्या सीखकर वह ससार के आवागमन से मुक्त हो गया॥ ३३॥ पुष्य के बाद ध्रुव के समान निश्चल पुत्र ध्रुवसन्धि राजा बना। जिससे डरकर शत्रुओं ने सन्धि कर ली। उसका लिखा हुआ सन्धिपत्र पक्का होता था, क्योंकि वह अपनी बात का धनी था॥ ३४॥ उसके नेत्र मृगा के नेत्रों जैसे बडे-बडे थे और वह पुरुषों में सिंह-सदृश था। एक दिन वह जगल में आखेट करता हुआ सिंह द्वारा मारा गया। तब तक द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुन्दर सुदर्शन नाम का उसका पुत्र निरा बालक ही था॥ ३५॥ उस दिवगत राजा के मन्त्रियों ने राजा के अभाव में प्रजा की दीन दशा देखकर सर्वसम्मति से उसके इकलौते पुत्र सुदर्शन को विधिवत् अयोध्या का राजा बना दिया॥ ३६॥ उस बालक से राजा रघु का कुल वैसे ही

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः सम्भावितो मौलिपरिग्रहात्सः।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥ ३८॥
तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात् प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण॥ ३९॥
कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण॥ ४०॥
तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम्।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ॥ ४१॥
मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन् युयुजेऽर्भकेऽपि॥ ४२॥
पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम्॥ ४३॥
निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार॥ ४४॥
शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद्धुरं धरित्र्या बिभराम्बभूव॥ ४५॥
न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात् फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ ४६॥

सुशोभित हुआ जैसे द्वितीया के चन्द्रमा से आकाश, सिंह के बच्चे से वन और कमल की कली से तालाब शोभित होता है॥ ३७॥ बालक सुदर्शन ने जब सिर पर मुकुट धारण किया तभी प्रजा ने समझ लिया कि यह अपने पिता के समान ही तेजस्वी होगा। क्योंकि हाथी के बच्चे जैसा छोटा दिखलायी देनेवाला बादल भी पुरवाई के पवन का सहारा पाकर चारों दिशाओं में फैल जाता है॥ ३८॥ जब छः वर्ष का छोटा-सा वह राजा हाथी पर चढ़कर राज-मार्ग से निकलता था, तब हाथीवान् उसके राजसी वस्त्रों का कोना थामे रहता था कि कहीं वह गिर न जाय। तब भी उसे देखकर जनता उसके पिता के समान ही उसका आदर करती थी॥ ३९॥ जब वह अपने पिता के सिंहासन पर बैठता था, तब राजा से छोटा होने के कारण राज-सिंहासन भरता नहीं था। परन्तु उसके शरीर से जो सुवर्ण जैसा तेज निकलता था, उससे वह सिंहासन भरा-सा ही दीखता था॥ ४०॥ उस स्वर्णसिंहासन से उसके पैर लटकते रहते थे। क्योंकि छोटा होने के कारण वे पादपीठ तक पहुँच नहीं पाते थे। फिर भी सामन्त राजाओं ने अपने प्रसिद्ध मुकुटों से उन महावर लगे पैरों की वन्दना की॥ ४१॥ छोटा होने पर भी जैसे मणि का महानील नाम निरर्थक नहीं होता, वैसे ही बालक राजा सुदर्शन का महाराज नाम भी उसे फबता था॥ ४२॥ उसके आस-पास चँवर डुलाये जाते थे और उसके गालों पर लटें लटकती रहती थीं। इस अवस्था में भी उसने जो आज्ञाएँ दीं, उन्हें समुद्रतटवर्ती लोगों ने भी नहीं टाला, फिर पास रहनेवालों की तो बात ही क्या थी॥ ४३॥ स्वर्णपट्ट बँधे हुए अपने ललाट पर वह स्वयं तिलक लगाता और सदा हँसमुख बना रहता था। परन्तु संग्राम में शत्रुओं को नष्ट करके उसने शत्रुओं की स्त्रियों के मुख का तिलक और उनकी मुस्कुराहट दोनों ही छीन लीं॥ ४४॥ वह सिरस के फूल से भी अधिक सुकुमार था। अतएव गहने पहनने में भी उसे कष्ट होता था। तथापि उसमें आत्मबल इतना अधिक था कि उसने पृथ्वी के अत्यन्त भारी भार को भी सँभाल लिया॥ ४५॥ अभी वह पटिया पर भलीभाँति अक्षर भी लिखना नहीं सीख

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा।
सञ्जातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मी ॥४७॥
अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीद् रक्षावती तस्य भुजेन भूमि ॥४८॥
न केवल गच्छति तस्य काले ययु शरीरावयवा विवृद्धिम्।
वश्या गुणा खल्वपि लोककान्ता प्रारम्भसूक्ष्मा प्रथिमानमापु ॥४९॥
स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपारा स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूल जग्राह विद्या प्रकृतीश्च पित्र्या ॥५०॥
व्यूह्य स्थित किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानु ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमान ॥५१॥
अथ मधु वनिताना नेत्रनिर्वेशनीय मनसिजतरुपुष्प रागबन्धप्रवालम्।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजात विलसितपदमाद्य यौवन स प्रपेदे॥५२॥
प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्य समधिकतररूपा शुद्धसन्तानकामै ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यून प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्या ॥५३॥

इति महाकविकालिदासकृतौ रघुवशे महाकाव्ये
वशानुक्रमो नामाष्टादश सर्ग ॥१८॥

सका था, फिर भी बडों के समर्ग मे उसने दण्डनीति और राजनीति की मारी बातें जान लीं॥४६॥ उम बालक राजा के हृदय को छोटा ममझकर लक्ष्मी उसके युवा होने की प्रतीक्षा कर रही थी, परन्तु बीच-बीच मे छत्र की छाया बनकर वह उसका आलिङ्गन कर लेती थी। जैसे छोटा पति होने के कारण वह उससे खुलकर गले लगाने मे लजाती हो॥४७॥ यद्यपि उसकी भुजा जुए जैसी मोटी और लम्बी नहीं थी, धनुष की डोरी खींचने से कडी भी नहीं हो पाती थी और तलवार की मूठ भी नहीं छू सकी थी, तथापि उसने पृथ्वी की रक्षा भलीभाँति कर ली॥४८॥ कुछ दिनों बाद केवल उसके शरीर के अग ही नहीं बढे, बल्कि उसके वशपरम्परावाले गुण भी बढे, जो पहले छोटे ही थे और प्रजा को बहुत अच्छे लगते थे॥४९॥ सुदर्शन ने अर्थ और काम फल देनेवाली त्रयी (तीनो वेद), वार्ता (कृषि) और दण्डनीति—इन तीनों विद्याओं को इतनी शीघ्रता से सीख लिया, जैसे जन्मते ही वह उन्हे पढ चुका हो। अपने पिता की प्रजा को भी उसने अपने वश में कर लिया था॥५०॥ धनुर्विद्या सीखते समय जब वह अपने शरीर का ऊपरी भाग कुछ आगे बढा देता था, बाल ऊपर बाँध लेता था, बायीं जाँघ कुछ झुका लेता था और बाण चढाकर धनुष की डोरी कान तक खींचता था, उस समय वह बडा सुन्दर लगता था॥५१॥ कुछ दिनो बाद सुदर्शन के शरीर मे यौवन आ गया। जो स्त्रियों की आँखों की मदिरा, शरीर की स्वाभाविक शोभा और विलास का पहला अड्डा होता है॥५२॥ भिन्न-भिन्न राजधानियो में जाकर दूतियाँ सुन्दर-सुन्दर राजकुमारियो का चित्र ले आयीं और उस राजा के सन्तान होने की इच्छा से मन्त्रियों ने चित्र से बढकर सुन्दरी उन राजकुमारियों का महाराज सुदर्शन से विवाह करा दिया। इस प्रकार विवाह हो जाने पर वे सब राजकुमारियाँ राजा की पहली रानियो की, पृथ्वी की और राजलक्ष्मी की सौत-सदृश दीखने लगीं॥५३॥

इस प्रकार रघुवशमहाकाव्य में वशानुक्रम नामक
अठारहवाँ सर्ग समाप्त॥१८॥

एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघव स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिम पश्चिमे वयसि नैमिष वशी॥ १॥
तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभि कुशै ।
सौधवासमुटजेन विस्मृत सञ्चिकाय फलनि स्पृहस्तप ॥ २॥
लब्धपालनविधौ न तत्सुत खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता॥ ३॥
सोऽधिकारमभिक कुलोचित काश्चन स्वयमवर्तयत् समा ।
सन्निवेश्य सचिवेष्वत पर स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत्॥ ४॥
कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तर पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सव ॥ ५॥
इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षम सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम्।
अन्तरेव विहरन् दिवानिश न व्यपेक्षत समुत्सुका प्रजा ॥ ६॥
गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणा दर्शन प्रकृतिकाङ्क्षित ददौ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम्॥ ७॥
त कृतप्रणतयोऽनुजीविन कोमलात्मनखरागरूषितम्।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम्॥ ८॥
यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिका ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभि स व्यगाहत विगाढमन्मथ ॥ ९॥

विद्वानों मे सयमी राजा सुदर्शन ने वृद्धावस्था में अपने अग्नि जैसे तेजस्वी पुत्र अग्निवर्ण को राजा बना दिया और स्वय नैमिषारण्य मे जाकर रहने लगे॥ १॥ वहाँ वे तीर्थजल के आगे घर की बावलियों को, भूमि पर बिछे हुए कुश के आगे राजसी पलग को तथा कुटिया के आगे बडे-बडे भव्य भवनों को भूल गये और फल की इच्छा छोडकर तप करने लगे॥ २॥ पिता से प्राप्त पृथ्वी का पालन करने में अग्निवर्ण को कोई कठिनाई नहीं हुई। क्योंकि उनके पिता ने सब शत्रुओं को पहले ही हरा दिया था। अतएव इन्हे तो केवल भोग करने के लिए ही राज्य मिला था, राज्य के शत्रुओं को मिटाने के लिए नहीं॥ ३॥ जिसके फलस्वरूप राजा अग्निवर्ण कामुक हो गये। कुछ दिनों तक तो उन्होंने स्वय राजकाज देखा, फिर मन्त्रियों पर राज्य का भार डालकर जवानी का रस लेने लगे॥ ४॥ अब वह कामी राजा दिन-रात कामिनियों के साथ उन भवनों मे पडा रहने लगा, जिनमे बराबर मृदग बजते रहते थे और प्रतिदिन एक मे एक बढकर ऐसे उत्सव होते थे कि अगले दिन के उत्सव के धूम-धाम के आगे पहले दिनवाला उत्सव फीका पड जाता था॥ ५॥ उसे ऐसा चसका लग गया कि वह क्षणभर भी भोग-विलास के बिना नहीं रह पाता था। अतएव वह सदा रनिवास के भीतर रहकर ही विहार करने लगा। उसके दर्शनार्थ प्रजा अधीर रहती थी, परन्तु वह कभी उसकी ओर नहीं देखता था॥ ६॥ यदि कभी मत्रियो के कहने-सुनने से वह प्रजा को दर्शन देता भी था तो बस इतना ही कि झरोखे से अपना एक पैर बाहर लटका दिया करता था॥ ७॥ राजकर्मचारी नखों की लालीवाले उसके चरण को ही नमस्कार करके आराधना करते थे, जो प्रभात की लाल किरणों से भरे हुए कमल जैसा था॥ ८॥ वह महाकामी राजा उन बावलियों में सुन्दरी स्त्रियों के साथ विहार करता था, जिनमे विलासगृह भी

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरे ।
अङ्गनास्तमधिक व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखै ॥ १० ॥
घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणी पानभूमिरचना प्रियासख ।
अभ्यपद्यत स वासितासख पुष्पिता कमलिनीरिव द्विप ॥ ११ ॥
सातिरेकमदकारण रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गना ।
ताभिरप्युपहृत मुखासव सोऽपिबद् बकुलतुल्यदोहद ॥ १२ ॥
अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥
स स्वय प्रहतपुष्कर कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मन ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनी पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥
चारु नृत्यविगमे च तन्मुख स्वेदभिन्नतिलक परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिल पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥
तस्य सावरणदृष्टसन्धय काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिन ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषया समागमा ॥ १६ ॥
अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जन भ्रूविभङ्गकुटिल च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धन वञ्चयन् प्रणयिनीरवाप स ॥ १७ ॥

बने हुए थे। स्त्रियों के ऊँचे-ऊँचे स्तन जब बावली के कमलों मे टकराते थे, तब हिलने लगते थे॥ ९ ॥ जल में स्नान करने से जब उन स्त्रियों की आँखों का अञ्जन छूट जाता था और होठों पर लगी लाली धुल जाती थी, तब उनकी स्वाभाविक सुन्दरता देखकर वह कामी और अधिक उत्तेजित हो उठता था ॥ १० ॥ जैसे हाथी विकसित कमलिनियों की गन्ध से भरे सरोवर मे हथिनियों के साथ प्रविष्ट होता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी सुन्दरी स्त्रियों के साथ मद्य के गंध मे बसी हुई मधुशाला में पहुँचता था॥ ११ ॥ वहाँ वे स्त्रियाँ अग्निवर्ण का जूठा और नशीला आसव बड़े प्रेम से पीती थीं। जैसे मौलसिरी का वृक्ष स्त्रियों के मुख का आसव पीने को इच्छुक रहता है, वैसे ही अग्निवर्ण भी उनके मुँह का जूठा आसव पीता था॥ १२॥ उसके समक्ष गोद मे बैठाने योग्य दो ही वस्तुएँ थीं, एक तो मनोहर शब्दवाली वीणा और दूसरी मधुरभाषिणी कामिनी। इन दोनों मे उसकी गोद सदा भरपूर रहती थी॥ १३ ॥ नर्तकियों के नाचते समय जब वह स्वय मृदग बजाने लगता था, तब उसके गले की माला हिलने लगती थी। उस समय वह ऐसा सुन्दर लगता था कि नर्तकियाँ अपना आपा खोकर नाचना भी भूल जाती थी। इसका फल यह होता था कि उन्हें नृत्य सिखानेवाले उनके जो गुरु वहाँ बैठे रहते थे, उनके आगे वे इस बात से लजा जाती थीं॥ १४॥ वह नृत्य जब समाप्त हो जाता था और नाचने के परिश्रम से उनके मुख पर पसीने की बूँदे छहर जाती थीं, तब राजा अग्निवर्ण बड़े प्रेम से फूँक मार-मारकर उनका मुख चूमने लगता था। उस समय वह समझता था कि मैं इन्द्र और कुबेर से भी सुखी और भाग्यशाली हूँ॥ १५ ॥ वह सदा नवीन भोग की सामग्रियाँ चाहता था। जिस वस्तु से उसका जी भर जाता था, उसे छोड देता था। अत स्त्रियाँ सभोग के समय राजा के साथ आधी ही रति करके उठ खडी होती थीं, पूरी नहीं, क्योंकि उन्हें यह डर था कि यदि राजा पूर्णरूप से तृप्त हो जायेगा तो हमे त्याग देगा॥ १६ ॥ कभी-कभी जब वह राजा उन कामिनियों को चकमा दे देता था, तब वे बिगड़कर अपनी लाल-लाल उँगलियाँ चमकाकर उसे धमकाती थीं, भौंहे तरेरती थीं और अपनी करधनी से बाँध दिया करती थीं॥ १७॥ जिस रात को उसे किसी स्त्री से सभोग करने को जाना होता था तो दूती को सब

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥१८॥
लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथंचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥१९॥
प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम्।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम्॥२०॥
प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥२१॥
स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम्।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥२२॥
क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत् परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम्॥२३॥
नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥२४॥
चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत्॥२५॥

बातें बता देता था और पास ही छिपकर बैठ जाता था। वह स्त्री जब आती और विप्रलब्धा नायिका के समान दूती से विरह की बातें करने लगती कि पता नहीं वे कब आयेंगे, अभी तक आये क्यों नहीं इत्यादि, तब वह उन बातों को छिपे-छिपे बड़े प्रेम से सुना करता था॥१८॥ जब कभी उसे रानियाँ रोक लेती थीं, तब नर्तकियों के न मिलने से वह विरहकातर हो जाता था और हाथ में तूलिका लेकर किसी नर्तकी का चित्र बनाने लगता था। उस समय उसे वह नर्तकी याद आ जाती थी और सात्त्विक भावोदय के कारण उसकी उँगलियों में पसीना आ जाता था, जिससे कूँची फिसल पड़ती थी। इस तरह वह बड़ी कठिनाई से चित्र बना पाता था॥१९॥ यदि वह किसी रानी से प्रेम करता था तो वह गर्व से फूली नहीं समाती थी। यह देखकर उसकी सौतें जल उठती थीं और कामातुर हो जाती थीं। तब किसी उत्सव का बहाना करके वे राजा को अपने यहाँ बुलाकर उसके साथ अपने जी की तपन बुझाती थीं॥२०॥ रात में किसी बाहरी स्त्री से सम्भोग करके राजा जब सबेरे घर लौटता था, तब रात के भोगकालीन वेश में उसे देखकर उसकी प्रेमिकाएँ खंडिता नायिका की तरह आँसू बहाने लगती थीं। तब राजा हाथ जोड़कर उन्हें मना लेता था। किन्तु जब रात की थकावट के कारण वह उनसे भरपूर भोग नहीं कर पाता था, तब वे फिर व्याकुल हो उठती थीं॥२१॥ वे स्त्रियाँ जब देखतीं कि राजा स्वप्न में बड़बड़ाते हुए किसी दूसरी स्त्री की बड़ाई कर रहा है, तब वे कामिनियाँ बिना बोले ही बिस्तर के कोने पर आँसू गिराती हुई क्रोध से कंगन तथा पीठ फेरकर सो जाती थीं॥२२॥ दूतियाँ कभी-कभी राजा को मार्ग दिखलाती हुई उस स्थान पर ले जाती थीं, जहाँ लताओं के बीच में सेवकों की स्त्रियों के साथ सम्भोग के लिए फूलों की सेज बिछी रहती थी। उस समय उसे यह डर होता था कि कहीं वे दासियाँ जाकर रानियों से न कह दें। अतएव वह उन दासियों से सम्भोग करके उन्हें प्रसन्न कर देता था॥२३॥ वह कभी-कभी भूल से अपनी स्त्रियों के आगे किसी अन्य प्रेमिका का नाम ले लेता था। उसे सुनकर वे स्त्रियाँ कहने लगतीं कि बड़ा अच्छा हुआ, जो आपने अपनी प्रेमिका का नाम बता दिया। उसका भाग्य धन्य है, परन्तु क्या करें, हमारा भी लोभी मन तो नहीं मानता॥२४॥ वह जब सोकर उठता था, तब उसका पलंग फैले हुए केसर के चूर्ण से सुनहला दीखता था। उस पर फूलों

स स्वय चरणरागमादधे योषिता न च तथा समाहित ।
लोभ्यमाननयन श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभि ॥ २६ ॥
चुम्बने विपरिवर्तिताधर हस्तरोधि रशनाविघट्टने।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥
दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थित ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार स ॥ २८ ॥
कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धन न्यस्तपादतलमग्रपादयो ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थित प्रियास्त निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥ २९ ॥
प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेशमतिशक्रशोभिनम् ।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ ३० ॥
मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वत प्रस्थित तमनवस्थित प्रिया ।
विद्म हे शठ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधु कचग्रहे ॥ ३१ ॥
तस्य निर्दयरतिश्रमालसा कण्ठसूत्रमपदिश्य योषित ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तर पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ ३२ ॥
सङ्गमाय निशि गूढचारिण चारदूतिकथित पुरोगता ।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृत कामुकेति चकृषुस्तमङ्गना ॥ ३३ ॥

की मसली हुई मालाएँ और टूटी हुई करधनियाँ पड़ी रहती थीं और जहाँ-तहाँ महावर की छाप लगी रहती थी, जिसे देखकर यह प्रकट होता था कि वह कितना बड़ा कामुक है॥ २५॥ कभी-कभी वह स्त्रियों के पैरों मे स्वय महावर लगाने बैठ जाता था। परन्तु उसी समय उसकी दृष्टि स्त्रियों के उन नितम्बो पर पड़ जाती थी, जिन पर से कपड़ा खिसका हुआ रहता था। उन्हे देखकर वह ऐसा मुग्ध हो जाता कि जिससे महावर भी नहीं लगा पाता था॥ २६॥ सम्भोगकाल मे जब वह स्त्रियों के होठ चूमने लगता था, तब वे मुँह फेर लेती थीं और जब कमर का नारा खोलने लगता, तब वे हाथ थाम लेती थीं। इस प्रकार वह जो करना चाहता था, स्त्रियाँ कुछ भी नहीं करने देती थीं। फिर भी उसका कामवेग बढता ही जाता था॥ २७॥ वे स्त्रियाँ जब कभी दर्पण के आगे खडी होकर दाँत काटने के दाग आदि सभोग के चिह्नों को देखने लगती थीं, तब वह राजा उनके पीछे आकर चुपके से खड़ा हो जाता था और मुस्कुरा देता था। दर्पण मे जब उसका प्रतिबिम्ब स्त्रियाँ देख लेती थीं, तब वे झेंपकर मुँह नीचा कर लिया करती थीं॥ २८॥ सवेरे जब वह पलँग से उठकर जाने लगता था, तब स्त्रियों की इच्छा होती थी कि बिछुड़ने से पहले राजा एक बार गले मे बाँहे डालकर फिर हमें चूम ले॥ २९॥ इन्द्र के वस्त्रों से भी सुन्दर अपने राजसी वस्त्र दर्पण मे देखकर वह राजा उतना प्रसन्न नहीं होता था, जितना कि सभोग के चिह्नो को देखकर प्रसन्न होता था॥ ३०॥ अपनी रानियों के पास बैठे-बैठे यदि कभी उसके मन में किसी प्रियतमा के पास जाने की इच्छा हो जाती थी तो वह यह कहकर उठने लगता था—'मुझे एक मित्र से मिलने जाना है'। यह सुनकर वे रानियाँ ताड जातीं और कहने लगतीं थीं कि 'हम भी खूब जानती हैं कि तुम किस मित्र के यहाँ जा रहे हो' और बाल पकडकर उसे रोक लेती थीं॥ ३१॥ उसके साथ बहुत देर तक निर्दय सभोग करने के कारण स्त्रियाँ जब श्रम से अलसा जाती थीं, तब वे अपने मोटे-मोटे स्तनों से राजा की छाती का चन्दन पोंछती हुई उसके वक्ष स्थल पर ऐसे सो जाती थीं कि जैसे सभोग का कठसूत्र नामक आसन साध रही हो, जिसमे स्त्रियाँ पति के ऊपर लेटकर अपने स्तनों से धीरे-धीरे प्रियतम की छाती को थपथपाती हुई कसकर लिपट जाती हैं॥ ३२॥ रात को जब वह सभोग की इच्छा से छिपकर बाहर जाने को होता था तो दूतियों द्वारा

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन्।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४॥
वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन्॥ ३५॥
अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः सञ्जघर्ष सह मित्रसन्निधौ॥ ३६॥
अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाऽङ्गरागिणः।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत् कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः॥ ३७॥
विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम्॥ ३८॥
कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम्॥ ३९॥
सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम्।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत्॥ ४०॥
मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः॥ ४१॥
अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः॥ ४२॥

पहले ही समाचार पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे खड़ी हो जाती थीं और यह कहते हुए उसे खींच लाती थीं कि 'कहिए, हमें चकमा देकर रात को कहाँ चले?'॥ ३३॥ उन स्त्रियों के स्पर्श से उसको वैसा ही आनन्द मिलता था, जैसा कि चन्द्रमा की किरणों से। अतएव वह कुमुदों की भाँति रातभर जागता और दिनभर सोता था॥ ३४॥ उसने गानेवाली स्त्रियों के होठों पर अपने दाँत के और उनकी जाँघों पर चिकोटी काटकर नखों के ऐसे घाव कर दिये थे कि जब वे अपने अधरों पर बाँसुरी और जाँघ पर वीणा रखती थीं, तब उन्हें बड़ा कष्ट होता था और वे टेढ़ी भौंहों से राजा की ओर यह जताती हुई देखने लगती थीं कि यह सब आपकी ही करनी है। उनकी यह भावभंगिमा देखकर राजा और भी उत्तेजित हो जाता था॥ ३५॥ एकान्त में जब वह स्त्रियों को आंगिक, सात्त्विक और वाचिक तीनों प्रकार का अभिनय सिखाकर अपने मित्रों के समक्ष उनका प्रदर्शन करता था, उस समय वह बड़े-बड़े नाट्यशास्त्रियों को भी नीचा दिखा देता था॥ ३६॥ वह वर्षा ऋतु में कुटज और अर्जुन की माला पहन तथा शरीर में कदम्ब के पराग का अंगराग लगाकर मतवाले मोरों से भरे क्रीडापर्वतों पर विहार करता था॥ ३७॥ पलंग पर लेटी हुई स्त्रियाँ जब रूठकर तथा पीठ फेरकर सो जाती थीं, तब राजा उन्हें जल्दी मनाना नहीं चाहता था। बल्कि यह चाहता था कि किसी प्रकार बादल गरज उठें, जिससे डरकर ये मेरी भुजाओं में भर जायँ॥ ३८॥ कार्तिक की रातों में वह राजमहल के ऊपर चँदवा तनवा देता था और सुन्दरियों के साथ उस चाँदनी का आनन्द लेता था, जो सम्भोग का श्रम दूर करती है और बादलों के अभाव में बराबर निखरी रहती है॥ ३९॥ अपने राजमहल के झरोखे में वह उस सरयू को देखता था, जिसके तट पर उजले हंसों की पाँतें बैठी रहती थीं। वह दृश्य ऐसा था कि मानो सरयू उन सुन्दरियों का अनुकरण कर रही थी, जिनके नितम्बों पर करधनी पड़ी हुई हो॥ ४०॥ पतली कमरवाली वे स्त्रियाँ जाड़े में ऐसे कपड़े पहनती थीं, जो माड़ी के कारण करकराते रहते थे। जिनके नीचे झलकती हुई सोने की करधनी देख उसे बाँधने और खोलने के लिए लालायित वह राजा मुग्ध हो जाता था॥ ४१॥ सब

दक्षिणेन पवनेन सम्भृत प्रेक्ष्य चूतकुसुम सपल्लवम्।
अन्वनैपुरवधूतविग्रहास्त दुरुत्सहवियोगमङ्गना ॥४३॥
ता स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन् परिजनापविद्धया।
मुक्तरज्जु निबिड भयच्छलात् कण्ठबन्धनमवाप बाहुभि ॥४४॥
त पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणै ।
ग्रीष्मवेषविधिभि सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलै प्रिया ॥४५॥
यत्स लग्नसहकारमासव रक्तपाटलसमागम पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नव ॥४६॥
एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुख स पार्थिव ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहित ॥४७॥
त प्रमत्तमपि न प्रभावत शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवा ।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत्॥४८॥
दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत् सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दु खमिन्द्रियगणो निवार्यते॥४९॥
तस्य पाण्डुवदनाऽल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्॥५०॥

प्रकार की सभोग-क्रीडा करने योग्य हेमन्त ऋतु की बडी-बडी रातों मे वह राजमहल की उन भीतरी कोठियों में विहार करता था, जहाँ उसके साक्षी केवल वे दीपक थे, जो वायु के न आने से एकटक सब कुछ देखा करते थे॥४२॥ मलय पर्वत से आनेवाले दक्षिणी पवन से आमों मे बौर आ गये थे। जिन्हे देखकर प्रेमिकाओं ने कामोन्मत्त होकर राजा से रूठना छोड दिया और उसके विरह मे व्याकुल होकर वे स्वय उसे खोजने लगीं॥४३॥ एक दिन स्त्रियों को गोद मे बैठाकर वह उन झूलों पर झूलने लगा, जिन्हें नौकर झुला रहे थे। सहसा राजा ने एक बार झूले को ऐसा झटका दिया कि उन स्त्रियो ने भय का बहाना करके रस्सी छोड दी और राजा के गले मे बाहें डालकर उससे लिपट गई॥४४॥ ग्रीष्म ऋतु में स्तनों पर चन्दन लगाकर तथा मोतियों का आभूषण पहनकर नितम्ब पर मणिजटित करधनी लटकाये वे स्त्रियाँ उस राजा के साथ सम्भोग करके उसे प्रसन्न करती थीं॥४५॥ वह आम की बौर और पाटल के लाल फूल से अलकृत पात्र मे मदिरा पीता था, जिससे वसन्त बीतने के कारण मद पड़ा हुआ उसका काम-वेग फिर उद्दीप्त हो उठता था॥४६॥ इस प्रकार वह कामी राजा राज-काज आदि अन्य काम छोडकर इन्द्रियसुखों का रस लेता हुआ ऋतुएँ बिताने लगा। काम-क्रीडा के लिए वह भिन्न-भिन्न ऋतुओं मे भिन्न-भिन्न प्रकार का वेश बनाता था। अतएव उसके वेश को ही देखकर ज्ञात हो जाता था कि किस समय कौन-सी ऋतु चल रही है॥४७॥ इतना व्यसनी होने पर भी प्रभाववश दूसरे राजे उसके राज्य पर आक्रमण नहीं करते थे। तथापि जैसे दक्ष के शाप से चन्द्रमा को क्षयरोग हो गया था, वैसे ही अधिक भोग-विलास करने के कारण उसे भी क्षयरोग हो गया और वह राजा को धीरे-धीरे क्षीण करने लगा॥४८॥ वैद्यो के बार-बार रोकने पर भी उसने काम को उत्तेजित करनेवाली वस्तुएँ नहीं छोडी। क्योकि जब इन्द्रियाँ एक बार विषयों के सुस्वादु रस मे फँस जाती हैं, तब उन्हे रोकना कठिन हो जाता है॥४९॥ धीरे-धीरे उसका शरीर पीला पडता गया। दुर्बलता के कारण उसने आभूषण पहनना कम कर दिया। बाद मे वह नौकरों के सहारे चलने लगा। उसकी आवाज धीमी पड गयी और यक्ष्मा रोग से सूखकर वह ठीक विरहियों जैसा दुर्बल दीखने लगा॥५०॥ राजा अग्निवर्ण

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत् क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥५१॥
बाढमेष दिवसेषु पार्थिव कर्म साधयति पुत्रजन्मने।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिण शश्वदूचुरघशङ्किनी प्रजा ॥५२॥
स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम्।
वैद्ययत्नपरिभाविन गद न प्रदीप इव वायुमत्यगात्॥५३॥
त गृहोपवन एव सङ्गता पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिण सम्भृते शिखिनि गूढमादधु ॥५४॥
तै कृतप्रकृतिमुख्यसङ्ग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम्॥५५॥
तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकादुष्णैर्विलोचनजलै प्रथमाभितप्त ।
निर्वापित कनककुम्भमुखोज्झितेन वशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भ ॥५६॥
त भावार्थ प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीना प्रजानामन्तर्गूढ क्षितिरिव नभोबीजमुष्टि दधाना।
मौलै सार्ध स्थविरसचिवैर्हेमसिहासनस्था राज्ञी राज्य विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा॥५७॥

इति महाकविकालिदासकृतौ अग्निवर्णशृङ्गारो
नामैकोनविंश सर्ग ॥१९॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थ

के क्षयरोगग्रस्त होने पर सूर्यकुल ऐसा क्षीण हो गया कि जैसे एक कलाभर बचा हुआ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी का चन्द्रमा, कीचडभर बचा हुआ गर्मी के दिनो का ताल अथवा तनिक-सी बची हुई दीपक की लौ॥५१॥ जब प्रजा मन्त्रियो मे पूछती थी कि राजा को कोई भयानक रोग तो नहीं है? तब वे मन्त्री प्रजा को यह कहकर समझाते थे कि महाराज इस समय पुत्रोत्पत्ति के लिए व्रत आदि कर रहे हैं, इसी कारण दुर्बल होते जा रहे हैं। इस प्रकार वे राजा के रोग की बात जनता मे छिपाते रहे॥५२॥ अनेक रानियों के होते हुए भी वह राजा पुत्र का पवित्र मुँह नहीं देख सका और वैद्य लोग राजा को नीरोग नहीं कर सके। *जैसे वायु के आगे दीपक का वश नहीं चलता, वैसे ही राजा अग्निवर्ण भी उस* रोग से ही काल के गाल मे समा गया॥५३॥ तब और्ध्वदैहिक कर्मकाण्ड के विज्ञ पुरोहित को साथ लेकर मंत्रियों ने राजमहल के उपवन मे ही रोगशान्ति के बहाने धधकती हुई अग्नि में चुपचाप दिवगत राजा अग्निवर्ण का दाहसंस्कार कर दिया॥५४॥ तदनन्तर शीघ्र ही मंत्रियों ने उस राजा की धर्मपत्नी को शुभ गर्भ धारण किये देखकर उसी को राजगद्दी पर बिठा दिया॥५५॥ राजा के मरण की कठोर विपत्ति मे उमड़े हुए गरम आँसुओं द्वारा रानी के गर्भ को जो ताप पहुँचा था, वह अब स्वर्णकलश के मुख से निकले तीर्थजल के अभिषेक से शान्त हो गया॥५६॥ रानी के प्रसवकाल की प्रतीक्षा करनेवाली प्रजा के कल्याणार्थ अपने उदर मे बीजमुष्टि को सँजोये हुए धरती के समान वह रानी गर्भ धारण किये हुए ही राज्य के स्वर्णसिंहासन पर बैठी। तदनन्तर आप्तजनों के परामर्शानुसार वह शास्त्रीय विधि से अपने पति के राज्य का पालन करने लगी। उस समय उसकी आज्ञा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता था॥५७॥

इस प्रकार रघुवंशमहाकाव्य में अग्निवर्ण-शृङ्गार नामक
उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त॥१९॥



'क्लेश फलेन हि पुनर्नवता विधत्ते'

कुमारसम्भवम्